ISSN 2349 - 137X

शब्द लोक

प्रतिध्वनि कला संस्कृति की

अनहद लोक

प्रतिध्वनि कला संस्कृति की

सम्पादक

डॉ. मधु रानी शुक्ला

सम्पादक मण्डल

?डॉ. आशा अस्थाना, डॉ. राजेश मिश्र

व्यंजना

आर्ट एण्ड कल्चर सोसायटी

109 डी/4, अबूबकर पुर, प्रीतमनगर, सुलेमसराय,

इलाहाबाद

अनहद लोक

प्रतिध्वनि कला संस्कृति की

सम्पादक : डॉ. मधु रानी शुक्ला
सम्पादक मण्डल : डॉ. आशा अस्थाना, डॉ. राजेश मिश्रा
सम्पादकीय सहयोग एवं कला संयोजन : शाम्भवी शुक्ला
आवरण पृष्ठ : डॉ. आर.एस. अग्रवाल

मुद्रक :

वितरक : पाठक पब्लिकेशन, महाजनी टोला, इलाहाबाद

प्रकाशक
व्यंजना
आर्ट एण्ड कल्चर सोसायटी
109 डी/4, अबूबकर पुर, प्रीतमनगर, सुलेमसराय,
इलाहाबाद

मूल्य : 250
पोस्टल चार्जेज अलग से

© सर्वाधिकार सुरक्षित
- रचनाकारो के विचार मौलिक हैं
- समस्त न्यायिक विवाद का क्षेत्र इलाहाबाद न्यायालय होगा

मार्ग दर्शन :

पं. देबू चौधरी, प्रो. चित्तरंजन ज्योतिषी, डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी
पं. विश्वमोहन भट्ट, पं. भजन सपोरी, पं. रोनू मजुमदार
प्रो. ऋत्विक् सान्याल, प्रो. दीप्ति ओमचारी भल्ला, पं. विजय शंकर मिश्र
पं. अनुपम राय, श्री एस.पी. सिंह

संयोजन सहयोग :

प्रो. शारदा वेलंकर, डॉ. के. शशि कुमार, डॉ. रामशंकर, डॉ. ममता सान्याल, डॉ. नीलम पॉल, डॉ. शशि शुक्ला, डॉ. निशा झा, डॉ. नमिता यादव, डॉ. वीणा श्रीवास्तव, श्री विनोद लेले, डॉ. विनय मिश्र, किरन मिश्रा

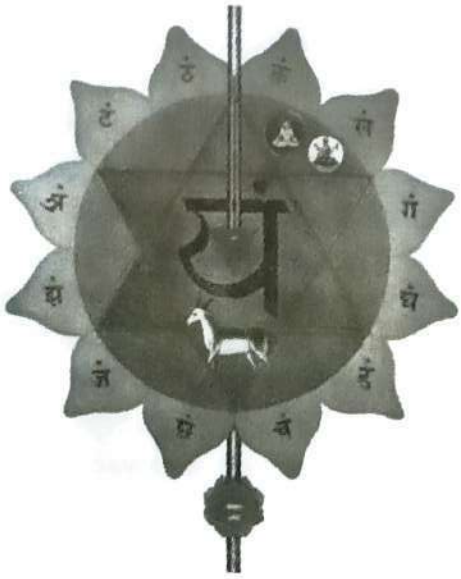

हद अनहद दोऊ तपे, वाको नाम कबीर

ब्रह्माण्डीय चेतना एवं सशक्तता का उद्गम स्थल '**शब्द**' है अचिन्त्य, अगम्य, अगोचर, परब्रह्म जगत चेतना के साथ अपना स्वरूप निर्धारित करते हुए 'शब्द ब्रह्म' के रूप में प्रकट हुए वही 'नाद ब्रह्म' सम्बोधित हुआ। शब्द आदि से अनन्तता तक अनवरत गुंजायमान रहता है शब्द ब्रह्म प्रकृति और पुरुष का मध्यवर्ती सूत्र है जो दोनों घनिष्टताओं का साधक है प्रकृति क्षेत्र की शक्तियाँ और ब्रह्म क्षेत्र की चेतनाएँ करतलगत हों तो ऋद्धियों-सिद्धियों का, सम्पदाओं और विभूतियों का उभयपतीय वैभव उपलब्ध हो सकता है। अग्नि पुराण के अनुसार एक **शब्द ब्रह्म** है दूसरा **परब्रह्म**। शास्त्र तथा प्रवचन से '**शब्द ब्रह्म**' तथा विवेक, मनन चिन्तन से **परब्रह्म** की प्राप्ति होती है जिसे बिन्दू कहा गया।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार-**शब्द ब्रह्म** को जानने वाला '**परब्रह्म**' को प्राप्त करता है भारतीय कला और संस्कृति अध्यात्मवादी है जिसमें आनन्दमय स्वरूप की प्रतिष्ठा है इस आनन्दमय रूप से प्रब्रह्म की प्राप्ति होती है संगीत परमानन्द की पराकाष्ठा पर पहुँचाकर 'परमतत्व' की अनुभूति एवं साक्षात्कार कराने की अपूर्व क्षमता रखता है संगीत की उत्पत्ति ही **परमतत्व** अनादि है वेदों के समान अपौरुषेय भी। यह सभी धर्मों में ईश्वर से साक्षात्कार कराने वाला कहा गया। ध्वनि के व्यक्त-अव्यक्त स्वरूप को प्रकट करने के लिए किसी-न-किसी देह, वाद्ययन्त्र या पदार्थ की आवश्यकता होती है। नाद ज्ञानात्मक है, वह आदित्य है जिसके उदय व अस्त होने पर पक्षियों के कलरव व अनेक प्रकार की ध्वनियों से वायुमण्डल गूंज उठता है नाद का वाचक '**परब्रह्म**' प्रणव है जो '**अक्षर**' है वह नाद के अव्यक्त रूप से प्रकृति में नित्य विद्यमान रहता है समस्त प्राणियों का चैतन्य जगत के रूप में विवृत हुआ है उस आनन्दरूप अद्वितीय नाद ब्रह्म की उपासना से 'नादाधीन' जगत सर्वम्' अर्थात् समस्त सृष्टि की उपासना करते हैं।

ईश्वर प्राप्ति का मार्ग नाद के द्विविध ज्यों **आहत-अनाहत** से होकर गुजरता है नाद की व्यापकता सृष्टि के समस्त ज्यों में है अतः समस्त तत्वों का अन्तर्सम्बन्ध है **क्षिति, जल, पावक, गगन** व **समीर** सभी नादात्मक हैं तथा प्रकृति के सुकुमार एवं विकराल स्वरूप को संचालित करते हैं। 'संगीत' भी नादात्मक तत्वों के आश्रय से परब्रह्म प्राप्ति का सुगम साधन है जिसने **चर-अचर** जगत को अपनी सम्मोहक शक्ति से वशीभूत किया है। सांगीतिक दृष्टि से नाद आहत व अनाहत दो रूपों में विभाजित है अनाहत नाद में योगी तल्लीन होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है—

आकाश संभवो नादो यः सोऽनाहत संज्ञितः।
तस्मिन्नाहते नादे विरामं प्राप्त देवता॥
योगिनोऽपि महात्मानस्तदाऽनाहत संज्ञकेः।
मनो निक्षिप्य संयन्ति मुक्तिं प्रयतमानसाः॥

(सं. मकरन्द संगीताध्याय 5/6)

अनाहत नाद की साधना '**असिधाराव्रत**' के समान कठिन है नाद को परमेश्वर के सच्चिदानन्द रूप विभव में **शक्ति→ नाद→ बिन्दु** के क्रम से उत्पन्न माना गया है—

सच्चिदानन्दविभवात् **सकलात् परमेश्वरात्।**
आसीच्छक्तिस्ततो नादो, नादाद् बिन्दु समुद्भवात्

योगशिखोपनिषद (पृष्ठ संख्या 428) में नाद को बिन्दु से भी सूक्ष्म कहा है—

सूक्ष्मत्वात् कारणत्वाच्च **लयनाद गमनादपि**
लक्षणात्परमेशस्य लिङ्गभित्यभिधीयते॥

योगी की कुण्डलिनी जागृतावस्था में उपर की ओर उठती है इसमें उत्पन्न **'स्फोट'** को नाद कहते हैं व्यापक अर्थ में यह अनाहत नाद सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करता है। वह शब्द ब्रह्म जो व्यापक नाद के रूप में समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है जो अनाघात उत्पन्न हो उसे **'अनहद'** भी कहा गया हठ योग के अनुसार मानव शरीर के रीढ़ में अवस्थित षट्चक्रों में से एक चक्र 'अनहद' है जिसका स्थान हृदय प्रदेश है यह **लाल-पीले मिश्रित रंग वाले द्वादश दलों के कमल** जैसा है और उनपर **'क'** से **'ढ'** अक्षर लिखे हैं इसके देवता **रुद्र** हैं। श्रीमद्भागवत् के स्कन्द पुराण में श्री कृष्ण उद्धव से स्पष्टतः कहते हैं कि मैं ही देव वाणी हूँ और वह वेद वाणी हृदयगत् सूक्ष्म ओंकार के द्वारा अभिव्यक्त होती है शब्द ब्रह्म है जो **परा, पश्यन्ति, मध्यमा से होता हुआ वैखरी** (वाणी) के रूप में प्राण, मन और इन्द्रियमय है वेद वाणी अमृतमयी है अतः शब्द शक्ति भी अमृत स्वरूप है शब्द वाणी के संवाहक हैं।

नाद अव्यक्त परमतत्व के व्यक्तिकरण का सूचक आदि शब्द है जो **'परा'** से **'अपरा'** रूप धारण कर अनुभवगम्य हो जाता है वही ॐकार है मानव शरीर में पिंड में अवस्थित शब्द प्रतिनिधि है मन की वृत्ति बहिर्मुखी होने के कारण बाहर से वह सुनी नहीं जा सकती इसका अनुभव जागृत कुंडलिनि शक्ति वाला होता है प्राण वायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके छहो चक्र **मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध** एवं **आज्ञा मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध** एवं **आज्ञा** के नामों से अभिहित है उनके स्थान गुदा के पास मेरू के पास, **नाभि देश, हृदयेश, कंठदेश, भ्रूमध्य माने** हैं ये क्रमशः चार, छः, दस, बारह, सोलह एवं दो दलों वाले कमलपुष्प के रूप में बिदखते हैं इन्हीं में से अनाहत में ब्रह्मग्रंथि, विशुद्ध में विष्णु ग्रंथि तथा आज्ञा में रुद्रग्रंथि के अवस्थान भी स्थिर किये गये हैं। अनहद की व्यापकता प्राचीन ग्रन्थों से लेकर नवीन चिन्तकों ने व्याख्यायित की है ऋग्वेद में उद्धृत है—

ऋतस्य श्लोकों बधिराततर्द कर्णा बुधानः
शुचमान आयोः।

अर्थात् सत्य को जगाने वाली देदीप्यमान वाणी बहरों को भी सुनाई देती है।

गुरूवाणी में कहा है—

अंतरिज्योति निरंतरि वाणी साचे।
साहिब सिऊलिव लाई।

वह वाणी जो अन्ताकरण में निरन्तर ध्वनित हो रही हो और वही वाणी ॐकार के रूप में प्रतिष्ठित है माण्डूक्य उपनिषद में ॐ को तीन अक्षरों से निर्मित कहा गया है अ, उ, म प्रत्येक अक्षर ईश्वर नाम को समेटे भिन्नार्थक है—

अ—व्यापक, सर्वदेशीय, उपास्य

उ—बुद्धिमान, सूक्ष्म, समस्त अच्छाईयों का मूल नियम करने वाला।

म—अनंत, अमर, ज्ञानवान, पोषक

ये तीनों अक्षर-ब्रह्म, विष्णु, महेश के प्रतीक हैं।

ॐकार अनहद नाद है जो सहज स्फुरित है कवि गुरुदेव रविन्द्रनाथ ठाकुर ने स्पष्टतः इसका संगीत से सम्बन्ध जोड़ते हुए कहा है 'संगीत हमारी चित्तवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाकर हमें आत्मस्वरूप का नैसर्गिक बोध कराता है और आत्मस्वरूप का यह बोध ही मनुष्य को परमतत्व से जोड़ता है।''

आदिनाद अनहद भयो, तातो, उपज्यो वेद।
पुनि पायो वा वेद में, सकल सृष्टि को भेद॥

अनहद जिसकी ध्वनि अन्तहीन है जो अनाघात् होने से योगियों द्वारा सुनी जा सकती है जो आध्यात्मिक प्रवृत्ति से ईश्वर का साक्षात्कार कराती है बुल्लेशाह ने कहा है—

जा मैं सबक इशक दा पढ़िया,
मसजिद कोलो जिऊड़ा डरिया।
डेरे जा ठाकुर दे पड़िया।
जित्थे वजदे नाद हजार

इसी को कबीर ने अपनी शैली में कहा है—

नरमऊ कै घरि बजावहि तूर।
अनहद बजहि सदा भरपूर।

गुरुवाणी में कहा गया है—

देव सथाने की आ निसाणी।
तह बाजे सबद अनाहद वाणी॥

अनहद को पंचतत्वों से निर्मित कहा गया है—

पंच सखी मिलि मंगलु गाइया।
अनहद वाणी नादु बजाइया॥

गुरु अर्जुन देव जी ने कहा है अन्तर्दृष्टि जब खुलती है तभी मन को शान्ति मिलती है और जब अनहद की धुनि सुनाई देती है तभी ईश्वर को जान सकते हैं

पंच सबद धुनि अनहद बाजे
हम घरि साजन आये।

कबीर दास ने अपने शब्दों में इसी भाव को अभिव्यक्त किया है—

पंचे सबद अनाहद बाजे,
संगे सारिंग पानी।

अनहद नाद की उपासना विश्वव्यापी है पाश्चात्य विद्वानों तथा साधकों ने इन शब्दों का प्रयोग किया है— **Word Logos, voice From the unknown inner voice, the language of soul tremardias sound the voice from heaven, the voice of Soul.** बाईबिल में लिखा गया है—**in the beginning what is the word the word was with god, the word was god.** इसी अनहद को साधने वाला कबीर कहा गया—

हद तपे सो औलिया, अनहद तपे सो पीर,
हद अनहद दोऊ तपे, वाको नाम कबीर॥

यह **'अनहद लोक'** संकुचित तथा अत्यन्त व्यापक दोनों ही रूपों में दिखायी देता है।

लोक शब्द लोक दर्शने धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर हुआ है जिसका अर्थ है देखना। तथा लट लकार में **'लोकते'** अर्थात् देखने वाला होता है जिसका प्रयोग ऋग्वेद में **दिव्य** और **पार्थिव** दो रूपों में दिखाई देता है दिव्य रूप में वह आध्यात्मिक शक्तियों से सुसमृद्ध, सृजनकर्ता तथा आनन्ददायक माना गया तथा पार्थिव रूप में वह 'जन' के रूप में सृजित हुआ। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में लोक शब्द का प्रयोग जीव तथा स्थान दोनों ही अर्थों में किया गया है—

नाभ्या आसीदंतरिक्षं शीर्णो यौः समर्पततः
पदभ्यां भूमिर्दिर्दिशः श्रोतात्तथा लोका अकल्पयन!॥

(ऋ. वे. 10/90/24)

उपनिषदों में 'लोक' शब्द की चर्चा प्राप्त होती है। 'जैमिनीय-उपनिषद' में लोक को विभिन्न प्रकार से फैला माना गया है जो सभी से पूर्ण रूप से अनुभव गम्य नहीं है—

बहु व्याहितो वा अर्थ बडशो लोकः।
क एतद् अस्य पुनरिहितो अयात्॥

वैयाकरण पाणिन ने अष्टाध्यायी (5/1/44) में 'लोक' 'सर्वलोक' शब्दों का प्रयोग वेद में पृथक रूप से किया है—जिसमें ठञ् प्रत्यय लगाकर 'लौकिक' तथा सार्वलौकिक शब्दों की संरचना मानी गयी है—पौराणिक मान्यता तथा अथर्ववेद में दृश्य-अदृश्य ब्राह्माण्ड सप्त उर्ध्व लोक तथा सप्त **अधः लोकों** में विभक्त माना गया जिसे, **व्यर्थी** तथा **पाताल** की संज्ञा दी गई। इनमें **उर्ध्व लोक** के अन्तर्गत **सत्य लोक, तप लोक, जन लोक, महर लोक, स्वर्ग लोक, भूर्व लोक, भू लोक,** तथा **सप्त अधोः लोक** के अन्तर्गत **अतल लोक, वितल लोक, सुतल लोक, तलातल लोक, महातल लोक, रसातल लोक, पाताल लोक** इसके पश्चात् **नर्क लोक** की संज्ञा है।

लोक का अर्थ स्थान या शब्द नहीं है इसका एक सार्थक मूल्य है ये ऐसी जगह है जहाँ धार्मिक मनोवैज्ञानिक, आत्म संचालक तत्व है इसके अतिरिक्त भी '**लोक**' की अन्य संज्ञाए **आत्म लोक, गान्धर्व लोक, इन्द्र लोक, पिशाच लोक, यज्ञ लोक, 'सोम लोक'** इसके साथ ही '**लोक**' के सन्दर्भ में **सप्त लोक, लोका-लोक, त्रिलोक कर्म लोक** वाले **लोक शब्द** भी प्राप्त होते हैं।

लोक विश्व व्यापी है काल देश की सीमा रहित **सम्भव-असम्भव, दृश्य-अदृश्य** सभी इसमें समाहित हैं सृष्टि के बीजारोपण से प्रलय तक लोक का विस्तार है **स्वर्ग, पाताल यक्ष, किन्नर, भूत-प्रेत, देवी-देवता, चर-अचर** समस्त का **लोक** में समर्पण है। **लोक** ऐसा दर्शन है जो जीवन को दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित करता है। इस लोक में मानस संवाद होता है वो जब अनुभूतियों में परिणित होता है तभी '**रसो वै सः**' की स्थिति आती है **जहाँ सांसारिकता निःसीम हो जाती है निजता सर्वजनीय हो जाती है यही लोक का 'अनहद' अपने पार्थिव रूप में है और अनहद का 'लोक' अपने दिव्य रूप में है।**

यह '**अनहद**' अर्थात् **अन्तर्ध्वनि, अन्तर्दृष्टि** को जागृत कर अन्तर्ज्योति को प्रकाशित करता है जो सदैव गुंजायमान रहता है और लोक उसे व्यापकता प्रदान करता है। इन्हीं '**अनहद लोक**' के **साधकों, चिन्तकों, शोधार्थियों, कलामर्मज्ञों, कलाधर्मियों** की साधना की अनुभूतियों तथा अभिव्यक्तियों का '**शब्द चित्र**' हैं '**अनहद**' जिसमें उनके अनुभवगम्य विचारों के साथ ही शोधपरक तथ्यों का भी समायोजन है जिनको **गान, आतोद्य, नर्तन, सामायिकी, सौन्दर्य, शास्त्र, थाती, संगीत चिकित्सा, अंकन, प्रकीर्णक** तथा **संस्कृति** अध्यायों के अन्तर्गत विभाजित करके प्रकाशित किया गया है जिससे विषय को व्यापकता मिले एवं नवीन **चिन्तन, मनन, सृजन** का मार्ग प्रशस्त हो इसमें लेखों के मौलिक रूप को यथावत रखने का यथा सम्भव प्रयास किया गया है। प्रवेशांक है अतः कुछ त्रुटियाँ अवश्य होंगी समस्त सुधि पाठकों से अपेक्षा है कि अपनी प्रतिक्रियाओं से अवश्य अवगत करायें जिससे आगामी अंकों में त्रुटियों को दूर किया जा सके।

मधु रानी शुक्ला

अनुक्रम

गान

ध्रुवपद गायकी "भारतीयता" और उसकी सुदीर्घ परम्परा	डॉ. मधु भट्ट तैलंग	15
ख्याल गायन में आलाप	डॉ. सृष्टि माथुर	20
ग़ज़ल गायकी और रागदारी	डॉ. नीना श्रीवास्तव	22
ध्रुपद गायकी की प्रासंगिकता एवं उसके विविध रंग	पं. विनोद कुमार द्विवेदी	25
ध्रुपद धमार एवं पद	डॉ. विशाल जैन	28

आतोद्य

The musical instruments of Kerala	Prof. Dipti Omchari Bhall	33
Which Cross-road in culture are we at, Now?	Pt. Dhruba Ghosh	41
अवनद्ध वाद्य तबला का बनारस बाज एवं घराना	पं. कामेश्वर नाथ मिश्र	45
Santoor-origin, evolution & development	Shri Abhay Rustum Sopori	50
The History of Guitar and the process of developement	Dr. Kamla Shankar	55
समकालीन सांगीतिक परिदृश्य में हारमोनियम की बढ़ती भूमिका	डॉ॰ विनय कुमार मिश्रा	58
भारतीय शास्त्रीय संगीत में संतूर : उत्पत्ति एवं विकास	डॉ. बिपुल कुमार राय	63
HISTORICAL BACKGROUND OF KASHMIR WITH SPECIAL RFERENCE TO MUSIC	Miss Veethika Tikkoo	67
BANARAS BAAJ : ORIGIN AND SPECIALITIES	Dr. Abhishek Tushar	81

नर्तन

कत्थक और रास नृत्य	विदूषी उमा शर्मा	89
INFLUENCE OF VAISHNAVITE BHAKTI ON ODISHI DANCE	Vidushi Geeta Mahalik	93

सामायिकी

वर्तमान संगीत शिक्षा की शिक्षण पद्धतियां एवं तकनीकियां	पं. विजयशंकर मिश्र	99
राग संगीत की परम्परा में आधुनिकता	डॉ. नीलम पॉल	104
औद्योगिक प्रबन्धन में संगीत एवं नृत्य की भूमिका	डॉ. इभा सिरोठिया	106
संगीत में सृजनात्मकता	डॉ. संगीता सिंह	109

वर्तमान में अप्रचलित तालों को प्रायोगिक बनाने के सुझाव कु. कुहू मालवीय 112
Multicultural Approaches to Music Education : Teaching
Perspectives and Benefits in context of India Miss Anuradha Raturi 115
भारतीय शास्त्रीय संगीत में इलैक्ट्रानिक वाद्य यंत्रों की उपयोगिता
डॉ. आनन्द कृष्ण ज्योतिषी 118
कलाओं का अंतः धरातल डॉ. जीवन शुक्ल 121
कलाओं द्वारा रसानुभूति प्रो. शारदा वेलंकर 123

सौन्दर्य

जीवन में सौन्दर्य, कला में सौन्दर्य सुश्री वाज़दा ख़ान 127
भारतीय संगीत कला में सौन्दर्यानुभूति कु. रितु सिंह 132

शास्त्र

नाट्य-शास्त्र एवं नाट्यशास्त्रीय संगीत-सिद्धान्तों की प्रासंगिकता
डॉ. राजेन्द्रकृष्ण अग्रवाल 137
आचार्य श्रीनिवासकृत रागतत्वविबोध डॉ. शैलेन्द्र गोस्वामी 140
सोमेश्वरदेव के 'राग' : 'मानसोल्लास' के परिप्रेक्ष्य में
डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या' 144
पुराणों में संगीत विषयक उल्लेख एक अवलोकन डा0 नमिता यादव 147
जैन वाड्.मय (ग्रन्थों) में संगीत डॉ. संजय कुमार सिंह 151
अभिनव भारती का ध्रुवागान निधि श्रीवास्तव 154

थाती

लोक गाथा आल्हा-एक विवेचन डॉ. राम भजन सिंह 159
केरल का लोक संगीत-पुल्लुवन पाट्टु डॉ. के. शशि कुमार 163
बुन्देलखण्ड का सांगीतिक परिचय डॉ. बीना श्रीवास्तव 165
ब्रज की संगीत परम्परा डॉ. इच्छा नायर 169
लोक साहित्य का महत्व और चुनौतियाँ डॉ. रामशंकर 171
लोक संगीत का भारतीय प्रसंग में स्वरूप डॉ. ममता सान्याल 174
बिहार का पारंपरिक लोक गीत-बारहमासा डॉ निशा झा 176
पारम्परिक बिरहा, लोकगीत या लोकगाथा के रूप में डॉ. मन्नू यादव 'कृष्ण' 181
सिन्धी लोक संगीत डॉ. माधुरी चन्दानी 185
लोकजीवन में लोकसंगीत की भूमिका एक अवलोकनात्मक अध्ययन
डॉ. सुनील कुमार 188
आदिवासी लोक संगीत नीता कुमारी 191

संगीत चिकित्सा

The Importance of Music as a Foundation of Mental Peace
Dr. Sandhya Arora 197
Music Therapy Dr. Raj Kumar Tripathi 206

विभिन्न चिकित्सा सम्बन्धी शोध प्रविधि एवं तकनीकी का विकास
डॉ. इला मालवीय 210
संगीत चिकित्सा के संदर्भ में सांगीतिक स्वरों की उपादेयता
डॉ. ज्योति सिन्हा 213
मनुष्यों पर संगीत का प्रभाव एवं सांगितिक प्रभाव का चिकित्सकीय विश्लेषण
डॉ0 निशा श्रीवास्तव 224
पेड़-पौधों में संगीत का सकारात्मक प्रभाव कु. अल्पना 226
संगीत द्वारा विभिन्न मानसिक एवं
शारीरिक रोगों का उपचार श्री रजनीश विश्वकर्मा 228
राग-रागनियों द्वारा रोग निवारण कु. दिव्या मिश्रा 230

अंकन

हिमालय और हिमालय निकोलोई रेरिख़ की कूंची से
डॉ. आर. एस. अग्रवाल 235
काशी की लोक कला डॉ. रंजना मालवीय 242
ग्राम्य लोककला के परिप्रेक्ष्य में चित्रकला की भूमिका कु. किरन मिश्रा 245

प्रकीर्णक

Music and its Spirituality Pt. Ronu Majumdar 251
संगीत की उत्पत्ति के रहस्यात्मक स्वरूप प्रो. वी. बालाजी 252
योग एवं संगीत डॉ. शशि शुक्ला 255
रागों का स्वरूप एवं ध्यान की परिकल्पना डॉ. रेखा रानी 257
संगीत एवं योग में 'नादानुसंधान' डॉ. रैना कुमारी 261
संगीत एवं मनोविज्ञान श्री प्रशान्त कुमार तिवारी एवं डॉ. इमा सिरोठिया 264
भारतीय फिल्म संगीत में ताल-निर्वहन डॉ. इन्दु शर्मा 'सौरभ' 267
हिन्दी चित्रपट गीतों में शास्त्रीय रागों का प्रयोग सुश्री सुप्रिया सोढी 271

संस्कृति

1857 की क्रान्ति का कला एवं संस्कृति पर प्रभाव
डॉ. संगीता गौतम 275
भारतीय संस्कृति और मूल्यपरक संगीत शिक्षा की व्यवस्था
डॉ. आकांक्षी वर्मा 278
भारतीय किसानों की समस्यायें और उपाय श्री रज्जन द्विवेदी 281
भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर-भारतीय संगीत परम्परा राय बहादुर सिंह 285
इंटरनेट का संस्कृति और युवा पर पड़ रहा प्रभाव श्री अभिषेक मिश्र 287
समाज एवं संस्कृति का दर्पण 'संगीत' गरिमा गुप्ता 290

गगन

ध्रुवपद गायकी "भारतीयता" और उसकी सुदीर्घ परम्परा

डॉ. मधु भट्ट तैलंग

ध्रुपद गायिका एवं एसोसिएट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

भारत सदैव से धर्म-प्रवण देश रहा है। किसी न किसी आध्यात्मिक शक्ति रूपी देवी-देवता आदि के प्रति आस्था हमारे भारतीय जनमानस की जीवनी-शक्ति और विविध धर्मों एवं भारतीय संस्कृति की रीढ़ रही है। इसी आस्था को भारत की 'धरोहर' भी कहा जा सकता है, जिसने इतने विराट भारतीय ज्ञान-विज्ञान की स्त्रोतस्विनी से भारतीय जीवन को रसापूरित कर दिया है। यही कारण है कि भारत में ज्ञान के स्त्रोत माने जाने वाले विविध साधुओं, संतों, तपस्वियों, मुनियों, पीर, पैगम्बरों, गुरूओं एवं सम्प्रदायों आदि के प्रति आस्था का सदैव से बोलबाला रहा है। यह आस्था विश्व के देशों में इतने प्रगाढ़ रूप में कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती। गुरूमुखी विद्या के गुरू-शिष्य के मध्य ज्ञान एवं प्रेम का यह सतत् धारा-प्रवाह ही भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता रही। गुरू-शिष्य के मध्य इस चिरन्तन प्रवाहित आत्मिक सम्बन्ध के कारण ही भारतीय संगीत की सतत् प्रगतिमान साधना में कभी अवरोध नहीं रहा, वह पुराने से जुड़ती हुई सदैव अग्रसर होती रही। भारतीय साधकों की इस अकाट्य साधना के सदा आस्थावान् रूप के विरोधी कुछ मनीषी यदि भारतीय संस्कृति को आत्मसात् करने वाली ध्रुवपद जैसी भारतीय शास्त्रीय संगीत की आधारभूत गायकी का सम्बन्ध सामवेद से नहीं मानते तो भारत में होकर उनकी भारतीयता पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है क्योंकि आस्थावान् भारत में जहां व्यक्ति के समस्त जीवन को प्रभु की देन तो माना ही गया है किन्तु यह भी अटल सत्य है कि व्यक्ति के जन्म का कारण वह स्वयं नहीं होता, उसकी पूर्व पीढ़ी होती है, यही विरासत के संरक्षण का कार्य सामवेद के साधकों से प्रारम्भ होकर "सप्त स्वरास्तु गायन्ते सामगैः बुधैः" के अनुसार सात-साधकों की सात स्वरों की साधना को आधार मानते हुए शास्त्र की निरन्तर बनती-बिगड़ती साधना की तपस्या करते हुए ध्रुवपद के साधकों द्वारा भारतीय शास्त्रीय संगीत के रूप में सर्वप्रथम अवतरित हुआ। इसमें मात्र शास्त्र ही नहीं था किन्तु भारतीय संगीत की आत्मा रही जो आध्यात्मिक मंत्रोच्चारण पद्धति को लेकर ध्रुवपद की आलापचारी एवं विविध देवी-देवताओं की स्तुति के पद-गायन में साक्षात् हुई। इस आत्मा को ध्रुवपद ने आज तक जीवन्त रखा है। जीवन के आदि से अन्त को प्रभु की शरण में मानने वाली भारतीय आस्था को प्रदर्शित करने वाले ध्रुवपद के स्थाई-अन्तरों के साहित्य में वर्णित **"प्रथम आदि शिव शक्ति"**, **"महाबली शिव, आदि-अंतशिव"**, **"नाद सकल सृष्टि नाद ओमु रूप"** आदि ओंकार साधना ही भारतीय जीवन और उसके संगीत की आत्मा रही। भारतीयता को इसी पकड़ ने ही उसे प्राचीनकाल से वर्तमान तक के सुदीर्घ काल तक जीवित रखा, इतना लम्बा इतिहास भारतीय संगीत की किसी भी शैली का नहीं रहा।

वेद पर आधारित संस्कृतनिष्ठ आलापों में हरि, ओमु, नारायण, अनन्त, तरण-तारण एवं त्वमु जैसे ईश्वर संबोधक स्तोत्राक्षरों से गूंथे आलापों में वीणा अंग का सम्मिश्रण एवं पखावज की संगति से वेदकालीन यज्ञों और मंत्रोच्चारणों का तत्कालीन वीणा और मृदंग से परिपूर्ण गंभीर वातावरण समक्ष हो जाता है। वेदकालीन "प्रकृति देवो भव" उक्ति की अनुसृत अग्नि आदि को देवी-देवताओं मानने वाली आस्था सबसे प्रारंभिक ग्वालियर घराने के इस ध्रुवपद में उदाहरण के रूप में देखी जा सकती है, जो

मुझे अपने पितामह की परम्परा में अपने गुरू से प्राप्त हुई -

स्थाई-

"तू ही सूर्य, तू ही चन्द्र, तू ही पवन, तू ही अगन,
तू ही आप, तू आकाश, तू ही धरणी यजमान।

अन्तरा-

भव रूद्र उग्र सर्व, पशुपति सम समान।
ईशान भीम सकल, तेरे ही अष्ट नाम।।"

अग्नि पूजा वाले **"हरिः ओम् अग्न आयाहि"** सामवेद के इस श्लोक की तर्ज पर निर्मित उपरोक्त ध्रुवपदों आदि में निहित देवी-देवताओं की स्तुतियों के गायन से वेद एवं ध्रुवपद के मध्य कड़ी को स्वीकारा जा सकता है। वेदकाल में स्वरों के भी देवता माने गये और शरीर में उनका स्थान भी बताया गया है। उल्लेख है कि सप्त स्वरों की प्रधानता वाले रागों के ध्रुवपदों में हम इन मानवानुकूल भावों को साकार महसूस कर सकते हैं।

ध्रुवपदों के प्रत्येक आलाप की समाप्ति में 'ननन, तना, तोम्' का बार-बार उच्चारण वेद के प्रत्येक मंत्रोच्चार के प्रारम्भ और अन्त में की जाने वाली आहुति का अनुसरण करता प्रतीत होता है।

भावनात्मक ही नहीं अपितु तकनीकी दृष्टि से भी ध्रुवपद के चारों अंगों स्थाई, अन्तरा, संचारी एवं आभोग को भी वेद निःसृत मानने की धारणा मानीषियों की रही है। "संगीत-रत्नाकर" के तालाध्याय पृ. 131-132 में वैदिक और लौकिक दो प्रकारों के सामों के अन्तर्गत वैदिक साम के पांच अंग प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन की संज्ञा लौकिक साम में क्रमशः उद्गाह अनुद्गाह, सम्बन्ध, ध्रुवक एवं आभोग हो जाती है। कालान्तर में यह सालगसूड प्रबन्ध की पंच धातुएं उद्गाह मेलापक, ध्रुव, अन्तर और आभोग बनीं। अन्ततोगत्वा उपरोक्त ध्रुवपद के चारों भाग बने, जो बाद में भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं सुगम संगीत शैलियों में दो भागों स्थाई-अन्तरा के रूप में अधिकांशतः सुने जा सकते हैं। इस दृष्टि से सामवेद की सुदीर्घ विरासत वर्तमान संगीत की धरोहर रही है।

ध्रुवपद की आलापचारी और पदगायन की प्राचीनता के इस वैदिक आकलन के बाद ध्रुवपद में लयकारियों के क्लिष्ट प्रयोग और उसमें स्वर और ताल का सधा हुआ सटीक नियंत्रण एवं स्वर-ताल पर पकड़ बनाना दुरूह कार्य होता है। इस प्रकार प्राचीन क्लिष्ट साधना की तपस्विता की परिणति ध्रुवपद गायकी है।

ध्रुवपद की इस प्राचीनता से लेकर इतिहास को क्रमबद्ध देखें तो वैदिक ऋचाओं, मंत्रों, वृत्तों, छंदों, माठा, गीतकों एवं ध्रुवाओं आदि रूपों में ढलती हुई ध्रुवपद गायकी 13वीं शताब्दी की ओर अग्रसर प्रबन्धों तक पहुंचती है। प्रबन्धों के समय गान के **'संगीत रत्नाकर'** में वर्णित अनिबद्ध (तालरहित) एवं निबद्ध गान (ताल-बद्ध) दोनों प्रकारों की पूर्णतः परिणति ध्रुवपद-गान में हुई। **'संगीत रत्नाकर'** में शारंगदेव ने सालगसूढ़ प्रबन्ध को पंच धातुओं उद्गाह, मेलापक, ध्रुव, अन्तर और आभोग के अतिरिक्त छः अंगों स्वर **(सप्त)**, विरूद (देवी-देवता स्तुति), तेनक (नोम्-तोम्), पद (स्वर, ताल, साहित्य समन्वित रचना), **पाट** (पखावज आदि बोलों से समन्वित), **ताल** (खाली-भरी नियंत्रित मात्रा अथवा छन्दोबद्ध धिंतिं आदि बोलों) से समन्वित माना। ध्रुवपद के अन्तर्गत स्थाई, अन्तरा, संचारी और आभोग को नोमतोम् आदि आलापों (तेनक) और देवी-देवताओं की स्तुतिपरक पद गायन में पखावज की संगति के साथ रागान्तर्गत स्वर-ताल के नियंत्रित खेल के अन्तर्गत प्रबंध के उक्त वर्णित विशेषणों को देखा जा सकता है। प्रबन्धों की सर्वप्रथम मानक रचना "गीत-गोविन्द" को माना गया किन्तु जयदेव की इस रचना का अनुसरण करती हुई भक्तिकाल के आन्दोलन के समय गोस्वामी वल्लभाचार्य जी जैसे संतों द्वारा रची गई कृष्ण लीलाओं की रचनाएं मनीषियों के अनुसार "विष्णुपद" कहलाई, जो ध्रुवपद की मूल-परम्परा थी किन्तु वह पद-गायन के ज्यादा समीप थी और क्रमिक विकास में राजा मानसिह ग्वालियर नरेश आदि के दरबार में पहुंची पूर्ण विकसित ध्रुवपद गायकी प्रबन्ध के सभी अंगों के सधे प्रयोग से बनी दरबारी शैली के कारण लोकप्रियता को प्राप्त हुई। कहते हैं कि ध्रुवपद की लोकप्रियता का श्रेय पाने वाले राजा मानसिंह तोमर के राज्य में ही बादशाहों की वीर-पराक्रम एवं श्रृंगारिक आदि चंचल प्रवृतियों को संतुष्ट करने के लिए बैजू ने धमार नामक शैली का निर्माण किया। राजा मानसिंह तोमर के राज्य में लोकप्रियता को प्राप्त हुई इस शैली

1-Front Side K

ने वृंदावन के सिद्ध संत ध्रुवपद वाग्गेयकार स्वामी हरिदास जी और उनके तानसेन जैसे शिष्यों की साधना से अपनी सर्वत्र धाक जमाई। इन गायकों की आवाज़-लगाव-शैली, आलाप-तान-बोलतान लेने का ढंग, लयकारी का प्रयोग, राग-बंदिश गाने का ढंग, राग-बढ़त, मुखड़े का ढंग, रागों की पसंद एवं ताल बरतने का ढंग आदि सभी से निर्मित विशिष्टताएं ही मध्यकाल में वाणियां बनीं और उस समय तानसेन की श्रेष्ठता के कारण उनके पुत्र-पुत्रियों के द्वारा गायन एवं वीणा आदि वाद्यों की परम्परा की शाखाओं के रूप में स्थापित हुई। ग्वालियर के तानसेन की वाणी **'गउहरहार'** अथवा **'गोबरहार'** जो ग्वालियर से बनी, राजपूताने के **'डागुर'** स्थान के निवासी ब्रज चन्द द्वारा **'डागुर वाणी'**, राजपूताने के **'खण्डार'** प्रदेश के सम्मोखन सिंह द्वारा खण्डार वाणी एवं नौहार प्रदेश के श्रीचन्द द्वारा **नौहारवाणी** का जन्म हुआ। सुखद विषय है कि पहले मध्यप्रदेश में प्रचलित ब्रजभाषा की ध्रुवपदों का क्षेत्र ग्वालियर, ब्रज और राजस्थानी की सीमाओं से मिला हुआ था, वहां की ग्वालियरी, वर्तमान नौहा भाद्रा धौलपुर क्षेत्र से नौहारी एवं दिल्ली एवं अलवर के मध्य के डांग प्रदेश से 'डागुरवाणी' के उद्भव के प्रमाण वहां के वर्तमान लोक प्रचलित गीतों का शैली एवं रीति द्वारा आभासित होता है। इस प्रकार हिन्दुस्तानी संगीत की इतनी विराट परम्परा रूप सांगीतिक विरासत का संरक्षण वाणी के निर्माता के अनुयायियों द्वारा ध्रुवपद-परम्परा के रूप में संरक्षित होता हुआ आज तक की शैलियों का संरक्षक भी रहा, उसका उद्गम मूलतः राजस्थान रहा, इसलिए राजस्थान गायन-वादन का प्रमुख गढ़ रहा। ये वाणियां भी भरतकालीन शुद्ध, भिन्न, गौड़, बेसर एवं साधारण 5 ग्राम रागों की गायकों की शैली के क्रमिक विकास के साथ 'संगीत रत्नाकर' में वर्णित **शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, बेसरा एवं साधरणी पंच** गीतियों के रूप में प्रगट हुई। पंचगीतियां कलाकारों की गायन-शैली एवं 'रीति' के इन पांच प्रकारों के आधार पर बनी। यही 'रीति' और शैली 'घराना' के नाम से मध्यकाल में लोकप्रिय हुई, जिसमें गायक की खोजपूर्ण स्वयं निर्मित किसी विशिष्ट शैली का अनुसरण कम से कम तीन पीढ़ियों में किया गया, जिसे सामाजिक मान्यता के अनुसार कम-ज्यादा श्रेष्ठता प्राप्त रही। उदाहरणार्थ विद्वानों द्वारा तानसेन के कहे जाने वाले ध्रुवपद की निम्न पंक्तियों में गुबरहार, खण्डार, डागुर एवं नौहार को क्रमशः राजा, सेनापति, दीवान एवं बकसी कहा गया।

"बानी चारों के व्यवहार सुनि लीजै,
गुनिजन तब पावे यह विद्यासार।
राजा गुबरहार, फौजदार खण्डार,
डागुर दीवान, बकसी नौहार।।"

पंचगीतियों से निर्मित चतुष्टवाणियों की गान-शैली को विद्वानों ने इस प्रकार वर्णित किया यथा - गउहर में शुद्धा गीति की सम्बद्धता के कारण आस एवं मींड़ की प्रधानता के साथ राग एवं उसके स्वरों के शुद्ध बर्ताव पर बल दिया गया। इस वाणी में शान्त, गंभीर एवं भक्ति भावना से पूर्ण रचनाओं की प्रमुखता मानी गई। डागुरवाणी को पहली वाणी से अपेक्षाकृत कम मींड़ एवं कण प्रधान बताया गया। सरलता, लालित्य, स्वरों के रहस्यमय वैचिच्य पूर्ण लगाव से युक्त शुद्धा और भिन्नागीति का सम्मिश्रण माना गया। खण्डार वाणी को खण्ड-खण्ड करके ओज एवं वीरतापूर्ण गमक प्रधान गायकी माना गया, जिसे तीव्र रसोद्दीपक माना गया एवं पूर्व दोनों शैलियों की अपेक्षा इसमें वेग और तरंगे ज्यादा मानी गई। इसे भिन्ना एवं गौड़ी गीति से जोड़ा गया। ''नौहर'' यानि 'सिंह' होता है अर्थात् 'सिंह' के अनुसार इसकी प्रकृति भी तीव्र रसोद्दीपक, चंचल, गमकपूर्ण एवं छूट की प्रधानता लिए मध्य एवं द्रुत लयात्मक मानी गयी, जिसकी 'बेसरा' गीति मानी गई। आज घरानों की शैलियों में परस्पर प्रभाव से इन वाणियों के प्रतिनिधित्व का सुस्पष्ट आभास नहीं होता है, इस विभाजन को हम तत्कालीन गायकों की शैली में ही स्पष्ट देख सकते हैं।

उल्लेखनीय है कि वाणियों की उपरोक्त वर्णित गायन-वादन शैलियों से ही सम्बद्ध होते हुए अपनी किसी नवीन विशेषतापूर्ण शोध की गई आकर्षक एवं संगीत रसिकों द्वारा मान्य शैली की स्थापना के द्वारा प्रतिभाशील गुणियों ने ध्रुवपद एवं इसको अनुसरित करते हुए ख्याल के घराने बनाये। यहां यह कहना ज़रूरी होगा कि वर्तमान में ख्याल शैली के साथ 'घराना' शब्द को जोड़ा गया जबकि वह एक बृहद् विरासत रूप परम्परा के रूप में स्वामी हरिदास द्वारा उसके योग्य शिष्य तानसेन द्वारा परम्परा के रूप में

गायन-वादन सभी शैलियों पर छा गई और उससे देशभर के गायन-वादन के घराने बनें। ध्रुवपद की उद्भूत इन वर्तमान शैलियों में हम भारतीय संगीत की पिछली लगभग 600 वर्षों की सुदीर्घ लम्बी साधना को जीवन्त पाते हैं। सुदीर्घ साधना के प्रति यह प्रतिबद्धता, लगाव एवं निरन्तरता ही हमारे भारतीय होने का पुख्ता प्रमाण है।

विदेशी आकर्षण से लुप्त हो रही भारतीयता -

यद्यपि आज के समय में यह साक्षात्कार अप्रासंगिक लगे किन्तु हम भारतीयों को अपने भारतीय होने के पुनर्विचार की ओर ज़रूर प्रेरित करेगा। स्वतंत्र भारत में हम ज़रूर अपने आचार-विचार की प्रासंगिकता पर विचार करें। स्वाधीनता दिवस पर भारतीयता के प्रति कट्टर एवं समर्पित संगीतज्ञ माने जाने वाले मेरे गुरू पं. लक्ष्मण भट्ट तैलंग का दिनांक 9 अगस्त, 2005 को मैंने साक्षात्कार लिया, तब उन्होंने बेलाग टिप्पणी की कि "आज हम विदेशी भाषा, विदेशी वस्तुओं का उपयोग, विदेशी वस्त्र, विदेशी विवाह, विदेशी खान-पान आदि के पूर्णतः गुलाम हो चुके हैं। स्वतंत्रता का तात्पर्य स्व्च्छन्दता हो गया। शास्त्र, नियम, अनुशासन एवं नैतिकता का ढ़ांचा चरमरा गया है, तब हम इस स्थिति में अपने को क्या विशुद्ध भारतीय एवं अपने संगीत को भारतीय शास्त्रीय संगीत का विशुद्ध मानक रूप मान पायेंगे?

भारत में भारतीय संगीत के तमाम उन उत्कृष्ट साधकों को हम 'पंडित' की उपाधि देते थे जो मेरे विचार से "पं. ओंकारनाथ ठाकुर" के पर्याय होते हों। योग से परिपूरित उनके रहन-सहन एवं गायन में भाषा, कथ्य, धर्म-जाति, पूजा-पाठ, विषयवस्तु, वेशभूषा, बैठक एवं भाव-विचार आदि को किसी भी दृष्टि से आंक लिया जाये तो वे भारतीय संगीत के 'पंडित' और पांडित्य के पर्याय थे, वैसे उदाहरण अंगुली पर गिने जा सकते हैं। 'पंडित' उपाधि पहले सिर्फ 'पांडित्य' की ही परिचायक नहीं थी अपितु मेरे लगभग 75 वर्षों के अनुभव एवं अध्ययन से वह धर्म-जाति, रहन-सहन, आचार-विचार से भी संबद्ध थी, वह भारतीय संस्कारों में ही रची बसी थी। किसी भी अभारतीय संगीत में 'पंडित' की उपाधि नहीं दी जाती किन्तु आज माथे पर टीकी लगाये अनेक संगीतज्ञ अपने को 'पंडित' की श्रेणी में महसूस करते हैं किन्तु वह संपूर्ण पांडित्य लिये हैं क्या? पुराने समय में कहा जाता था जैसा खाओगे वैसा गाओगे। यही कारण है कि अधिकांश संगीतज्ञ मेरी दृष्टि में अब पंडित की उपरोक्त श्रेणी में नहीं रहे। सम्भवतः यही कारण रहा हो कि भारतीय ज्ञान ग्रंथ 'वेद', जिसमें भारतीय संस्कृति के दिग्दर्शन होते थे उसे सिर्फ जातिगत पंडित ही गायन करते थे। सात्विकता और पवित्रता भी भारतीयता की पहिचान है, यही कारण है कि आज के पिछले 50-100 वर्षों के अन्तराल में आवाज़ का शुद्ध आकार नहीं रहा, मिश्रित आवाज़ लगाने की प्रथा चल पड़ी, हा ही हू आदि शास्त्रीय संगीत में समाविष्ट हो गये। भारतीय संगीत में 'ओंकार' का महत्व रहा है। ईश्वर सम्बोधक शब्दों की ध्रुवपद में प्रधानता थी, अन्य अभारतीय आदि प्रभावों से अपने मूल से हटकर तरानेनुमा बोलों में भी ध्रुवपद गुम्फित हो गया। योग एवं भारतीय ध्यान पर आधारित भारतीय साधना पर गति और रफ्तार हावी हो गई। संगतकार एवं गायक अथवा वादक के मध्य प्रतिद्वन्द्विता एवं लडन्त-भिडन्त अथवा प्रतियोगिता से संगीत की आत्मा का लोप हो गया। यह हमारे संगीत को तामसिकता की ओर अग्रसर करने का प्रयास नहीं है क्या? भाषागत उत्कृष्टता, विस्तार एवं गहनता हमारे भारतीय संगीत-रचनाकारों के चिन्तन-मनन एवं उसकी गहनता की परिचायक थी। देववाणी संस्कृत उसका आभूषण होती थी, जिसमें रचनाकार की भी छाप होती थी। आज साहित्य स्थाई-अन्तरे की 4-6 पंक्तियों में सिमट गया, यहां तक ध्रुवपद के आलापों में अटपटे लगने वाले निरर्थक 'टरर' 'टररर' शब्द भी सुने जाने लगे हैं।"

'नाभि निःसृत' आवाज़ अथवा मन्द्र षड़ज-साधना, जिसे भारतीय चक्राधारित साधना का मूल माना जाता था, आज संगीत उस बुनियाद से रहित दीवार की भांति टंगा हुआ दिखाई देता है। 'हायर नोट्स' एवं 'फॉल्स हायर वाइज़' के प्रति कलाकारों का रूझान एवं ज़ोर एवं इलेक्ट्रोनिक माइक्रोफोनिक युग में स्वाभाविकता से हटकर आवाज़ का दुराव-छिपाव क्या भारतीय संगीत की आत्मा मानी जायेगी? यही कारण है कि भारतीय संगीत की साधना के प्रस्तोता घरानों एवं संगीत-शैलियों की अब कोई शुद्धता अथवा निजी पहिचान नहीं रही,

सभी मिश्रण अथवा फ्यूजन की चपेट में हैं।

प्रभु की आराधना का मूल उद्देश्य लिये ध्रुवपद-संगीत का स्थान पहले स्वामी हरिदास का आश्रम अथवा मंदिर होते थे। दरबारी घरानों के समय एवं उसके बाद मंच पर आसीन ध्रुवपद क्रमशः राजाओं और श्रोताओं को रिझाने के उद्देश्य-परिवर्तन के कारण आवाज़-लगाव व नये कला- रूपों के समावेश से अपने मूल से हट गया। 'क्वालिटी' ज़रूर विकसित मानी जा रही है परन्तु क्या वह मूल रूप में बचा, जिससे तानसेन जी द्वारा वर्षा करने की भी किंवदंतियां प्रचलित हैं। भारतीय संगीत का यह जनोपयोगी एवं स्वास्थ्यपरक रूप अब क्या बच पाया''?

तिरोहित होती हुई भारतीय धर्म-निरपेक्षता -

भारत एक धर्म-निरपेक्ष देश रहा है एवं सर्व जाति-धर्म सद्भावी गुण के कारण यहां धर्म एवं जातिगत विभाजन में भी अविभाजन के दिग्दर्शन होते हैं। भारत में पनपे सभी धर्मों में ओंकार की महत्वपूर्ण समान रूप साधना के कारण ही वह हमें आत्मिक स्तर पर अनायास जोड़ देती हैं, यही कारण हैं कि यहां के ज्ञान-विज्ञान की बनावट एवं आदान-प्रदान में किसी भी संकीर्णता की कोई गुंजाइश नहीं रही।

भारतीय संगीत आध्यात्मिक है एवं देवाराधना से अपूरित है। ध्रुवपद से लेकर ठुमरी, सुगम संगीत एवं लोक संगीत सभी में राधा-कृष्ण सहित अन्य देवताओं की आराधना एवं लीलाओं का अविलग समावेश है। शायद इन्हें हटा दिया जाये तो वे प्राणहीनहो जायें? यही कारण रहा कि ध्रुवपद की साधनास्थली का प्रमुख केन्द्र आश्रमों एवं मंदिरों में रहा। दक्षिण में तो संगीत साधक मंच पर ही देवता की मूर्ति स्थापित कर गायन-वादन-नर्तन करते हैं। मंच पर सरस्वती प्रतिमा की पूजा एवं हर संगीत से संबद्ध कृत्यों में भी सरस्वती का प्रथमतः पूजन भारतीय प्रथा रही हैं यही कारण है कि कोई भी धर्म-जाति का कलाकार इन संकीर्णताओं से ऊपर उठकर ध्रुवपद में हिन्दू धर्म के पूज्य देवी-देवताओं अथवा आराध्य की स्तुति करता है। आज भी ध्रुवपद हर धर्म अथवा जाति-समुदाय द्वारा साध्य है, फिर भी आज कुछ साधकों द्वारा खुले रूप में मंचों पर कहा जा रहा है कि ध्रुवपद का मंदिरों से कोई संबंध नहीं है? यहां तक जो ध्रुवपद नंददास-सूरदास आदि अष्टछाप कवियों द्वारा मंदिरों में प्रभु की झांकी खुलते ही प्रभु के दर्शन से ही प्रेरित होकर नित नये रूप में रचा और गाया जाता था, आज वही ध्रुवपद को मंदिर से अलग जोड़ के देखा जा रहा है। आज जब ध्रुवपद हर वर्ग से जुड़ गया है तब फिर वह मंदिरों में ही क्यों गेय है, हर धार्मिक स्थल पर वह क्यों नहीं साध्य है? आदि-आदि लेखिका के कथ्य के पीछे आशय किसी पर कटाक्ष करना नहीं अपितु मात्र इतना है कि इस धर्म-निरपेक्ष देश में हजारों वर्षों से साधे जा रहे ध्रुवपद जैसे भारतीय संगीत को राष्ट्रीय एकता का सर्वोत्कृष्ट माध्यम माना गया है किन्तु प्रोफेशन अथवा रोज़ीरोटी से जुड़ा होने के बावजूद भी हमारे विचार, नज़रिये एवं व्यवहार के दोहरेपन से हमारा भारतीय सर्वधर्म सद्भाव कहीं तिरोहित होने लगा है, वह अलगाव की खाई पैदा कर रहा है।

अत एव ध्रुवपद जैसी भारतीय कला की भारतीयता पर आधृत इस आलेख का मूल्य कथ्य हमें भारतीयता की ओर प्रेरित करने के साथ भारतीय होने की सार्थकता की खोज भी है। आज हम रूढ़ियों से ग्रस्त एवं दोहरी अवधारणाओं एवं मूल्यों को बदल डालें। यहां तक हमारी गलत सोच एवं विचार-दृष्टि ने हमारी अस्मिता तक को ठेस पहुंचा दिया है, जिससे हम सही साधक का सम्मान नहीं कर पा रहे। जगजीत सिंह तो इसका बहुत शर्मनाक उदाहरण देते हैं कि विदेशसे लौटा हुआ कुत्ता भी भारत में पूजा जाता है अर्थात् विदेशीकरण ही भारतीयता की पहिचान बन गई है। दसों बार विदेशों में गाने-बजाने वाला एवं वहां जाकर पुरस्कृत होने वाला कलाकार बाद में भारत में पुरस्कार के योग्य माना जाता है। क्या हम आज भी विदेशी गुलाम नहीं? क्या हम भारत देश के स्वतंत्र भारतीय नागरिक हैं?

ख्याल गायन में आलाप

डॉ. सृष्टि माथुर

एसोसिएट प्रो., भातखण्डे सम विश्वविद्यालय, लखनऊ

कल्पना को सुरों के माध्यम से सजाकर मूर्त रूप प्रदान करना ''ख़्याल'' है। ऐसी धारणा है कि ख़्याल के प्रवर्तक अमीर खुसरो थे। परन्तु ख़्याल के प्रवर्तक न तो अमीर खुसरो और न ही जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की माने जा सकते हैं। वस्तुतः ख़्याल की परिकल्पना तो मध्यकाल से भी पहले से हमारे संगीत में प्रचलित थी। परन्तु तब उस गान शैली को ''ख़्याल'' नाम से नहीं जाना जाता था। ख़्याल का प्रवर्तन सालगसूड़ प्रबन्ध व उसकी गानविद्या रूपकालप्ति का स्वाभाविक विकास है। सालगसूड़ प्रबन्ध रसपूर्ण व लोकप्रिय होने के साथ ही तत्कालीन देशी संगीत के अंग रहे। अतः मध्यकाल में प्रचलित ध्रुपद, ख़्याल, टप्पा, ठुमरी आदि रचनाओं में इन प्रबन्धों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। ध्रुपद को मानसिंह तोमर के दरबार में स्थान प्राप्त हो गया परन्तु ख़्याल अभिजात संगीत में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाया। राजाश्रय न मिलने के कारण ख़्याल को उन्नीसवीं सदी तक लोकप्रियता प्राप्त नहीं हो पाई।

ख़्याल का आविष्कार एक ही व्यक्ति ने नहीं किया। सालगसूड़ प्रबन्ध व रूपकालाप इसकी गायकी के आधार बने। यह मानना न्यायोचित नहीं लगता कि ख़्याल मध्य युग की देन है। हमारी संगीत परम्परा आरम्भ से ही इतनी समृद्ध रही है कि उसी को आधार मान कर आने वाले युग ने नयी शैलियों का आविष्कार और उन्हें राजाश्रय प्रदान कर लोकप्रिय बनाने में सहायोग दिया। ख़्याल गायन में स्वराश्रित व लयाश्रित दोनों ही स्वरूपों को स्थान मिला। ध्रुपद की अपेक्षा बंदिशों के सहज, सरल शब्द व निबद्ध तथा अनिबद्ध नियोजित राग विस्तार, जिसमें गायक को अपनी इच्छा व कल्पना के आधार पर राग विस्तार करने की छूट प्राप्त हो, इत्यादि कारणों से ख़्याल आधुनिक युग में लोकप्रिय गायन शैली है।

राग के विस्तार में आलाप का गायन विशेष महत्व रखता है।'' आलप्तिः इतिः आलाप'' अर्थात् आकार से स्वर स्थानों को विलम्बित गति में गाने को 'आलाप' कहते हैं। आकारयुक्त आलाप गायन से राग की व्याख्या स्पष्ट की जाती है। वस्तुतः राग की बढ़त और आकृति आलाप के द्वारा ही निर्मित होती है। वर्ण व अलंकारों से सम्पन्न गमक तथा स्थायों से सुशोभित व विविध स्वरूप युक्त मनोहर गान विद्या को शास्त्र आलप्ति कहते हैं। राग प्रस्तुत करते समय गायक-वादक अपनी कल्पनानुसार छोटे-छोटे आलाप निर्मित करते हैं जो राग विशेष में स्वर सौन्दर्य को व्यक्त व परिभाषित करते हैं। रागालाप में चार स्वस्थान नियमों कर पालन करते हुए राग की बढ़त की जाती थी। रागालप्ति में राग का स्वरूप प्रकट होता था परन्तु उसके सौन्दर्य के अनेक पहलू व सम्पूर्ण विस्तार रूपकालाप में प्रकट होता है। रूपकालाप को शारंगदेव इस प्रकार परिभाषित करते हैं :

रूपकस्येन रागेण तालेन च विधीयते।
या प्रोक्ता रूपकालप्तिः सा पुनर्दिविद्या भवेत।।
प्रतिगृहणिकैकान्या भंजनीत्यभिधीयते।

—रूपक स्थित राग व ताल से जिसका प्रवर्तन होता है वह रूपकालप्ति दो प्रकार की होती है—

रूपक को प्रबन्ध का पर्याप्त माना है। रूपक संज्ञा का प्रयोग ग्रन्थकार सालगसूड़ के सन्दर्भ में ही कहते हैं।

''रूपकैरेकताल्यन्तैखै सालगसूड़गै:।
नर्तित्वा क्रियते त्यागो यत्रासौ गौण्डलीविद्यि:॥

हमारा राग का विचार जो रूप लेकर अवतीर्ण होता है वही रूपक है। आलाप के द्वारा राग अधिकाधिक रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। प्रतिग्रहणिका तथा भंजनी।

वर्तमान ख़्यात गायन शैली में आलाप की बढ़त का आधार रूपकालाप ही है। आलप्ति का कोई अवयव गाकर किसी खंड को प्रारम्भ करने को प्रतिग्रहणिका कहते हैं। अर्थात् रूपक जिस राग में है उस राग का कोई आलाप गाकर उसके उचित खंड गाना और यही क्रिया बार-बार दोहराना प्रतिग्रहणिका कहलाती है जो रूपकालाप में प्रयुक्त होकर राग की सम्पूर्ण व्याख्या करती थी। ख़्याल गायन में भी आज हम यही क्रिया करते हैं और राग के उचित आलाप करते हुए स्थायी व अन्तरा बार-बार पकड़ते हैं और राग की शास्त्रोक्त व्याख्या करते हैं।

आलाप की प्रस्तुति सताल व अताल दोनों ही प्रकारों से सम्भव है। आज ख़्याल गायन में हम खुले आलाप करते हैं जो आवश्यक नहीं कि तालबद्ध ही हो परन्तु उनमें भी ताल के छुपे हुए अवयवों का अपना स्थान और आनन्द विद्यमान रहता है। अताल आलाप करते हुए सम से पूर्व मुखड़ाबंदी कर सम दिखाने का अपना ही आनन्द है। इस प्रकार के अनिबद्ध अताल स्वरूप आलाप 'रागालाप' का उदाहरण हैं। निबद्ध व सताल आलाप 'रूपकालप्ति' के प्रतिग्रहणिका, स्थाय भंजनी व रूपक भंजनी का उदाहरण हैं।

आज आलाप गायन में हम इन दोनों प्रकारों का प्रयोग करते हैं। आलाप से ही राग की पहचान है। हमारे संगीत में कई ऐसे राग हैं जिनके स्वर एक ही हैं परन्तु उनको आलाप के गायन के माध्यम से हम अलग-अलग भली प्रकार दिखा सकते हैं। रागों के वादी-संवादी को परिभाषित करके हमने राग गाने के नियम बना लिये। प्राचीन ग्रह स्वर के स्थान पर षडज को आधार स्वर मानते हुए एक सप्तक की अवधारणा हमारे आधुनिक शास्त्रीय संगीत में अब मान्य है। षडज को आधार मानने से वादी-संवादी का अत्यधिक महत्व हो गया। भूपाली व देशकार के वादी व संवादी अलग होने से दोनों ही रागों के थाट भी परिवर्तित हो जाते हैं क्योंकि आलापचारी करते समय वादी स्वर से राग का चलन बदलता है जो थाट भी निश्चित करता है। इनमें से कुछ नियम प्रारम्भिक अवस्था में हमें रूपकालाप में देखने को मिलते हैं जिनको परिमार्जित करके आलाप गान किया जाता है। वर्तमान ख़्याल गायन में आलाप गायन का आधार प्राचीन रूपकालाप से है यह प्रमाणित होता है। रागालाप व रूपकालाप इन दोनों की ही कक्षाओं में गायक प्रवेश करता है और वर्ण, अलंकार, गमक, मीड, कण इत्यादि से सुशोभित करते हुए निबद्ध व अनिबद्ध आलाचारी करते हुए ख़्याल गायन को स्फूर्ति और रंजकता प्रदान करता है।

ग़ज़ल गायकी और रागदारी

डॉ. नीना श्रीवास्तव

एसोसिएट प्रो., एम.एन.जी.जी.पी.जी. कालेज, भोपाल

भारतीय संगीत का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है- बंदिश। यह शब्द जितना छोटा है, उतना ही गहरा, उतना ही सूक्ष्म और असंख्य सम्भावनाएँ और कल्पनाएँ अपने अन्दर समेटे हुए है।

हमारे पूर्वज संगीतज्ञों ने जो राग निर्मित किए, वे कितने विराट हो सकते हैं, यह हमें बंदिशों ने सिखाया।

अपने जन्म-समय में कोई भी राग बीज के रूप में सामने आता है, उसके बाद कलाकार अपने मनन, चिन्तन और कल्पना से उसे पल्लवित करता है और वह विराट वृक्ष सा बढ़ता जाता है, परिपक्व होता जाता है। राग के विराट व्यक्तित्व को अगर पकड़ना सम्भव हो पाया है, तो वो है ''बंदिश''।

''साधारण तौर पर स्वर तथा लय की चौखट में बँधी स्वर-रचना को ''बंदिश'' कहा जा सकता है।''[1] महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि संगीत की किस विधा अर्थात् शास्त्रीय, उपशास्त्रीय अथवा सुगम संगीत के लिए बंदिश बनाई जा रही है?

आधुनिक युग में संगीत के मुख्यतः जितने भी प्रकार हैं यथा- शास्त्रीय संगीत, उपशास्त्रीय संगीत एवं सुगम संगीत, इन सभी में बंदिश का स्वरूप अलग-अलग होता है। संगीत के प्रत्येक प्रकार की अपनी विशिष्टताएँ हैं- चाहे वह ख्याल हो, ध्रुपद हो, ठुमरी हो, भजन हो या ग़ज़ल। सभी शैलियों की बंदिशों का प्रस्तुतिकरण तभी सही मायनों में सिद्ध होता है, जब वह उस विशिष्ट प्रकार या शैली को साकार करे।

सुगम संगीत, यूँ तो कहने को सुगम संगीत है, क्योंकि इसमें शास्त्रीय संगीत के कड़े नियमों का पालन करने में ज़ोर नहीं रहता, शीथिलतारहती है, किन्तु जैसा कि इसे ''भाव संगीत'' भी कहते हैं अतः इसमें भावों की अभिव्यक्ति प्रधान होती है, इस कारण सुगम संगीत में बंदिश की रचना सरल नहीं होती। चूँकि इसमें शब्द भी होते हैं अतः शब्दों के भावानुकूल जो स्वर या स्वर संगति अच्छी लगती है, बंदिश रचते समय उस पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यही कारण है कि कोई गीत, ग़ज़ल या भजन एक शुद्ध राग में भी बँधा हो सकता है, दो रागों के मेल में भी स्वर रचना हो सकती है और संकीर्ण या मिश्र रागों का भी प्रयोग भावाभिव्यक्ति और मधुरता को देखते हुए किया जा सकता है। यही अन्तर शास्त्रीय और सुगम संगीत की बंदिश रचना में होता है।

सुगम संगीत में ग़ज़लों का अपना अलग ही अंदाज है। इनको सुनने वालों का एक ख़ास वर्ग होता है और ग़ज़ल गायकों की भी एक विशेष अदा होती है।

ग़ज़ल मूलतः फारसी शब्द है। इसकी पैदाइश फारस के लोक-संगीत से हुई और यहीं से इसका प्रसार अरब तथा मिश्र में हुआ और यह उन्नत अवस्था में भारत आई और उर्दू भाषा में पूरी तरह समाहित हो गई।

विभिन्न विद्वानों ने अपने शोध के आधार पर बताया है कि ग़ज़ल के प्रथम रचयिता अमीर खुसरो ही थे।[2]अमीर खुसरो ने ईरानी संगीत के आधार पर भारतीय रागों में तराना, कौल इत्यादि का अविष्कार किया, क्योंकि संस्कृत एवं ब्रजभाषा का उच्चारण मुसलमानों के लिए मुश्किल हो रहा था और भारत का प्रबन्धगान इन्हीं भाषाओं में गाया जाता था। ''दादरा'' की तरह ''कव्वाली'' ताल के रूप में ईरान में पहले से ही प्रचलित था। इसी कव्वाली ताल पर खुसरो ने अपनी रचनाएँ फारसी मिश्रित हिन्दी में की। उर्दू के सबसे पहले शायर शाह वली अल्लाह

हुए जिन्होंने संवत् 1780 में दिल्ली पहुँचकर अपनी ग़ज़लों से धूम मचा दी। हिन्दी के साथ फारसी और अरबी के शब्द मिलाकर वली से जो सरल भाषा अपनाई, बाद में वही भाषा उर्दू कहलाने लगी। उर्दू काव्य की सर्वाधिक लोकप्रियता ग़ज़लों पर ही टिकी है। वली से प्रेरणा लेकर आरजू (1689 ई.-1756 ई.) आबरू (1700 ई.-1750 ई.) हातिम (1699 ई. -1782 ई.)और मज़हर (1699 ई.-1781 ई.) ने उत्तर भारत में ग़ज़ल को स्थापित किया।

अठारहवीं शताब्दी में मीर तक़ी 'मीर', सौदा, मोमिन, ग़ालिब तथा बहादुर शाह 'ज़फर' जैसे शायरों ने ग़ज़ल को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। कहा भी गया है-

"फ़िक्र मोमिन की कलम दाग़ का, दर्द ग़ालिब का मीर का रंग सुखन हो, तो ग़ज़ल होती है।"

ग़ज़ल का प्रमुख विषय आरम्भ से प्रेम परक रहा है। यह अलग बात है कि शायर अपने भावों को ग़ज़ल के माध्यम से इश्क-ए-हक़ीकी (आध्यात्मिक) रंग दे या इश्क-ए-मजाज़ी (सांसारिक)[3]

आधुनिक ग़ज़ल का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। समाज की रीतियों, कुरीतियों और आडम्बरों की आलोचना भी आज की ग़ज़ल कह रही है। मौलाना आज़ाद हाली, इक़बाल, बशीर बद्र ने ग़ज़लों के क्षेत्र में क्रान्ति पैदा कर दी। कुछ उदाहरण इस प्रकार है:-

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा,
हम बुलबुलें हैं इसकी, ये गुलसिताँ हमारा।"

-इक़बाल

"लोग टूट जाते हैं एक घर बनाने में,
तुम तरस नहीं खाते, बस्तियाँ जलाने में।"

ग़ज़ल किसी भी विषय पर कहीं जाए, इसमें सबसे बड़ा आकर्षण, इसकी गेयता है। "शेर में स्वर माधुर्य, तरन्नुम या संगीत ना हो, तो वह 'शेर' कहलाने का पात्र नहीं ग़ज़ल में यह खूबी इतनी ज़्यादा होती है कि दूसरी कोई भी विधा इसकी बराबरी नहीं कर सकती। इसका पहला कारण यह है कि पूरी ग़ज़ल एक बहर में होती है यानि उसके हर मिसरे का वज़न समान होता है जिससे ख़ास धुन पैदा होती है। 'रदीफ' और 'काफ़िया' भी ग़ज़ल के संगीत में वृद्धि पैदा करते हैं।"[4]

ग़ज़ल के लिखित होने के प्रमाण 1366 ई. से प्राप्त होने आरम्भ होते हैं। "1366 ई. में बहमनी सुल्तान मुहम्मद शाह प्रथम ने बुक्क को पराजित करके अपने दरबार के उन गवैयों के लिए पारितोषिक वसूल किया, जो खुसरो की ग़ज़ल गाते थे। इन कलाकारों की संख्या तीन सौ थी।"[5]

प. भातखण्डे जी ने ग़ज़ल को शास्त्रीय संगीत का एक अंग माना है। उनका मत है कि बहुधा ग़ज़ल उन्हीं रागों में गाई जाती है, जिनमें ठुमरी और दादरा गाए जाते हैं। पहाड़ी, पीलू, भैरवी, झिंझोटी, काफी, खमाज आदि रागों में अनेक ग़ज़लें गाई गई हैं किन्तु जगजीत सिंह द्वारा "दिये हुए में बसने वाले" 'शुद्ध सारंग' राग में स्वर बद्ध की गई है। अतः इसकी रचना में राग नियम अनिवार्य नहीं है। ग़ज़ल में काव्य है और संगीत भी, प्रेम का इज़हार है तो विरह की यातना भी। किन्तु इन सबके अतिरिक्त है उसमें - दर्द। कुशल गायक जब अर्थानुरूप स्वर रचना कर ग़ज़ल गाते हैं, तब इसका एक-एक शब्द तीर के समान लगता है। ग़ज़ल की धुन में मार्मिकता की ओर बहुत ध्यान दिया जाता है। मनोहर और अर्थपूर्ण शब्द रचना के साथ-साथ गम्भीर और उदात्त कल्पना का भी बहुत महत्व है। ग़ज़ल गायक को सही तलफ्फुज़ (उच्चारण) का ज्ञान भी परम आवश्यक है। यह मुख्यतः दादरा, कहरवा, रूपक, अद्धा एवं पश्तो आदि तालों में गाई जाती है जिसकी लय मध्य होती है।

ग़ज़ल और रामदारी का चोली दामन का साथ है। मुशायरों में तरन्नुम में ग़ज़ल पढ़ने के प्रमाण चार पाँच सौ साल पुराने भी मिलते हैं। जिन ग़ज़लों को तरन्नुम का साथ नहीं मिलता, उनका असर भी अवाम पर कम पड़ता था। बेगम अख्तर ने ग़ज़ल की रूह को गाने से ही छुआ। 'ग़ज़ल' शैली का प्रसार करने में सूफ़ी सन्तों का बड़ा योगदान रहा है। ग़ज़ल में मानवीय तथा ऐन्द्रिक प्रेम के स्थान पर ईश्वर विषयक दिव्य तथा अतीन्द्रिय प्रेम को उन्होंने स्थान दिया। संगीत के मध्य में मिश्रित सूफ़ी तत्व-ज्ञान भारतीयों को सहज पसंद आया। उन्होंने अपने प्रार्थना-संगीत के लिए फारस की ग़ज़ल शैली को अपनाया तथा भारतीय रागों एवं तालों में ढालकर उसको प्रस्तुत किया।"शेरों के भावों के अनुसार रागों में और रागों के मिश्रणों में बाँधी गई ग़ज़लें अपना सानी नहीं रखती। बड़ी-बड़ी तानों, गमकों के प्रयोग से ये भले ही वंचित रहें, लेकिन जिन छोटी-छोटी भावपूर्ण मुर्कियों, मींडों से इन्हें सजाया जाता है, वे बरसों रियाज़ माँगती हैं और मधुर सुरीली आवाज़ के साथ कशिश और दर्द भी।

आधुनिक युग में जिन गायकों ने आम जनता के बीच ग़ज़लों को लोकप्रिय बनाया, उनकी कुछ ग़ज़लें, जो रागाधारित हैं, वे इस प्रकार हैं:

क्र.	ग़ज़ल	गायिका/गायक	राग
1.	रंजिश ही सही	मेंहदी हसन	यमन
2.	आज जाने की ज़िद न करो	फ़रीदा ख़ानम	यमन कल्याण
3.	दुनियाँ जिसे कहती है जादू का खिलौना है	जगजीत चित्रा सिंह	यमन
4.	ज़िन्दगी में तो सभी प्यार किया करते हैं	मेंहदी हसन	भीमपलासी
5.	चुपके-चुपके रात दिन आँसू बहाना याद है	गुलाम अली	काफी (मिश्र)
6.	वो जो हममें तुममे क़रार था	बेग़म अख़्तर	भैरवी
7.	ऐ मोहब्बत तेरे अंजाम पे रोना आया	बेग़म अख़्तर	भैरवी
8.	मिल कर जुदा हुए तो	जगजीत सिंह, चित्रा सिंह	तोड़ी
9.	दिल में एक लहर सी उठी है अभी	गुलाम अली	माँज खमाज
10.	ऐ हुस्न बेपरवाह तुझे	मेंहदी हसन	किरवानी
11.	बात करनी मुझे मुश्किल कभी ऐसीतो न थी	मेंहदी हसन	पहाड़ी
12.	कोई पास आया सवेरे-सवेरे	जगजीत सिंह	ललित
13.	अपनी धुन में रहता हूँ	गुलाम अली	दरबारी
14.	हंगामा है क्यूँ बरपा	गुलाम अली	दरबारी
15.	रूदादे मोहब्बत क्या कहिए	आशा भोंसले,गुलाम अली	यमन
16.	प्यार भरे दो शरमीले नैन	मेंहदी हसन	काफी
17.	सुनते हैं मिल जाती है हर चीज़ दुआ से	जगजीत सिंह	दरबारी
18.	दर्द बढ़कर फुगां न हो जाए	चित्रा सिंह	किरवानीऋ शिवरंजनी
19.	मैं ख्याल हूँ किसी और का	मेंहदी हसन	भैरवी
20.	सरकती जाए है रूख़ से नक़ाब	जगजीत सिंह	झिंझोटी
21.	हम तेरे शहर में आए हैं	गुलाम अली	शिवरंजनी

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. स्वरांगिनी, प्रभा अत्रे पृष्ठ-12
2. "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय" डॉ. दीनदयालु गुप्त भाग। पृ.25-26
3. 'संगीत' उर्दू भाषा की प्रमुख सांगीतिक काव्य शैलियाँ, डॉ. सुधा सहगल पृ. 13
4. ग़ज़ल : एक सफर : सम्पादक-नूर नबी अब्बासी एवं खुर्शीद नबी अब्बासी पृ. 11
5. मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य ब्रहस्पति पृ. 40
6. संगीत : भारतीय साहित्य तथा संगीत में ग़ज़ल : डॉ. श. श्री पराजंपे पृ. 9

ध्रुपद गायकी की प्रासंगिकता एवं उसके विविध रंग

पं. विनोद कुमार द्विवेदी

प्रख्यात ध्रुपद गायक

प्रत्येक संगीत साधक के मन में यह मूल भूत धारणा हमेशा से ही जन्म लेती रही है कि वह अपने क्षेत्र में शिखर तक पहुँचकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करें, परन्तु यह सौभाग्य विरले लोगों को ही मिला ऐसा क्यों? शायद इसी चिन्तन की परिधि में संगीत के पंडितों ने अपने-अपने विचार समय-समय पर दिये हैं तथा ध्रुपद गायकी के महत्व को परिभाषित किया है। उनका मानना है कि संगीत की प्रत्येक विधा व ध्रुपद गायकी में परस्पर अन्योनाश्रित सम्बन्ध है उन्होंने सफल कलाकारों का उदाहरण देते हुए यह भी तर्क किया कि पं0 रविशंकर जी जैसे महान सितार वादक ने भी पहले लगभग 500 ध्रुपद की साधना की तभी वे इतने यशस्वती कहलाए इसी क्रम में बहुत से श्रेष्ठ कलाकारों को जोड़ा जा सकता है जिन्होंने ध्रुपद गायकी को आत्मसात करके संगीत की उन ऊँचाइयों को स्पर्श किया जिसके कारण आज का कलाकार उनकी साधना व तपस्या को हृदय से स्वीकारता है।

ध्रुपद गायकी निश्चित रूप से एक ऐसी गायन शैली है जो नाद योग को प्रमाणित करती है, चाहे स्वर लगाव हो या लयकारी राग की शुद्धता हो या साहित्य की सम्पन्नता, इन सभी के यथार्थ दर्शन इस गायन शैली में निर्विवाद रूप से अखण्डता के साथ होते हैं तभी जयदेव जी जैसे महान समर्थ संगीत चिन्तक ध्रुपद को सम्पूर्ण शास्त्रीय संगीत पद्धति का दर्जा देते हैं। मुझ जैसे सामान्य ध्रुपद—साधक के मन में जो ध्रुपद के प्रति भाव-दर्शन है, मैं उसका उल्लेख करना उचित समझता हूँ।

''ध्रुपद अन्तर्नाद है अचल अटल गति मान।
योग मार्ग आराधना, सुर लय ताल प्रमान॥
छन्द सकल अथ्भव्यक्ति रस, सुन्दर भाव प्रधान।
शुद्ध सरल अति गूढ़ है गुनि जन करत बखान।
अति गम्भीर पद्धति पूरन, मान सिंह की आन।
सकल गुनन भरी माधुरी, हरिदास की प्रान॥
सांगीतिक हर विधा की, जननी इसको जान।
सामवेद पोषित विमल, ध्रुपद गान महान''॥

वास्तव में ध्रुपद/गायकी को समझना उसके गायन से की अधिक महत्वपूर्ण है। ध्रुपद गायकी में काकुभेद, गमक, मींड श्रुति-सूक्ष्मता, राग-भाव दर्शन, बंदिश की अदायगी यह सब गुरु चरणों में बैठकर साधना करने से ही प्राप्त हो सकती है संगीत गुरु से गहन प्रशिक्षण प्राप्त कर तथा रियाज़ करके साधक को यदि आध्यात्मिक गुरु के सतसंग का लाभ मिल जाता है तो सोने में सुहागा जैसा हो जाता है। मुझे वर्तमान में सौभाग्य से संत शोभन सरकार कानपुर का सतसंग मिलता रहता है अतः मैं निश्चित रूप से उस सांगीतिक आनन्द की कल्पना कर सकता हूँ। जहाँ तक वर्तमान ध्रुपद गायकी का प्रसंग है मुझे यह कहने में बिल्कुल संकोच नहीं है कि कुछेक गायकों द्वारा स्वर को जोरदारी से प्रयोग करने को गमक, तराने जैसा गाने को आलाप का दर्जा तथा शब्दों को तोड़ मरोड़कर तिहाइयाँ बनाना तथा भिन्न प्रकार रस भाव वाले रागो में एक जैसी लयकारी व बोल बाट बनाकर गाना क्या इसी को ध्रुपद गायकी का स्वरूप माना जा सकता है? शायद नहीं। मैं आज तक जितना समझ पाया हूँ और शायद ध्रुपद के अन्य साधक भी मेरे इस मन्तव्य से सहमत होंगे कि साँस भरकर यदि ध्रुपद के चारों चरणों का पाठ (गायन) कर दिया जाए तो

निश्चित रूप से वह बहुत प्रभावी होगा परन्तु वह उतना कठिन भी होगा। ऐसा सुनने में आया है कि पुराने गायक एक दीर्घ श्वास भरकर ध्रुपद का सम्पूर्ण पाठ कर देते थे, है न आश्चर्य? परन्तु सत्य है। वर्तमान में जैसे कतिपय ख्याल गायकों को शीघ्रता से तान की आतिशबाजी छुटानेकी बेचैनी रहती है ठीक वैसे कुछेक ध्रुपद गायकों को लयकारी बोलबाट की। देखिए गायक जब तक साहित्य की चासनी में स्वर को नहीं डुबोयेगा भला वो तासीर कहाँ से पैदा हो सकती है। मेरी समझ से कंठ संगीत में बिना साहित्य को समझे गायन करना ठीक वैसे ही है जैसे बिना पता लिखा हुआ पत्र का लिफाफा पत्र पेटिका में डाल दिया जाय। भला वो आपका पत्र सम्बन्धित व्यक्ति तक क्या पहुँच पायेगा? ठीक वैसे गायन तो आपने अपनी ओर से पूरा किया परन्तु श्रोताओं तक कैसे पहुँचेगा। दुर्भाग्य से ऐसी कभी-कभी हो ही जाता है तो सामान्य श्रोता सम्पूर्ण दोष ध्रुपद गायन शैली पर मढ़ने को तैयार हो जाता है परन्तु यह कितना भ्रामक है कि दोषी सम्बन्धित कलाकार हो और दोष ध्रुपद विधा का। मुझे व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार की चर्चा से बहुत पीड़ा होती है परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है प्रसन्नता की बात है कि ध्रुपद गायकी का स्वर्णिम काल पुनः आ रहा है, यह संकेत वर्तमान पीढ़ी ने देना प्रारम्भ कर दिया है। ध्रुपद में नित नये प्रयोग होने लगे हैं ठीक भी है परम्पराओं को जीवित रखना हमारा धर्म है परन्तु नूतन अनुसंधान भी आवश्यक है, हमें जो पूर्वजों से मिला है तो हम भी कुछ न कुछ भावी पीढ़ी को सौंप सकें, इसी को ध्यान में रखते हुए मैंने अपनी अल्प बुद्धि के साधक होने के नाते एक सी0डी0 (व्यक्तिगत) में ध्रुपद भजन माला का संकलन किया है जिसमें ध्रुपद की अप्रचलित ताले गज झम्पा, मत्त ताल, वसंत ताल, चन्द्रचार ताल कुंभताल इत्यादि तालों में वंदिशे लिखी है, स्वरवद्ध किया है तथा गाया है इसका उद्देश्य मात्र यह है कि सामान्य श्रोता भी भजन के रूप में इन तालों को सुन सके, समझ सके गुनगुना सके।

ध्रुपद को गीत का एक प्रकार माना जाता है जिसमें भक्ति है श्रृंगार है तथा वीर रस का समावेश है। हमारा देश धर्म प्रधान है, यहाँ अनेक संदर्भों से जुड़े हुए गीत हैं यथा पर्वगीत, धार्मिक गीत, देशभक्ति गीत, महापुरुषों के गीत ऋतुगीत इत्यादि अनेकानेक गीत प्रकारों की श्रृंखला है। स्वामी विवेकानन्द जी की सार्द्धशती सम्पूर्ण विश्व में मनाई जा रही है उसमें मेरे द्वारा रचित वो ध्रुपद निम्नांकित हैं जो स्वामी जी के व्यक्तित्व को दर्शाते हैं।

1. चार ताल (राग श्याम कल्याण)

स्थाई—संत प्रवर विवेकानन्द।

परम ज्ञानी ध्यानी विज्ञानी।

राम कृष्ण शिष्य सुयश।

सकल जगत छायो है॥

अन्तरा– मातु भारती के लाल।

सम्बोधन बेमिसाल।

धर्म सभा धन्य भई।

करतल ध्वनि बजायो है॥

2. शूलताल (राग अहीर भैरव)

स्थाई—स्वामी विवेकानन्द। राष्ट्र भक्त महान।

कर्मयोगी तपस्वी। जानत सब जहान।

अन्तरा—युग के महानायक। सब बिधि सब लायक।

याद करे सदियाँ। गाएँ गुन गान।।

मैंने इसके अतिरिक्त रामचरित मानस के प्रसंग तथा समाज से जुड़े हुए अन्य विषयों पर तथा देशभक्ति पर ध्रुपद रचना करने का प्रयास किया है तथा लगभग 150-200 ध्रुपदों की रचना की है देशभक्ति गीत पर रचित ध्रुपदों का वर्णन कुछ इस प्रकार है।

1. चौताल (राग यमन)

स्थाई—नमो राष्ट्र देव भारत। भूमि शस्य श्यामला।

परम पावन पुण्य सलिल। गंगा बहे निर्मला।।

अन्तरा— शुभ्र कीरति विमल सुमति। विश्व गुरु वसुन्धरा।

ज्ञान मोक्ष दायिनी। मातृभूमि शीतला।।

संचारी—सकल धर्म जाति पंथ। सम्प्रदाय रचे बसे।

जो भी शरण आया तेरी। पुत्र सम बढ़ा पला।।

अभोग—अति उदार क्षमादात्री। सिद्ध सुयश धैर्य धात्री।।

वीर मातु अति कृपालु। करे सदा सबका भला।।

2. शूलताल (राग देश)

स्थाई—भारत पुण्य धरा। ऋषि मुनि परम्परा।
परम पावन पवित्र। कण-कण वसुन्धरा।
अन्तरा— सर्व धर्म समाए। सब जन सुख पाएं।
शस्य श्यामला सुरभि। प्रेममयी धरा।
भक्तिमयी धरा। ज्ञानमयी धरा।।

यह लेख पढ़ते-पढ़ते शायद आपके मन में यह भाव आ रहा होगा कि मैं इस लेख के माध्यम से अपनी रचना धर्मिता का परिचय करा रहा हूँ, परन्तु ऐसा कदापि नहीं है, मेरा मन्तव्य तो केवल अपनी विचारधारा व सोच को आपसे निरीक्षित कराना है यह भी हो सकता है कि कुछ लोग ऐसा कहें कि हमारे पास पूर्वजों का दिया हुआ साहित्य व संगीत का विपुल भण्डार है फिर इस सृजनशीलता का क्या अर्थ है वही सम्हाल लें बहुत है। निश्चित रूप से हमारे बुजुर्गों ने इस क्षेत्र में इतना बड़ा काम किया है जो हमारे लिए स्तुत्य है परन्तु फिर भी हमारे सांगीतिक जीवन का कुछ-न-कुछ अर्थ है उसे प्रमाणित करते हुए अपने गुरुओं, बुजुर्गों से आशीर्वाद व प्रेरणा लेते हुए इस कार्य में गति देना, स्वाभाविक ही है यदि हमारे बुजुर्ग भी यह सोच रखते कि हमें जो विरासत में मिला है पर्याप्त है तो शायद हमें साहित्य संगीत का इतना खज़ाना न मिल पाता श्री भातखण्डे जी ने भी इस विचारधारा को बल दिया है कि आगे आने वाली पीढ़ी और अधिक उत्तमता से चिन्तन करें, परिवर्तन करें सृजनशीलता को बढ़ावा दे तो संगीत जगत के लिए उपकार होगा। मैं। भी इस विचारधारा का पोषक हूँ और आप भी निश्चित रूप से इसके समर्थक होंगे।

वर्तमान में ध्रुपद गायक के नाते मुझे देखने को मिलता है कि इस गायकी का श्रोता वर्ग एक निश्चित सीमित परिवार है तथा शास्त्रीय संगीत की शाखा में इसको एक निश्चित व सीमित जगह देकर इतिश्री कर दिया गया है परन्तु यदि अतीत में हम तानसेन युग में जाए जिसमें महिला ध्रुपद गायिकाएँ भी शामिल है। केवल ध्रुपद गायकी से समस्त मानवीय, भावनाएँ कल्पनाएँ संवेदनाएँ तथा सभी रस प्रस्फुटित होते थे उस समय ऐसा कोई अभाव नहीं दिखता था कि इसकी पूर्ति तो ख्याल गायन से, ठुमरी दादरा या टप्पा गायन से ही सम्भव है उस समय तो ध्रुपद गायन ही समस्त मानवीय भावनाओं को प्रदर्शित करने में सक्षम था आज ऐसा क्या हो गया? निश्चित रूप से हमें विचार करना होगा, तथा वर्तमान श्रोताओं का ध्यान रखते हुए व साथ में अपनी परम्पराओं की रक्षा करते हुए ध्रुपद गायकी को नया आयाम देना होगा, जिससे आम श्रोता अधिकाधिक जुड़ सके। आज विज्ञान का युग है समय कम है लोगों के पास, ऐसे में 1-1 घंटे का दीर्घ आलाप प्रदर्शन, बोलबाट तिहाइयों का भीषण आक्रामक प्रयोग जहाँ साहित्य तार-तार होने लगे मेरे विचार से इस मोह को छोड़ना होगा हमें परम्पराओं की दुहाई देकर मनमानी करने से बचना होगा।

मेरे कथन का उद्देश्य किसी व्यक्ति या घराने पर टिप्पणी करना नहीं है न ही किसी को आहत करना है वरन् मैं चाहता हूँ कि इस सच्चाई को समझकर हम सभी ध्रुपद गायकी परम्परा के लोग साधारण जनमानस से भी जुड़ने की कोशिश करें तभी ध्रुपद गायिकी की प्रासंगिकता प्रमाणित हो सकेगी तथा आनन्द के साथ इसके विविध रंगों का दर्शन किया जा सकता है श्रोता हमारे लिए भगवान हैं परम्पराएँ हमारे तीर्थ स्थल (मन्दिर), हमें दोनों को बचाना है तथा रक्षा करनी है इसके लिए निश्चित रूप से ऐसे मध्य मार्ग का अनुसरण करना होगा जो ध्रुपद गायकी को अधिक से अधिक समृद्धशाली, रोचक पारम्परिक विशुद्ध एवं जन ग्राहय भी बना सकें।

ध्रुपद धमार एवं पद

(भाषा तथा विषय के संदर्भ में)

डॉ. विशाल जैन

असिस्टेंट प्रोफेसर, (गायन) संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

'पद' शब्द का भारतीय संगीत में अतीव महत्व है। आधार तत्व के रूप में पद का प्रयोग प्राचीन काल से संगीत में होता रहा है। 'पद' का अर्थ अत्यन्त व्यापक है, महर्षि भरत ने तो यहाँ तक कहा है कि, जो कुछ भी अक्षर (स्वर अथवा व्यंजन) से सम्बन्धित है, वह सब पद में अन्वित है।

यत् स्यादक्षर सम्बद्धं तत्सर्व पदसंज्ञितम्।।

(नाट्यशास्त्र, 28)

महर्षि भरत कृत ' नाट्यशास्त्र' (2-3ई0), मतंग कृत ' बृहद्देशी' (7वीं ई0) तथा शारंगदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' (12ई0) का अवलोकन करने के उपरान्त पद की अवधारणा प्रस्तुत है। इसके उपरान्त का काल (12-16 ई0) ध्रुपद धमार के विकास एवं उत्कर्ष का काल रहा है, अतः तत्पश्चात् ध्रुपद- धमार के पदों की विस्तृत चर्चा की गई है। ध्रुपद- धमार जैसी महत्वपूर्ण शैली के क्रम में कालान्तर में ख्याल तथा अन्य शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। भरत द्वारा गान्धर्व की चर्चा की गई है, जिसे स्वर, ताल तथा पद से युक्त बताया गया है, अर्थात गायन तथा वादन के प्रमुख घटक स्वर, ताल तथा पद है, यहाँ पद का सामान्य अर्थ है 'सार्थक शब्द'। अभिनवगुप्त ने भरत के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुये कहा, "गांधर्व के 'सामान्य' तथा'विशेष' दो प्रकार के अर्थ हैं," जो तालिका रूप में प्रस्तुत है-

गान्धर्व

सामान्य अर्थ

स्वर, ताल तथा पद का कोई भी सम्मिलित प्रयोग

विशेष अर्थ

स्वर, ताल, पद का ऐसा समुदाय

1. जो अदृष्ट फलदायक हो
2. देवता परितोष का साधन हो
3. अपरिवर्तनीय हो [1]

गान्धर्व से भिन्न 'गान' है, जो तीन विशेषताओं से युक्त है-

गान

जो दृष्ट फलदायक हो

जो श्रोता का रंजक अथवा नाट्य का उपरंजक हो जो परिवर्तनीय हो

सामान्य गान्धर्व में 'विशेष गान्धर्व' तथा 'गान' दोनों के अर्थ अन्वित है, विशेष गान्धर्व की दृष्टि से पद में केवल सार्थक ही नहीं, अपितु कुछ विशेष निरर्थक अक्षरों का भी समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिये 'झण्टुं, दिग्ले, कुचझल, तितिझल' इत्यादि कुछ नियत अक्षर भरत ने दिये हैं, जो ब्रह्मा द्वारा शिव-स्तुति में प्रयोग किये गये थे। इसी सन्दर्भ में भरत ने निबद्ध-अनिबद्ध की भी चर्चा की है। उल्लेखनीय है कि वर्तमान ध्रुपद परम्परा में निरर्थक सार्थक शब्दों का सुन्दर समावेश दृष्टिगोचर होता है।

भरत कृत निबद्ध-अनिबद्ध की चर्चा इस प्रकार है-

विशेष गान्धर्व

निबद्ध पद	**अनिबद्ध पद**
नियत अक्षर (ब्रह्मा द्वारा गाया गया एवं स्वरूप व संख्या अनियत)	अनियत अक्षर (कवियों द्वारा रचित देवस्तुतिपरक पद संख्या व स्वरूप नियत)

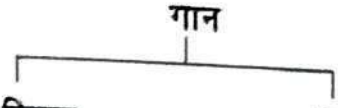

(ताल व छन्द के अनुसार अक्षर योजना व सार्थक)

(वाद्य ध्वनि की अनुकरणात्मक शब्द योजना व निरर्थक, एक नाम 'अपद' भी)

उल्लेखनीय है कि 'अपद' के रूप में उल्लिखित वाद्य अनुकरणात्मक शब्द योजना ध्रुपदांगी आलाप में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

कालान्तर में मतंग द्वारा निबद्ध व अनिबद्ध की चर्चा 'मार्गी' व 'देसी' से सम्बद्ध है। [2]

(आलाप व राग के नियमों से बद्ध)

(नियमों से स्वतंत्र)

यहाँ स्मरणीय है कि भरत ने पद के प्रसंग में निबद्ध व अनिबद्ध विशेषण प्रयोग किये, किन्तु मतंग ने व्यापक रूप से पूरे गीत प्रयोग के लिये ये विशेषण दिये हैं।

'संगीत रत्नाकर' में निबद्ध-अनिबद्ध संज्ञायें गान के अन्तर्गत प्रयुक्त हुई हैं [3]

यथा-

गान

1. वाग्गेयकार द्वारा रचित
2. देसी राग में निहित
3. जनरंजक
4.

(4 धातु, 6 अंग से बद्ध)

प्रबन्ध वस्तु	**रूपक**
छह अंग	चार धातु
' स्वर ' तेन	' उद्ग्राह
' विरूद' पाट '	ध्रुव
'पद ' ताल	' मेलापक
	' आभोग
	(आलाप्ति)

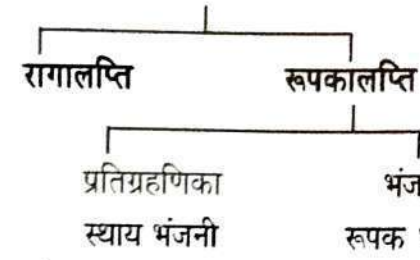

अग्रोक्त प्रबन्ध अंगों में 'पद' का अर्थ-सार्थक पद, 'तेन' का अर्थ-मंगलार्थ प्रकाशक तथा 'विरूद' का अर्थ-विशेषण युक्त संज्ञायें है। ध्रुपद-धमार में ये सभी संज्ञाये महत्वपूर्ण स्थान रखती है साथ ही आलप्ति भेदों का भी स्पष्ट प्रकटीकरण ध्रुपद-धमार विधा में प्राप्त होता है।

ध्रुपद के पदों का आविर्भाव (कालक्रमानुसार भाषा तथा विषय की दृष्टि से)

ध्रुपद को विशिष्ट पद रचना एवं गेय शैली के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले ग्वालियर नरेश मान सिंह तोमर (1486-1516 ई0) थे। मध्ययुगीन पद शैली के प्रवर्तक भी यही माने जाते हैं, राजा मानसिंह ने अपने दरबारी कलावन्तों (बैजू इत्यादि) के सहयोग से मध्यदेशीय भाषा में ध्रुवपद पदों की रचनायें कीं, इस पद शैली का मूल रूप बौद्धों के चर्या पदों में मिलता है, जिसमें ध्रुव तथा प्रास योजनायें सम्मिलित हैं। कालान्तर में महाकवि जयदेव की पद शैली पर भी इनका प्रभाव पड़ा। 'विहरति हरिरिह सरसवसन्ते' एवं 'जय जय देव हरे' इत्यादि अष्टपदियों का भी ध्रुपद पर प्रभाव पड़ा। गीत गोविन्द की पद शैली ध्रुपद गीत तथा भक्त कवियों के पद, इन दोनों रूपों में विकसित हुई, जिनमें ध्रुव पंक्ति, दो-दो पंक्ति अथवा चार-चार चरणों की कड़ी तथा पूरे पद में अन्त्यानुप्रास की योजना पद की ये विशेषतायें आई। वर्तमान ध्रुवपद के पदों में स्थाई, अन्तरा, सन्चारी, आभोग तथा अन्तिम खण्ड में कवि की छाप विशेषतायें दृष्टिगत होती है।

सर्वप्रथम ध्रुपद गोपालनायक का प्राप्त होता है, यह तत्कालीन प्रचलित भाषा में लिखित है तथा 'ओज' गुण से युक्त है। पद है-

" धकदलन प्रबल्ल नाद सिंघनाद बल अपबल वक्कवर" ।। [4]

ध्रुपद की परिभाषाओं में कालक्रमानुसार निम्नलिखित व्याप्तियाँ प्राप्त है-

सर्वप्रथम मानसिंह कृत 'मानकुतूहल' के अनुवाद 'रागदर्पण' में ध्रुपद की भाषा देशी बताई गई है। अबुलफज़ल के अनुसार ध्रुपद 3 या 4 लयबद्ध पंक्तियों से निर्मित पद है। इन ध्रुपदों का विषय प्रधानतया उन व्यक्तियों की प्रशंसा होती है, जो अपने पौरूष अथवा गुणों के कारण प्रसिद्ध होते हैं। शिवाजी के पिता शाहजी के आश्रित पण्डित वेद के अनुसार ध्रुपद की भाषा मध्यदेशीय है। 18वीं शताब्दी में भावभट्ट कृत अनूप संगीत रत्नाकर के अनुसार ध्रुपद की भाषा संस्कृत अथवा मध्यदेशीय हो सकती है, जिसमें नर-नारी की कथा होती है। आधुनिक काल में भातखण्डे जी ने ध्रुपद की भाषा उच्च श्रेणी की बताई है तथा इसे वीर, श्रृंगार व शान्त रस प्रधान बताया है।

ध्रुपद के पदों के वर्ण्य विषय अत्यन्त विस्तृत है, जिनमें नवरस वर्णन, भक्ति, राजस्तुति, ईशस्तुति, उत्सववर्णन, धर्मतत्व निरूपण, पुराण कथायें, मत सिद्धान्त, संगीतशास्त्र सिद्धान्त, गुरू महिमा, नायक-नायिका भेद, ऋतुवर्णन तथा अनेकानेक विषय सम्मिलित हैं।

उदाहरणार्थ-

"तुम रब तुम साहेब, तुम ही करतार,
घट-घट पूरन, जल-थल भरभार"।। [5]

यह पद तानसेन कृत ईशस्तुति का है। धमार के पदों में होली में नायिका कृष्ण से कहती है-

केसर घोल के रंग बनो है, अब तुम लाल कहाँ जाइयो भाग।
अबीर गुलाल की धूम मची है, होरी खेलत ब्रजराज।। [6]

इसी तरह ध्रुपद-धमार पदों की भाषा भी मध्यदेशीय ब्रज के अतिरिक्त अवधी, राजस्थानी एवं पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली, उर्दू एवं बांग्ला से प्रभावित तथा सांगीतिक भाषा इत्यादि है। भाषा के अन्तर्गत रस, छन्द , अलंकार का सुन्दर समावेश भी ध्रुपद पदों में प्राप्त होता है। ब्रज भाषा विरचित पद निम्नवत् है-

"बानी चारौ के ब्यौहार सुनि लीजै हो गुनीजन तब पावै यह विद्यासार"।। [7]

खड़ी बोली में नवाब वाज़िद अली शाह कृत 'धमाल' का पद निम्नवत् है-

"मेरी मुरली अधर विराजे, मैं तुम्हें प्यार करती हूँ।
कान्हा मोरी लाज गई, अख्तर अपनी विपत मन पे धरती हूँ।।" [8]

निष्कर्ष रूप में ये कहा जा सकता है कि भरत से लेकर शारंगदेव तक जिस पद शैली का विकास निबद्ध-अनिबद्ध की दृष्टि से विस्तृत रूप में हुआ, उसी परम्परा में चर्या पद, अष्टपदी तथा तोमरकालीन मध्यदेशीय पद ध्रुपद-धमार के संवाहक बने। आधुनिक काल में शास्त्रीय संगीत के प्रामाणिक आधार (शास्त्र एवं प्रयोग), प्राचीनता, परवर्ती शैलियों पर प्रभाव तथा सहगामी (वीणा, पखावज तथा नृत्य) विधाओं के पोषण हेतु ध्रुवपद धमार का स्थान सर्वोत्कृष्ट माना जाता है, जिसके पद भाषा एवं विषय की ही दृष्टि से नहीं अपितु सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट कहे जा सकते हैं।

संदर्भ सूची

1. संगीत में निबद्ध और अनिबद्ध-प्रेम रसायन और संगीत मीमांसा-उर्मिला शर्मा-पृ. 94-95
2. द्रष्टव्य-बृहद्देशी-मतंग-प्रेमलता शर्मा एवं अनिल ब्यौहार-श्लोक-15, पृ. 4
3. द्रष्टव्य-संगीत रत्नाकर-शारंगदेव-सुभद्रा चौधरी-खण्ड-द्वितीय-पृ. 204-210
4. ध्रुवपद और उसका विकास-आचार्य बृहस्पति. पृ. 181
5. उस्ताद ज़िया फरीदुद्दीन डागर से गुरू शिष्य परंपरा में प्राप्त पद
6. डागर परंपरा में गाया जाने वाले प्रसिद्ध धमार
7. ध्रुपद परंपरा का पारंपरिक पद
8. बनी-वाज़िद अली शाह-रोशन तक़ी एवं कृष्ण मोहन सक्सेना, पृ. 37

2-Back Side K

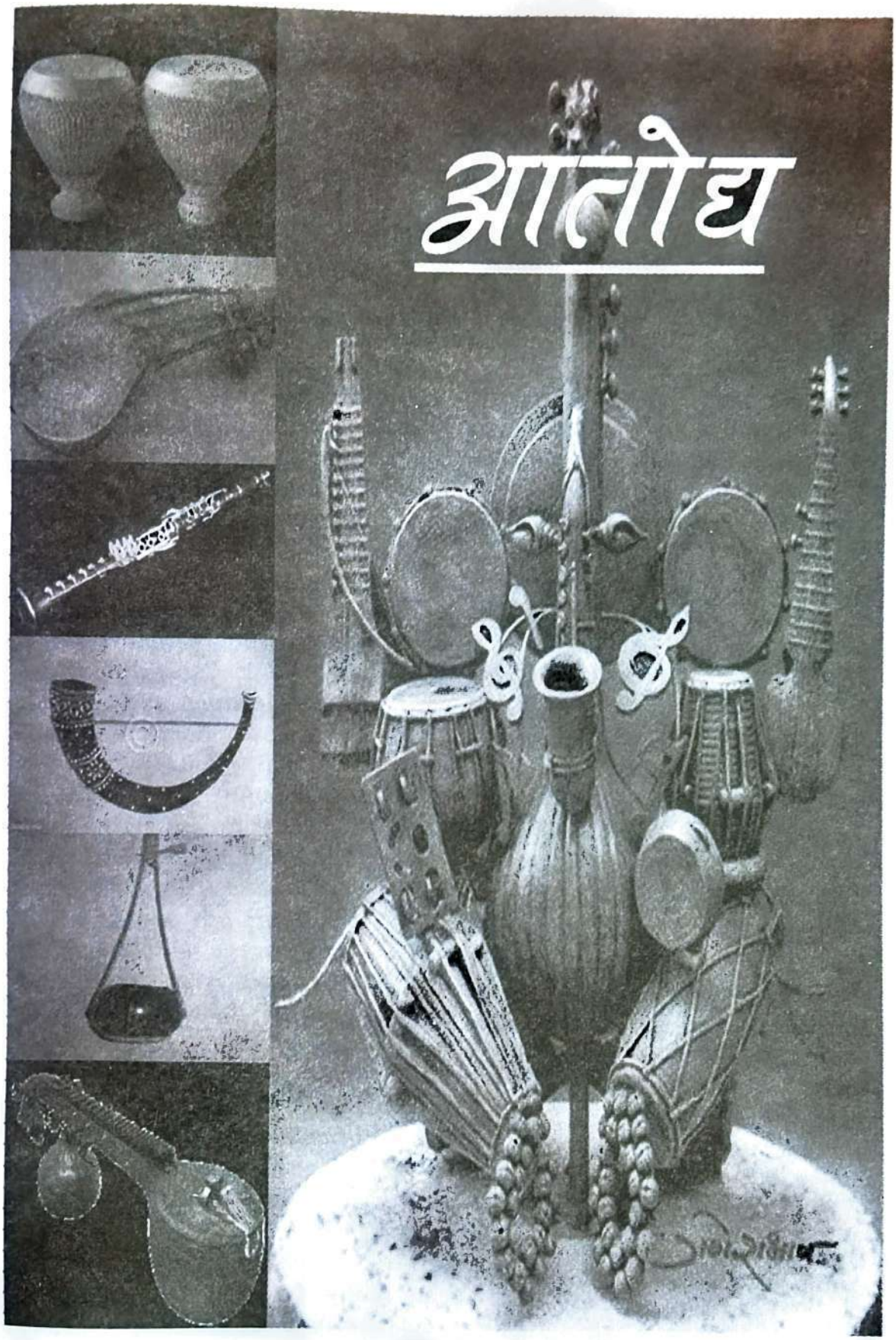
आतोद्य

The musical instruments of Kerala

Prof. Dipti Omchari Bhalla

Famous Mohini Attam Dancer & Professor Delhi University

The musical instruments of Kerala broadly fall under three categories, viz., classical, traditional (temple and theatrical) and folk. Among the classical instruments are, Veena, Violin, Tambura, Gottuvadyam, Flute, Naagasvaram, Mridangam, Ganjira, Ghatam, Tavil etc. Most of them are employed, either as solo or as accompanying instruments in the field of Karnaatak classical music and dances like Mohiniaatam . Since these instruments are common to all southern states, where Karnaatak classical music prevails, and, since their introduction into the state in their present day classical character happens to be a later event – say, a little before the time of Svaathi Thirunaal-they are not treated here as typical instruments of Kerala. The traditional and popular field have a variety of instruments which are selectively used in the Aryan and Dravidian temple rituals and religious festivals and also for dances of various fields and social functions. A few of these instruments are found in certain parts of Tamilnadu like the Kanyaakumaari district which was once part of the old Travancore state.

The instruments and instrumental playing of Kerala represent a direct and unbroken tradition, originating from the music described in the ancient epic, *Chilappadhikaaram,* which is considered to be the Dravidian counterpart of *Naatya-Shaastra* and as such, it provides very valuable source material for the study of *Naatya Shaastra* from the practical point of view.

For example, the Chhakkiyaar-Koottu described in the epic is very much alive in the temple theatre of Kerala. The Koothampalams (temple theatres) are built according to the rules and plans laid down in the *Naatya Shaastra,* so also are the items, technicalities and the expression. The seat, significance and the playing techniques of the great drum called **Mizhaavu or Panava** is still the same, not to speak of its shape and make up materials exclusively handled by a particular community of Temple dwellers , the Nambiyyars.

The early Tamil and Malayalam literatures classify the instruments as **Uttama – Vaadyam (Talaikaruvi),**

Madhyama Vaadyam (Idaikaruvi) and Adhama-Vaadyam (Idaikaruvi) and Adhama-Vaadyam (Kadaikaruvi) denoting the superior , the moderate and the inferior, on the basis of their structure, scope and area of functioning. These are further classified as **Veera Vaadyam** (por-murasu or instruments of war), **Naalikappara** (kanaparai or the time- announcing drums), **Preta Vaadyam** (instruments of funerals rites), **Kshetra Vaadyam** (temple instruments), Niti Vaadyam (instruments assisting justice), **Thullal and Kathakali Vaadyam** (instruments of dance)etc..

Of the five types of instruments described in the classics and still prevalent in the state, **the drums stand foremost, and have maximum varieties**. Ghana or metals come next and then, the Sushira or the wind instrument. **The stringed instruments have only very little representation and significance**.

1

One of the reasons for this may be that the stringed instruments with their delicate tones could never identify themselves in the Kerala ensembles which are noted for their loud and open air deliberations. But in the palaces and aristocratic families, **Svarabath, Brihathee veena** etc existed for decades until they were replaced by Violin, Sarasvati veena, Gottu Vaadyam, etc. At the folk level, the stringed instruments like **Kudam, Vilvaadyam , Nantuni, Pulluvan Veena, Kudukka Veena**, etc. are still in vogue.

Instruments exclusively found in Kerala Art forms are mentioned herewith.

STRINGED INSTRUMENTS (Tatta Vadyas)

Svarabat (Classical /traditional)

A traditional cum classical instrument, which had once a unique position both as a solo and as an accompaniment.Resembling Sarod or Rabab, the instrument is played by plucking the strings with a plectrum made of bone or some hard root. It has only a limited range and scope and it is believed it was once used in the services of Sri Padmanaabha Swaami temple and Travancore palace. Svaathi Thirunaal, the king of Travancore was an adept in playing the instrument. The instrument enjoyed a unique position in the classical platform and served as an accompanying instrument until it was replaced by the violin introduced during the days of the East India company.

Brihathee – Veena – Classical

Brihatee , meaning Brinjal , is similar to the Saraswati Veena of the Karnaatak music, The stem of the Brihathee Veena is lengthier than that of the Saraswati Veena and extends a little more over the belly. The sound of the Brihathee is more sonorous, clear and melodic, than that of the usual ones.

Pulluvan Veena (Ritualistic, Folk)

Also called Veena Kunju, the instrument belongs to the bowed variety with an oval-shaped wooden resonator with its surface covered by the thick skin of the monitor lizard. To the resonator, a narrow finger board is attached. A single string passes over the bridge on the belly and over the finger board. It is played with a small bow which too has the same fibre. Small jingling bells attached to the end of the bow, jingle rhythmically and tunefully, when the player shakes the bow while playing.

Tuntina – Folk

In some villages of Kanyaakumaari, which were once part of Travancore state, this instrument is called 'Pandaara-Vaadyam'. It is the drone of the singing mendicants, popular all over India under different names like Ek-taara, Eka-Tanti, etc. with minor variations. In the evolution of stringed instruments, Tuntina has an ancient background.

Kudukka Veena – Traditional

A traditional and popular stringed instrument so called because of the belly resembling a Kudukka – made of a coconut shell or any hollowed wood with leather surface. When played with a bow, it produces pleasing sounds.

Saarangi-Traditional and Temple

Though it may not strictly be a typical instrument of Kerala, Saarangi does not seem to be a foreign instrument either. As an instrument of the past, it has mentioned in old works like *Unnuneeli Sandesam, Thullal, Baala Raama Bharatham* etc. Specimens of the old instrument, are still found in palace collections, temples and museums of Kerala and South India.

It is believed that Saarangi had its heyday in Kerala, both as a solo and accompaniment, before the introduction and recognition of violin as the principal accompaniment to classical music and dance. With the popularity of violin, Sarangi became neglected and today its playing is restricted to some temples of South India for accompanying devotional songs like the *Vaaram paadal.*

Raavana Hastham – Folk

The instrument with an ancient origin and long history, is still popular all over India with slight variations in the name, shape, number of strings, frets etc. The instrument is mentioned in Sanskrit treatises like *Bharata Bhashya, Sangita Makaranda* and *Dravidian works like Unnuneeli Sandesam* etc. Mythologically, it is the Veena of the demon king Raavana. The present instrument in Kerala , is a crude instrument made up of bamboo stem with one or two open playing strings and a coconut shell covered with animal skin . It is played with bow made of a thin stick with fibres. The instrument has a shrill tone, narrow range and limited scope.

WIND ISTRUMENTS (Sushira Vadyas)

Kombu-Traditional

Kombu is one of the most primitive instruments of Kerala with a prehistoric origin. The term refers to the horn of an animal, either ox or cow or buffalo. Animal horn in its ancient form, has been referred to as Govishaanika, Sringa, Singha, Singhi, Kobuk etc. The shape and make of the horn are described in detail in old palm leaf treatises like *Sangita Makaranda, Sangita Ratnakara* etc. Sri Raja Gopalan translates it.The standard Vaadya found in Kerala is a semi circular brass pipe .Unlike its counter instruments, found in most of other states, where horns are used mainly for signaling, in Kerala the instrument is used to indicate the different stages in the course of an ensemble in general, and complicated rhythmical skill in particular.

Kurumkuzhal – (Pipe) Folk

It is a vertical wooden pipe, about a foot long with seven or eight bores and resembles the Shehnai of North India. But its sound is shrill like the Naagasvaram. Kuzhal is used in Koodiyaattam, Chendamelam etc. In Chendamelam, each Kuzhal artistes stands opposite to every Chenda artiste and plays. He is the principal indicator of the various stages of the melam. In the progression of an ensemble he regulates the rhythm and guides various rhythmical units and combinations.

Mugudi or Pampaati (Folk)

Common all over India, under different names, like Punji, Bhujangasvaram, Veena, Been, Sarppa-naadam, the instrument is handled by snake charmers to catch snakes.

PERCUSSION INSTRUMENTS (Avanaddha and Ghana Vadyas)

Udukku – Ritualistic

Considered as the favourite instrument of Lord Shiva, Damaru of Udukku or Tudi, has been held in high esteem from time immemorial. This instrument of Kerala is an hour-glass-shaped drum made of brass, wood or clay which is narrow in the middle The instrument is an inseparable accompaniment of the ritualistic music.

Maram or Paani- Sacred and ritualistic

The word `maram' in Malayalam and Tamil means wood and Maram, denoting the typical wooden drum, is one of the most sacred and ancient, temple instruments of Kerala, playing a significant role in rituals like Utsavabali, Suddhi, Kalasam, Dhvaja-Pratishta etc. Sometimes, it leads certain ensembles when idols are taken out in procession. Maram in reality, is a medium-sized cylindrical drum, carved out of jackwood. Its surfaces are covered with cowhide and they are braced with leather straps. Playing on the drum is considered to be strictly orthodox and ritualistically

auspicious. "Mantra, Tantra badham, Suddham".

Nagaara-Sacred and Folk

Nagaara is a hemispherical kettledrum used for both religious and social purposes. The instrument is so big and heavy that, during processions, it is carried on the back of an elephant or on a cart, designed specially for the purpose. Nagaara is regarded as the modified form of the ancient drum called Bheri, According to some scholars, it is the later form of Dundubhi. The shell of the Kettledrum of Kerala and Tamil Nadu, is made of copper, brass or iron sheets, riveted together. In the temple, it is employed when gods are taken out in procession.

Ampili Valayam – Traditional and Ritualistic

It is a very ancient instrument which is referred to, in many of the Tamil classics like *Chilappadhikaaram,* and Malayalam works like *Unnuneeli Sandesam, Thullal,* etc. The names Chandrappira, Chandra Valayam, Chandra Mandalam etc.. The instrument is so called because of its shape which resembles the crescent moon.

Soorya-Valayam Ritualistic

The name Soorya or Sun is also called as Surya-ppira, Surya-mandalam etc. The instrument is identical with the Ampilivalayam in every respect except in its shape, which is round and resembles the sun.

Thappu-Folk

The term is used to denote an ancient drum, as well as clapping of the hands, in accordance with the rhythm, along with dance or song. It has a circular wooden frame . The instrument is held on the left hand and played with the other hand. This resembles the' Daph' in north. The instrument is used in certain ritualistic music like Daarika-Vadham, Naagachuttu, Patayeni etc.

Chenda - Traditional

The instrument is foremost among the drums of Kerala and typical too. In reality, it is a barrel-shaped drum, carved out of Maram, meaning wood. The instrument is vertically hung from the shoulder, with a thick cotton strap and played with sticks by hand and fingers. Interestingly this instrument is played for both ritualistic as well as traditional stage presentation , for which different sides of the instrument is used. The rightside playing or Valamtala is used for ritualistic purposes at the temples and when gods are evoked . The instrument is then called as Deva Vadya . The left side playing or Idam-tala, is called Asura Vadyam and is used in the famous ensembles like Taayambaka and for roles other than gods in Kathakali. **The leftside playing is more popular and secular**. Chenda is both a sacred and secular instrument and is an essential accompaniment to both the classical and folk forms of dance and music, connected with Aryan and Non-Aryan temples.

Maddalam-Traditional and Ritualistic

Standing second to Chenda in prominence, the two-faced drum could be treated as a variety of the classical Mridangam of the South and the Pakhaavaj of the North. The instrument is very ancient and is mentioned in most of the early Dravidian and Sanskrit works. Mathalam, Mardalam, Maddalam etc. denote the same instrument. The name suggests that its origin was from clay. Later on, it might have changed to wood for its body. There is no provision for tuning the instrument to various pitches as in the case of Mridangam, Tabla etc.

"Toppi" Maddalam is the smallest among the Maddalams and has the exact dimensions of a standard Mridangam. It is the principal accompaniment of Krishnanaattam and Ottam Tullal ."**Suddha-Maddalam"** is more refined and melodious than Toppi. This is the principal accompaniment of Panchavaadyam, Kathakali etc.

Edaikka-Sacred and Traditional

This instrument is a unique drum , referred to and elaborately dealt in the ancient works like *Chilappadhikaaram, Panchamarapu* and *Unnuneeli Sandesam* etc. The Ajanta paintings and early sculptures also give this drum its due place and form. This typical instrument of Kerala still preserves the shape and playing technique as followed by the artistes of the remote past. The drum has various potentialities, since it is a rare combination of Shruti, Taala and Geeta-Vaadya. The musicians use it as a drone because it can continuously suggest the Aadhaara-Shadja, Panchama, and Taara-Shadja. The singer uses it as a faithful imitator of his songs and it is capable of producing different notes. As per Tantra Saastras, playing on the Edaikka creates devotion, peace and humility, in the minds of the priests and devotees. Hence, it has great importance in the temple rituals and lead, among the Sopaana Vaadyas and Taala Vaadyas which regulate the Poojas and Kriyas of the priests, and the temple singing. It is the chielf accompaniment of the Kottippaadisseva, where the Thyaanis, Geeta Govindam etc. are sung, during daily worship.

Mizhaavu – Sacred and Traditional

Mizhaavu has a history, which is most ancient, and a tradition that remains unbroken, even today. It is referred to as Kudamuzha in Chilappadhikaaram, and as per some, the Bhaanda-Vaadyam in the Naatya Saastra also refers to the same instrument. As per the Panchika, the commentary on Amarakosa, Mizhaavu is called "Panava" and Panava is mentioned by all Sanskrit and Dravidian works along with Aanaka and Gomukha.

The instrument in olden days, was made out of Mrit or mud(clay) as the anga (body) of most of the ancient drums were of clay which was replaced by bronze or copper

ones. But the shape and significance of the instrument remains strictly the same. The instrument is found in two shapes viz., Golaakriti (ball-shaped) and Andaakriti (Egg shaped) and in three sizes which go well with the three types of Naatya-Saalas, described in the Naatya Saastra.

Taalam and Jaalra – Traditional, Theatrical and Ritualistic

Taalam consists of a pair of circular discs of bronze, which produce sweet and tuneful sound, when struck against each other. Three sizes of Taalam are in vogue in Kerala. The smallest among them is known as Kuzhi-taalam played by women of the Nambiar community in Koothu and Koodiattam.

The instrument called `**Jaalra'** is slightly bigger than Kuzhi-talam, with flatter discs, having a diameter of about three inches. The same sometimes is referred to as Brahmataalam and is used in certain temple services. The instrument is most popular with Harikatha artistes, Bhajana-goshti and mendicants. The expert Bhaagavatars of Harikathas, can play difficult Jatis and rhythmical permutations on even such a simple instrument.

The biggest and the heaviest of the Taalams, is the one, which accompanies famous orchestras like Chendamelam, and theatrical performances like Kathakali, and Krishnanaattam. The instrument is popularly called as **Ilataalam** with discs having a diameter of about six inches. As the principal rhythm keeper of loud orchestral or background music, it also produces an equally loud sound.

Chengala Traditional, Theatrical

This is a bell metal gong used in Kathakali etc. Sometimes Chengala is equated with Kshemangalam or Semangalam, used by the mendicants of the Tamil Nadu. The instrument consists of a bronze disc, hard and thick in the middle. It is played by holding it in the left hand and striking it with a stick held on the right hand. Two sizes of Chengalas are in vogue.

It is an inseparable item in the dance dramas like Kathakali and Krishnanaatam and also in some of ritualistic musical performances like Kaalitheeyaattu.

Chiplaa-Katta (Traditional)

Chiplas or Chipla-kattas are wooden clappers used by Bhaagavatars, during their religious musical discourses (Hari-katha) at the temple premises, during spiritual conferences etc. The utility of the instrument is to keep the rhythm of the songs and provide effect to dramatic dialogues.

Chilanka – Ritualistic and Theatrical

Chilanka refers to the different types of jingling anklets of bronze, silver, gold, worn by classical and folk dancers, ritual dancers and the temple oracles called Velicchappaadu of the non-Aryan temples like Bhagavati-Vattom, Ayyappan-Kaavu, Kaali Kovil etc.

The jingle bells are popular all over India and are referred to, under various names like Sathangai, Gejjai, Noopuram, Kinkini, etc.

Pulluvan Kudam (Ritualistic Folk)

Kudam ,meaning pot, is a rare a mud pot, a little bigger and stronger than the usual water container, for belly, which is open at the mouth and bottom , covered with animal skin. The instrument is capable of producing two or three notes and its typical vibrations in accordance with the rhythm of the song. Kudam is both musical and rhythmical and is generally played by the women of the Pulluvan community.

Nantuni – Ritualistic, Folk

Nantuni is also called `Namtuni' and `Nan-dhvani' (sweet sound). It is a compound instrument producing drone and rhythmic sequences. The instrument is played with a plectrum made of horn. While playing, the artistes uses one string for drone effect, and the other, for rhythmic playing.

The musical pillars at the Sri Padmanaabha Swamy Temple, Trivandrum, ritualistic

This temple has an unusually big Mandapam, called Aayiram Kaal Mandapam (Mandapam of thousand pillars). The stone pillars have beautiful Pauranic figures, chiselled on them. But what strikes one most, is the musical tones emanating from the pillars. The pillars are carved with such perfection that, the melodious sounds that emanate from each of the pillar, when struck with a light spoon or rod are destined and long-vibrating. It is said that the sounds emanating from the pillars were distinct from one another and provided not only pitch and rhythmic support to Vedic chants, but also to the religious singing and dancing, presented by the temple dancers.

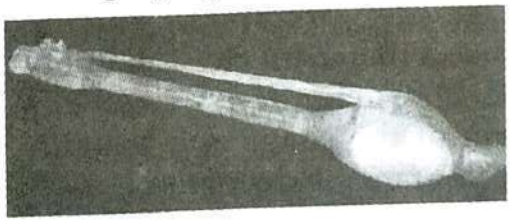

AN OLD STRINGED INSTRUMENT

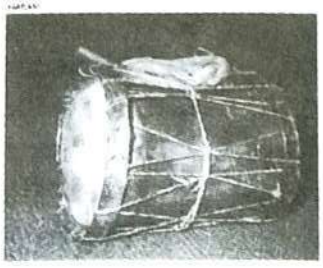

TRIKKAMPURAM KRISHNAN KUTTY MARAAR. KSHETRA VAADYA LEGEND

WHICH CROSS-ROAD IN CULTURE ARE WE AT, NOW?

Pt. Dhruba Ghosh

Famous Sarangi Maestro

At the outset, whilst I am basing my paper on Indian Music as a whole, I am primarily looking at the topic from the perspective primarily of Hindustani Music. I must confess that I am not much technically familiar with the current trends in Carnatic Music.

Anyone directly or even remotely connected with the performing arts of India, be it classical, religious or folk are ever anxious to unilaterally proclaim that it is the richest and the most ancient in the whole world and is centrally spiritual in nature.

We are badly suffering from an island-culture mentality. Since we are lazy to find out about actualities and developments in the history of other cultures, we smugly convince ourselves of our greatness without verifying and confirming our true greatness.

Guru-Shishya Parampara: The only phenomenon that has sustained itself over centuries and gone to great heights is the Guru-Shishya Parampara, even with the advent of music schools or Universities with Music Departments. The Parampara has been constantly evolving and frauds have also been evolving at the same time. However sustainable traditions have the element of change built into them to be able to absorb and assimilate the evolution happening in Man and Nature. In the name of tradition anyone claiming to be a die-hard traditional purist is relevant only as a point of reference only. Other cultures too have had their own lineages of Guru-Shishya Parampara and with great sanctity attached to it, like we do or pretend to do. What the Indian parampara has produced is performing artistes largely who also double as gurus, unlike in the West where Teachers are generally a different vocation than performers. The others product is the connoisseur who may be from a parampara or then from the listeners' parampara which has an existence of its own.

Music Market: With the floodgates to patronage thrown open from the portals of durbars of kings, rajahs, nawabs, zamindars to public domain, the art of managing the economics of music making and

listening has undergone a sea-change. Whilst much more opportunities are available today, severe imbalances have also surely crept in. The small time system of supporting artistes through arranging their performances on small scales has almost been crushed out, except for some wise music circles.

Economic demands on artistes has also increased manifold as music making isn't a guaranteed 9 to 5 job. It demands immense behind-the-scene sadhana and intensive training from the Guru for years on end. Hence the equations have also changed. Talented ones are studying only as much as is required to set up shop. Nonetheless, silently true masters are still spending their time honing their already established expertise in their respective fields as well as teaching truly committed pupils in the tradition, irrespective of glamour, or perhaps a busy concert schedule in rare cases.

This is where the free-market patronage system comes in and with a lot of prosperity (for some, if I may say) and also a lot of erosion of sustainable support system for the arts.

The state apparatus rushes in to establish organizations with top-heavy staff. On the other hand corporates rush in to funnel funds into cultural events or organizations, from their unreasonably amassed huge profits essentially to enjoy huge publicity and gloriously project themselves as saviors of art and culture. etc.

We are therefore, in a sense, confronted also with a shapeless mass of performers who have honed their stage skills, packaging skills and Internet skills who'd like to fit into this market. Nothing wrong.

All this whilst we are repeatedly chanting over the last six or seven decades that Indian culture is at a cross-road. We are at the `N'th cross-road, yet nowhere near a systematic planned approach towards preserving and sustaining the traditional performing arts with the enlightened participation of practitioners.

Today we are at the **"Grab whatever you can"** cross-road.

Are there solutions to this quandary?

A broad discussion: Firstly return to the microcosm:

A). **Home of the Guru**: We have to return to the smallest unit of culture i.e. the home of the Guru. Nurture the gurus and nurture the potential disciples. This demands a sufficiently strong research team who will go out and after due legwork bring back information on gurus and potential pupils. Just by putting an ad in major dailies will only help to bring only clever watchful players to the grant giving department. Most funding bodies have never placed any priority on foot soldiers as informants to ferret data on potential recipients. These foot soldiers have to be trained in collecting data from various sources and then verifying the same. They have also to access oral sources in different towns through local music

schools, music departments in the local university or Radio and Television stations, etc. Please don't expect Gurukula-s as prices of vegetables have skyrocketed and there is no space for kitchen gardens.

B). **Encourage and develop more Sangeet Sabhas:** We have galloped into massive event management with Classical music and dance. Little are the event management groups able to grapple with the actual cultural content of the menu. They appear to be a vehicle, which is racing past without any braking mechanism. The reason why I say this is that, such shortsightedness is only perpetuating the corporate greed and kind of communicating the contagious disease to the performing artistes. In order to gain maximum publicity mileage they are insisting only on the 5-star or 7-star artistes. Fine, but, then this has come about to conclusively handle music performance as a market commodity, which it is true only to an extent. The super-star artistes are perhaps very unhappy deep down as they are finding very little time to further develop their art. I have seen grand masters like Ustad Ahmedjan Thirakwa in his 90s still practicing a minimum of 6 to 8 hours daily without fail.

Please understand that I am certainly not against financial sponsorship. I am highlighting the fact that the **corporate outlook is least bothered about actual sustainable nurturing of culture.** They have gone so far, beyond cultural audit that a sad prophecy could come true in the near future —- top performers may even be asked to wear concert dress with the logo of the sponsoring company like sportspersons are obliged to. Who knows, we may even slide down towards IPL type of business operators controlling the Music Market. Or perhaps have we already?

Hence it is very vital that we return to the microcosm i.e. encourage formation and sustenance of local Sangeet Sabhas. Even super-star artistes will agree to come and perform for low fees. At such gatherings, huge ear-numbing loudspeakers will not be required, as otherwise happens at sponsored mega-events. The performer will be closely heard and closely watched by audiences, the first row sitting just about three or four feet away from the artiste himself/herself. I do remember listening to Sarod Samrat Ustad Ali Akbar Khansahib as a kid again at a Music Circle programme in Mumbai, sitting barely three feet away. I was later also fortunate to receive taleem from him.

The false gloss and glitter could very likely melt out of context and the artiste will be seen in his or her true artistic keenness. This will engender potential disciples to feel encouraged to make the first move towards meeting the artiste personally and proposing to learn vigorously from the master himself.

C). **Push towards a Critical Mass:** The money-driven star-obsession corrosion is eating into the process of Guru-Shishya

Parampara, the relentless sadhana and the reluctance of artistes to interweave themselves into the social context. This critical mass to resist all this ought to have been generated within the musician milieu itself.

D). **Proper R & D in content and theory also:** Latter 20th cen. trend: Take the next generation of top artistes who ushered in an era of huge music events more as a rule than as an exception. These artistes took to a diffused image of a classical musician seeming to appear as film stars. That's when music making began to become corporate with that kind of money splashed around. Nothing wrong by itself, but it engendered a whole set of wrong notions in the generation following them about music making and patronage. The simple test is that those Hindustani stars who became trend-setters in the 80s did some very serious work in their art whether the conservatives liked it or approved of it or not. From then on we have had a good two-and-a half decades with no more critical mass happening. There have been no major padigram shift in content of music making except for aping the star culture.

Star-performers as well as **planet**-performers as well as **asteroid** performers have to delve deep into what they are actually performing. They would have to review the content at regular intervals and if necessary withdraw into a shell to let this happen. We have the shining examples of Ustad Bade Ghulam Ali Khan, Ustad Amir Khan and Pt. Kumar Gandharva (in this case prompted by his health reason). They've also to choose closely known critics and interact with their observations. I've personally gained so much from this.

Simultaneously the large neglect of musicological education by the performers is something that cannot be appreciated. Given the fact that more number of musicians are literate today. Nevertheless, there is hardly a musician who can objectively speak about his art, he has little to inform us about the tradition he professes to hail from, about teaching methodology, leave aside active research in the very content of his performances. Sourcing of information outside of a personal oral tradition is practically non-existent. Mixing with practitioners of other fine arts is also more-or-less absent, Had this happened, a performing artiste would make himself so much more relevant to the social need for art holistically speaking.

It may be interesting to note that even the sponsor-patrons are not too keen that artistes develop in this fashion. That keeps them free to package the artiste the way they want, knowing well that the artiste cant afford to care about if he wants to share some vital information about his art. Look at the deluge of Sufi themed festivals or high profile events with a very very scanty knowledge of Sufism, both on the promoter's side as well as the artiste's. To them playing a fast tune repeated to a short cycle tala repeated *ad nauseum* is Sufi music. Pure bullshit ! They are confusing Sufism as synonymous with the whirling dervishes who are but a kind of Sufi dancers

अवनद्ध वाद्य तबला का बनारस बाज एवं घराना

पं. कामेश्वर नाथ मिश्र

सुप्रसिद्ध तबला वादक एवं संगतकार

अवनद्ध वाद्यों में वर्तमान में सबसे प्रमुखतम् एवम् सर्वाधिक लोकप्रिय लय-वाद्य तबला ही है, जिसके बिना आज का कोई भी संगीत-अनुष्ठान शायद ही पूर्ण होता हो। इस वाद्य के स्वरूप से मिलते-जुलते अनेक लय-वाद्यों के विषय में वाल्मीकि रामायण, महाभारत, भरत-नाट्यशास्त्र, प्राचीन गुफाचित्रों एवम् अनेक तत्कालीन संगीत ग्रन्थों में उल्लेख मिलते हैं। भारत के प्राचीन इतिहास और मुगल शासक सम्राट अकबर एवं उनके बाद की तीन चार पीढ़ियों तक के ऐतिहासिक, सांगीतिक अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में तबला वाद्य एवं उसके किसी वादक का उल्लेख तक नहीं मिलता, जिसके यह स्वतः सिद्ध होता है, कि 13वीं शताब्दी के शासक अलाउद्दीन के दरबारी कलारत्न अमीर खुसरो को इस वाद्य का जनक मानना एक भ्रान्तिपूर्ण अवधारणा है। वस्तुतः मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह 'रंगीले' के दरबारी कलारत्न मूर्धन्य गायक द्वय सदारंग-अदारंग द्वारा एक नवीन गायन शैली 'खयाल' के प्रस्फुटन एवम् प्रस्तुति की उपयुक्त, मनोरम, संगीत हेतु खयाल गायन शैली के साथ तबला वाद्य का आविष्कार अधिक उपयुक्त एवं सार्थक प्रतीक होता है।

प्राचीन काल के वैदिक संगीत की प्रचलित सामगान, छन्द, प्रबन्ध, विष्णुपद, ध्रुपद आदि का उल्लेख मिलता है। दर्दुर, नब्ला आदि एकल किन्तु स्वतंत्र एवं पूर्ण वाद्य हैं, और इनकी वादन शैली तबले की वादन शैली से सर्वथा भिन्न है। देश, काल, एवम् सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थिति के परिवर्तन-स्वरूप देश की प्रचलित गायन, वादन, नर्तन शैलियों में भी अनेक परिवर्तन होते गये, जिनकी सर्वाधिक उपयुक्त संगति हेतु उचित अवनद्ध लय वाद्यों का आविष्कार हुआ, और तबला वाद्य ने अपनी सार्थकता, उपयुक्तिता प्रमाणित करते हुए सर्वाधिक लोकप्रियता में शिखर-सम्मान प्राप्त किया, जिसका सम्पूर्ण-श्रेय इस वाद्य के संगीत साधक, चिन्तकों, मर्मज्ञों, लोकप्रिय तबला वादकों को है, जिन्होंने पीढ़ी दर पीढ़ी वंशजों, शिष्य-प्रशिष्य परम्परा को शिक्षा, प्रदान कर, अपने-अपने बाज, वादन शैली एवं घरानों की मौलिकता को बनाए रखने में अमूल्य योगदान दिया है। तबला वाद्य के प्रमुख घरानों के रूप में मुख्यतः दिल्ली घराना, फर्रुखाबाद घराना, अजराड़ा घराना, लखनऊ घराना, बनारस घराना एवं पंजाब घराना उल्लेखनीय हैं।

बनारस बाज एवं घराना के प्रवर्तक पं0 रामसहाय जी की वंश-पराम्परा एवं पूर्वजों के इतिहास के अवलोकन से यह निर्विवाद सिद्ध होता है, कि आपके कुल में एवम् काशी में तबलावादन की एक मौलिक तथा निजी शैली पहले से ही विद्यमान एवं प्रचलित थी, जिसमें पं0 रामसहाय जी के पितामह पं0 सिया सहाय जी, पिता प्रकाश सहाय जी, चाचा द्वय पं0 प्रगास सहाय जी. पं0 शारदा सहाय जी जैसे कुशल तबला वादक एवम् नर्तक विद्यमान थे, जिनकी छत्रछाया, सान्निध्य में रहते हुए पं0 रामसहाय जी ने तीन वर्ष की आयु से तबला वादन की शिक्षा ग्रहण की, और 20 वर्ष की आयु आते आते काशी के कुशल तबल वादकों में आपकी गणना होने लगी। कालान्तर में उन्होंने मोदू खाँ के विषय में जाना। "मोदू खाँ साहब तबलावादन क्षेत्र में लखनऊ घराने के खलीफा हैं, जिनके पास तबला वाद्य की वेशकीमती, आमूल्य बन्दिशों का विशाल खजाना सुरक्षित हैं, किन्तु किसी

असाध्य शारीरिक व्याधि के कारण बन्दिशों का उचित, प्रभावशाली प्रस्तुति करने की असमर्थता के कारण कतिपय अपरिपक्व कलाकारों ने इन्हें 'परकटा कबूतर' की संज्ञा दे रक्खी हैं, और इनका मखौल उड़ाते हैं।'' खाँ साहब की विद्वता एवं शारीरिक असमर्थता के विषय में जानकर पं0 रामसहाय जी का सरल हृदय उनके प्रतिश्रद्धा से भर उठा। नवाब के संगीत जलसे में आमंत्रित कलाकारों के कार्यक्रम को पूरी तन्मयता से सुनने, और सही जगह पर किसी परिपक्व कलाकार की तरह दाद देने की प्रतिक्रिया को देखकर मोदू खाँ साहब भी पं0 रामसहाय जी की विलक्षण, नैसर्गिक, जन्मजात, विरासत में प्राप्त प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके, और इनके चाचा एवम् पिता से प्रशंसा करते हुए बोले—''आगे चलकर यह विलक्षण युवा देश का महान कलाकार होगा।''

92 वर्षों की अनवरत अवधि तक मोदू खाँ साहब के निवास स्थान पर लखनऊ में रहते हुए पं0 रामसहाय जी ने मोदू खाँ साहब से तबले की विधिवत अमूल्य धरोहर प्राप्त की। तबले के प्रति आपकी तल्लीनता, कठिन साधना, अनवरत अभ्यास में डूबे रहने की अभिरुचि एवम् उस्ताद मोदू खाँ के प्रति समर्पित अगाध श्रद्धा ने, खाँ साहब को खुले हृदय से अपनी सम्पूर्ण विद्या मुक्तहस्त प्रदान करने के लिए स्वतः प्रेरित किया। कुछ महीनों के लिए मोदू खाँ साहब के बाहर जाने की अवधि में उनकी अनुपस्थिति में उनकी बेगम ने अपने पिता से प्राप्त दहेजू की पाँच सौ गतें (लाहौरी-पंजाबी गतें) इन्हें सिखाईं, जो पंजाब घराने की विद्वतापूर्ण वादन शैली के विशिष्ट वादक थे। इस प्रकार पं0 रामसहाय जी की शिक्षा, साधना शीर्षस्थ होती रही।

नवाब गाज़ी उद्दीन हैदर (शासनकाल 1814-1826 ई0) की ओर से किसी विशेष अवसर पर एक विशिष्ट संगीत समारोह आयोजित हुआ, जिसमें देश के मूर्धन्य, साधनासिद्ध संगीत कलावन्तों का कार्यक्रम सुनिश्चित था, जिसमें सभी विशिष्ट विद्वानों एवं स्वयं नवाब ने पं0 रामसहाय जी की तबलावादन को सुनने की विशेष ईच्छा प्रकट की। उस समय तक पूरे लखनऊ में यह खबर आग की तरह फैल चुकी थी, कि उस्ताद मोदू खाँ एक हिन्दू लड़के को कई वर्षों से तबले की अपनी पूरी धरोहर की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं, जिसका नाम रामसहाय है। उस संगीत समारोह के समय आपकी आयु 32 वर्षों की थी, जिसमें पं0 रामसहाय जी ने देश के धुरन्धर संगीत विद्वानों के मध्य लगातार 7 दिनों तक अपूर्व तबला वादन किया, जिसमें पूर्व में प्रस्तुत किसी भी बन्दिश की पुनरावृत्ति नहीं हुई। पं0 रामसहाय जी द्वारा मनोमुग्धकारी, चमत्कृत वादन शैली, अनुपम, विशिष्ट बन्दिशों के विशाल संग्रह एवं विद्वता से उपस्थित मूर्धन्य, अनुपम गायक, वादक, नर्तक सभी मन्त्रमुग्ध, चमत्कृत, विस्मृत, अवाक् रह गये।

पं0 रामसहाय जी की वंश-परम्परा में उनके अनुजत्रयी-श्री जानकी सहाय जी, गौरी सहाय श्री ईश्वरीय सहाय जी, जो कुशल नर्तक थे, उन तीनों को पं0 रामसहाय जी ने बनारस-बाज की भरपूर, विशिष्ट शिक्षा प्रदान की, और शिष्य-परम्परा में श्री भगत जी, श्री शरण जी, श्री प्रताप महाराज, श्री यदुनन्दन जी एवम् श्री बैजू जी को शिक्षा प्रदान कर बनारस घराने की तबलावादन परम्परा को समृद्ध करने की आधार शिक्षा का शिलान्यास किया।

पं0 रामसहाय जी ने उस्ताद मोदू खाँ से प्राप्त तबला वादन शैली में अपने मनन, चिन्तन से अनेकानेक विविध परिवर्तन कर एक नवीन वादन शैली निर्मित की, जो व्याकरण सम्मत वादन विधि से ओतप्रोत, एवं समस्त अवनद्ध ताल वाद्यों के प्रमुख बोलों से समन्वित हुई। तबलावादन के लिए बैठने का आसन, अँगुलियों के रख-रखाव, नवीन वादन विद्या में पश्चिम बाज के प्रमुख सभी घरानों में प्रचलित मध्यमा एवं तर्जनी अँगुलियों की प्रधानता के स्थान पर बनारस बाज में अनामिका और मध्यमा अँगुलियों का सहयोग लेते हुए, तर्जनी अँगुली से बोलों को निकालने की विधि मृदङ्ग वादन के आधार पर अपनाई। बायें के वादन में बायें हाथ की गद्दी, दोनों तरफ थपकी, घर्षणा एवं दाहिने के वादन में अनामिका, मध्यमा, तर्जनी अँगुली के सहयोग से गम्भीर बोलों का नवीन निर्माण किया, जिससे दाहिना-बायाँ में पूर्ण सामंजस्य, समन्वय एवं वादन में गम्भीरता, रससिद्धि क्षमता की श्रीवृद्धि हुई, दोनों ही एक दूसरे के पूरक होकर रसवृष्टि करने लगे। पूर्व में पश्चिम बाज में प्रचलित बायें (डग्गे) को गोद में रखकर बजाने की प्रथा को बदलकर, आपने दाहिने-बायें को सामने रखकर वीर आसन में बैठकर वादन करने की परम्परा का शुभारम्भ किया। स्वतंत्र तबला वादन में, क्रमानुसार व्याकरण-

3-Back Side K

सम्मत विधि से प्रस्तुतिकरण का प्रचलन किया, और ध्रुवपद, धमार, खयाल, टप्पा, चतुरंग, त्रिवट, ठुमरी, होरी, कजली, चैती, दादरा, गज़ल, गीत आदि शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, लोक संगीत विधा के साथ-साथ तंत्री वादन में वीणा, सुखबहार, सितार, सरोद, सारंगी, इत्यादि तथा कथक नृत्य शैली के अनुरूप, उपयुक्त, रससिद्ध तबला संगीत के लिए ऐसी अनुपम बन्दिशों की रचनाएँ की, जो सर्वथा उपयुक्त, रसबोधक होकर मंच-प्रदर्शन को प्रभावपूर्ण बनाकर कार्यक्रम को विशिष्ट बनाने में सक्षम हों। शृंगार वीर, शान्त, अद्‌भुत रसों की अनुकल्पना को ध्यान में रखते हुए स्वतंत्र वादन का प्रारम्भ बिलम्बित लय में ठेका कायम करने के उपरान्त क्रमशः उठान, मोहरा-जोड़ में-अंगुस्ताना, ठाह, दुगुन, चौगुन लय में—विशिष्ट कायदा, बाँट, गत, रेला, गत-फर्द, टुकड़ा, द्रुत में लग्गी-लड़ी अन्त में फरमाईशी बन्दिशों की प्रस्तुति में छन्द, परन, फरमाईशी, कमाली चक्करदार के विभिन्न प्रकार, एकहत्थी, लोम-विलोम, देवस्तुति आदि बन्दिशों से स्वतंत्र तबलावादन की प्रभावशाली शैली का नवनिर्माण किया। विभिन्न छन्दों में स्तुति, आड़, बिआड़, कुआड़, सवाई, पौने दुगुन आदि लयों की प्रभावशाली बन्दिशों के समावेश से पं. राम सहाय जी ने वनारस बाज एवं घराने को हर प्रकार से घनी एवं अन्य प्रमुख तबला घरानों से एकदम अलग विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया, काशी में तबला वादन की एक सर्वथा निराशी गौरवपूर्ण-परम्परा का श्रीगणेश कर यशस्वी वंशजों, शिष्यों प्रशिष्यों में बाँटकर सन् 1826 ई0 में काशी में दिवंगत हुए। कालान्तर में आपके अनुज श्री जानकी सहाय जी एवं ईश्वरी सहाय ने अपनी विशिष्ट संगीत प्रतिभा से तबलावादन की अनेक विशिष्ट बन्दिशों की रचनाओं का समावेश कर बनारस बाज को और भी उत्कृष्ट एवं प्रभावशाली, समृद्विशाली बनाकर दोनों भ्राता निःसन्तान काशी में स्वर्गवासी हुए, और वंश-परम्परा वृक्ष तृतीय भ्राता गौरी सहाय के एकमात्र यशस्वी सुपुत्र 'संगीत-सम्राट्' के अलंकरण से अलंकृत पं0 भैरो सहाय जी द्वारा पुष्पित-पल्लवित हुई, और कालान्तर में 'वाद्य रसराज'' पं0 बलदेव सहाय उनके ज्येष्ठ पुत्र नन्हू सहाय 'सूरदास', द्वितीय लक्ष्मी सहाय, तृतीय भगवती सहाय, चतुर्थ देवी सहाय ने घराने की वादन-परम्परा की कीर्ति-पताका को नवीन आयाम देकर यथेष्ट ख्याति अर्जित की, जिसे भगवती सहाय जी के सुपुत्र द्वय पं. शारदा सहाय एवं रामशंकर सहाय ने अक्षुण्ण बनाए रक्खा। पं0 शारदा सहाय जी ने लगभग 40 वर्षों तक लन्दन में रहते हुए सैकड़ों देशी-विदेशी शिष्यों को बनारस घराने की मौलिक शिक्षा देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति दिलाने में विशेष योगदान देते हुए मस्ती भूमिका निभाई, वर्तमान में इस वंश-परम्परा का गुरुतर भार विष्णु सहाय (संजू) दीपक सहाय, शिव सहाय आदि के सबल कन्धों पर है, जिसे निरन्तर शीर्षस्थ स्थान पर बनाए रखने में सभी युवा-वंजश सतत् प्रयत्न रत हैं।

पं0 रामसहाय जी की शिष्य-परम्परा के श्री भगतजी की शिष्य परम्परा के भैरोजी, शामाजी, बून्दी मिश्र, श्यामसुन्दर मिश्र, रामायण राय आदि प्रमुख रहे। श्री भैरोजी के प्रमुखतम् शिष्य पं0 अनोखेलाल मिश्र अपने युग के सर्वाधिक लोकप्रिय यशस्वी वादक के रूप में हमेशा याद किए जाते रहेंगे।

पं0 रामसहाय जी की शिष्य-परम्परा में श्री बैजू जी तबले की विशिष्ट बन्दिशों की गणना में फर्द नाम की बन्दिश के जन्मदाता रहे। यह बन्दिश केवल बनारस घराने में ही बजाई जाती है, किसी अन्य घरानों में नहीं। बैजू जी की वंश-परम्परा में पुत्र बड़कू जी-छोटकू मिश्र एवं उनके सुपुत्र गणेश प्रसाद मिश्र, ननकू महाराज, मन्नूलाल मिश्र, प्रकाश महाराज एवं शिष्यों में भाँट समाज के बगेसरी जी प्रमुख रहे।

श्री यदुनन्दन जी मिश्र की वंश-परम्परा में सुपुत्र पुरुषोत्तम मिश्र ने विशेषख्याति अर्जित कर तबले की विशिष्ट बन्दिश ''चौपल्ली (चार लयों से युक्त) को चौबीस दर्जे तक विस्तार देने का श्रेय प्राप्त किया। कलकत्ते के सम्भ्रान्त संगीत सुधी परिवार श्री मन्मथ नाथ गांगुली परिवार के श्री कृष्ण कुमार गांगुली (नाटू बाबू को प्रथमतः तबले की शिक्षा आपसे मिली, बाद में श्री नन्हू सहाय एवं स्वनाम धन्य 'वाद्य शिरोमणि पूज्य गुरु पं0 कंठे महाराज जी से भी नाटू बाबू ने शिक्षा प्राप्त की। पुरुषोत्तम मिश्र से सुयोग्य, पूर्ण पटु, चौमुखी तबला वादक श्री श्यामलाल मिश्र (छम्माजी) ने प्रथमतः तबले की शिक्षा प्राप्त की, बाद में अनेक घरानों के विद्वानों से भी आपने वादन विद्या लेने में कोई संकोच नहीं किया, और देश के प्रमुख सभी घरानों की वादन शैली के आप पूर्ण पटु वादक के रूप में विख्यात हुए। पं0 रामसहाय जी की शिष्य-

परम्परा की तीसरी कड़ी में श्री शरण जी मिश्र जो मूलतः आजमगढ़ के हरिहरपुर ग्राम से काशी के कबीर चौरा मुहल्ले में आ बसे, जिन्होंने, पं0 रामसहाय जी से तबले की विशिष्ट प्राप्त कर अपनी विशिष्ट प्रतिभा, विद्वता एवं मौलिक सूझ-बूझ से कालान्तर में अपने वंशजों एवं शिष्यों में तबला वादन विद्या बाँटकर अपना घराना बनाया जिसमें अनेक वादकों ने देशव्यापी ख्याति अर्जित की, जिसमें आपके एकमात्र सुपुत्र श्री दरगाही मिश्र ने अपने पिता से विरासत में प्राप्त तबलावादन की विशिष्टता के साथ-साथ गायन एवम् तंत्रवादन की शिक्षा पियरी गायन घराने के मूर्धन्य विद्वान पं0 शिवसहाय मिश्र एवं अपने श्वसुर श्री शिवदास-प्रयाग मिश्र से प्राप्त कर चतुर्मुखी संगीत प्रतिभाधनी विद्वान मान्य हुए।

श्री शरण जी की वादन शैली में दाहिने-बायें के बोलों का उचित समन्वय, अँगुलियों के रखरखाव एवं बोलों को निकालने की शैली, बोल-बाँट, पल्टों की विद्वतापूर्ण उलट-पलट, वादन में शहजोरी, अत्यधिक तैयारी में भी बोलों की स्पष्टता आदि गुणों का मणिकांचन योग विशेषरूप से विद्यमान था, साथ ही विशिष्ट बन्दिशों का अपूर्व संग्रह से आप काशी के मान्य विद्वानों में गिने जाते थे। आपकी तबला वादन की विरासत को श्री दरगाही मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र श्री विक्रमादित्य मिश्र (भै विक्कूजी) ने कालान्तर में अपने सुपुत्र गामा मिश्र, पौत्र रंगनाथ मिश्र एवम् यशस्वी शिष्य पं0 शामता प्रसाद मिश्र (गुदई महाराज) के द्वारा घराने को नई ऊँचाई प्रदान की।

पं0 रामसहाय जी की शिष्य परम्परा में श्री रघुनन्दन जी मिश्र विद्वान वादक थे। बनारस घराने की तबले की अनूठी, अलम्य, प्रभावशाली बन्दिशों का अनूठा संग्रह आपके पास सुरक्षित था। काशी के कबीर चौरा मुहल्ले में आपका निवास स्थान था। बनारस घराने की मौलिक तबलावादन शैली के कुशल वादक थे। आपके अपने दोनों पुत्रों श्री बचनी मिश्र एवम् कुत्तुन मिश्र को तबले की विशिष्ट शिक्षा प्रदान की। दोनों ही काशी के कुशल तबला वादक हुए।

पं0 रामसहाय जी की शिष्य परम्परा 'सप्तर्षि-मण्डल'' के देदीप्यमान नक्षत्र, माँ काली की कृपा भक्ति के अनुठे कृपापात्र, मूर्धन्य, नक्षत्री तबला वादक पं0 प्रताप महाराज (परतप्पूजी) काशी के महान तबलावादकों में अपने युग के ऐसे धुरन्धर तबला वादक थे, जिन्होंने विशिष्ट संगीत महफिलों में देश के धुरन्धर संगीत विधामयी के विद्वानों के चुनौती देकर, उनकी चुनौती स्वीकार कर अपनी चमत्कृत वादन शैली से सबको नतमस्तक कर सबका आदर, स्नेह प्राप्त कर देश के गुणी रियासतों तक काशी की कीर्ति-पताका फहराकर देश व्यापी ख्याति अर्जित की और कालान्तर में अपनी वादन शैली परम्परा से वंशजों-शिष्यों में विद्या बाँटकर अपना घराना कायम किया।

प्रताप महाराज का बाज अत्यन्त मर्दाना एवम् शहजोरी युक्त था, जो सुननेवालों के मानस पटल पर अपनी अमिट छाप अंकित कर देने में पूर्णतया सक्षम था। रात के सन्नाटे में आपके दायें-बायें के बोलों को स्पष्ट सुना जा सकता था। आपके हाथों की शहजोरी, डपट, शक्ति के तत्कलीन सभी वादक कायल थे। आपका दैनिक अभ्यास 18-20 घण्टों तक अहर्निश चलता रहा। अत्यन्त ठाह लय में एक बोलों को शुरु करते और द्रुत लय आते-आते घण्टों व्यतीत हो जाते थे। जीवन के अनेक वर्षों के कठिन अभ्यास क्रम से प्रस्तुत वादन की प्रतिध्वनि सुनने वालों के कर्णकुहरों में आजीवन गूँजती रहती। आपकी वादन कला की चर्चा सुनकर नेपाल के तत्कालीन नरेश ने आपके विशेष आमंत्रण देकर दरबार में नियुक्त किया, जहाँ आपने उस युग के विलक्षण गायक चाँद खाँ-सूरज खाँ के साथ अनूठी तबलासंगति से उन्हें आजीवन के लिए अपना मुरीद बना लिया, जिनकी विलक्षण गाय की के साथ संगत करने में बड़े-बड़े धुन्धर वादक भी घबराते थे।

नेपाल नरेश से यथेष्ट मान-सम्मान, धन, यश, कीर्ति प्राप्तकर नेपाल से काशी तक अपनी धवल कीर्ति पताका फहराकर, अपने एक मात्र सुपुत्र श्री जगन्नाथ जी मिश्र को मूर्धन्य कुशल तबलावादक के रूप में स्थापित कर काशी में स्वर्गवासी हुए। कालान्तर में आपके घराने में श्री बलमोहन जी, पुसुत्र बाचा मिश्र एवम् यशस्वी पुत्र गुदई महाराज जी ने घराने की अक्षुण्ण-परम्परा में अपने वंशजों में सुपुत्र कुमार लाल मिश्र कैलाशमिश्र एवम् अनेकानेक शिष्यों को तैयार कर काशी का नाम उज्ज्वल किया।

पं0 रामसहाय जी की शिष्य परम्परा के उपरोक्त सभी विद्वान बनारस घराने की वादन शैली में प्रयुक्त कायदा, बाँटा, रेला, गत, फर्द, लग्गी-लड़ी, टुकड़ा,

3-Front Side K

परन, स्तुति की स्वतंत्र वादन की अनूठी शैली एवं गायन, वादन, नर्तन की कुशलसंगीत के मूर्धन्य विभागाध्यक्ष के रूप में प्रतिष्ठापित हुए, जिनके वादन कला की शैलीगत मौलिकता एवं निजी पहचान पीढ़ी दर पीढ़ी सदियों से काशी की गरिमा को बढ़ाती रही है।

पं0 रामसहायजी की वंश-परम्परा में उनके कनिष्ठ भ्राता श्री गौरी सहाय जी के एकमात्र यशस्वी सुपुत्र, अपने युग के अप्रतिम प्रतिभा सम्पन्न तबला वाद्य के विलक्षण मूर्धन्य वादक पं0 भैरो सहाय जी (जन्म सन् 1815 ई0, मृत्यु-चैत्र शुक्ल पंचमी सन् 1894 ई0) को लगभग 6वर्षों तक पं0 रामसहाय जी से, एवं उनकी मृत्यु पश्चात, अपने पिता एवं चाचा द्वय श्री जानकी सहाय जी एवं ईश्वरी सहाय जी से अपने घराने की वादन-विद्या विरासत में अमूल्य-धरोहर के रूप में प्राप्त हुई, जिसे अपनी कठोर साधना, तपस्या, अभ्यास एवं व्यक्तिगत विलक्षण प्रतिभा से आपने देश व्यापी गरिमा एवं लोकप्रियता दिलाने में आपने विशिष्ट योगदान दिया, और गत, तोड़ा, छन्द, क्लिष्ट से क्लिष्टतम लयकारियों की सहज, प्रस्तुति में नवीन रचना प्रतिभा का अद्‌भुत प्रदर्शन करते हुए स्वतंत्र वादन एवं संगति की किसी भी बारीकी की निपुणता ने देश के मूर्धन्य गायक, वादक, नर्तक कलाकारों का सबसे प्रिय एवं चहेता कलाकार बना दिया।

आपके एकमात्र यशस्वी पुत्र पं0 वलदेव सहायजी को तबले की सम्पूर्ण शिक्षा पिता से विरासत में मिली। घराने की परम्परागत वादन शैली के अपने युग के विद्वान, रससिद्ध वादक के रूप में, अपनी मनमोहक, लुभावनी आकर्षक वादन शैली के प्रभावशाली वादक के रूप में आप ''वाद्य-रसराज'' की संज्ञा से विभूषित हुए। स्वभाव से अत्यन्त विनम्र, सरल, निरभिमानी, सर्वाधिक लोकप्रिय वादक पं0 बलदेव सहायजी ने अपने चारों यशस्वी पुत्रों श्री सूरदास (नन्हूजी) जी (ज्येष्ठ), पं0 लक्ष्मी सहाय जी (द्वितीय), पं0 भगवती सहाय जी (तृतीय श्री देवी सहाय (चतुर्थ) एवम् शिष्य के रूप में पूज्यगुरु 'वाद्य-शिरोमणि' पं0 कंठे महाराज जी को विरासत में प्राप्त घराने की वादनशैली की अमूल्य धरोहर से सींचकर विद्वान तलबावादक के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

''स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान सर्वपत्र पूज्यते'' की उक्ति की वास्तविकता को सप्रमाण चरितार्थ करने वाले स्वनामधन्य, संगीत जगत के मर्मज्ञ विद्वानों, सुधीजनों के गले के कण्ठहार की भाँति आजीवन सुशोभित पं0 कंठे महाराज जी ने अपनी मनोमुग्धकारी वादन शैली से काशी नगरी को जो गरिमा प्रदान की, उससे प्रत्येक संगीत प्रेमी, साधक, कलाकार, विद्यार्थी का सिर श्रद्धा एवं आदर के साथ स्वतः ही इस महान संगीत-विभूति प्रेमी, साधक, कलाकार, विद्यार्थी का सिर श्रद्धा एवं आदर के साथ स्वतः ही इस महान संगीत-विभूति के झुक जाता है। काशी के कबीर चौरा मुहल्ले के प्रतिष्ठित संगीतज्ञ श्री दिलीप मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र पं0 कंठे महाराज का जन्म सन् 1879 ई0 में हुआ। लगभग 9 वर्ष की आयु में आपने पं0 वलदेव सहायजी की शिष्यता की। कालान्तर में अपनी कठोर साधना, निष्ठा, गुरुभक्ति, श्रद्धा, समर्पण एवं घण्टो अनवरत कठिन अभ्यास, तपश्चर्या से आपने सुयोग्य शिष्य होने की अपनी कर्मठता सिद्ध कर, गुरु से बनारस घराने की दुर्लभ, वेश कीमती, अनूठी बन्दिशों का अक्षय भण्डार, अमूल्य धरोहर सहजतापूर्वक प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त किया। अपने जीवनकाल में आपने असंख्यों शिष्यों को तबलावादन की शिक्षा प्रदान की, जिसमें सुयोग्य उत्तराधिकारी पुत्र पद्मविभूषण पं0 किशन महाराज, पौत्र पूरणमहाराज, दौहित्र प्रकाश महाराज, पौत्रतुल्य पं0 शारदा सहाय, पं0 रामशंकर, सहाय, नाटूबाबू, आशुतोष महाचार्या, विश्वनाथ बोस, सेचन मिश्र, यदुनाथ मिश्र, नन्हू मिश्र, बद्रीमहाराज, जदुनाथ सूपकार एवं स्वयं लेखक आदि शिष्यों ने अपनी शिक्षा, साधना, तपस्या, गुरुभक्ति एवं व्यक्तिगत प्रतिभा, क्षमतानुसार उल्लेखनीय प्रगति करते हुए संगीत जगत में अपनी विशिष्ट पहचान अंकित की।

आप के अतिरिक्त पं0 गोकुल जी मिश्र मौलवीराम मिश्र, वीरूजी मिश्र, मट्टूजी मिश्र, वाचमिश्र, वासुदेव जी, श्यामलाल जी (छम्माजी बूँदी मिश्र, नागेश्वर प्रसाद मिश्र आदि अनेकानेक ऐसे युगीन तबलावादकों को काशी की पुनीत भूमि पर जन्म लेने, संगीत साधना से देशकायी ख्याति अर्जित करने का सौभाग्य मिला, जिनके कृतित्व, व्यक्तित्व, वादन शैली आदि की महत्ता के लिए किसी ग्रन्थ द्वारा ही पूर्ण प्रकाश डाला जा सकता है।

Santoor-origin, evolution & development

Shri Abhay Rustum Sopori

Famous Santoor Maestro

Santoor belongs to the family of earliest stringed instruments of India called *Veena*. As is generally believed that one of the three forms of the *Veena* was either plucked or struck with a short wooden striker called *Kasht* which was in vogue during the *Vedic* periods, popularly known as *Vaana*. It can be conjectured that in its early stage the Indian *Shatatantri Veena* and *Katyayani Veena* travelled westwards and became *Psanteer* in Persia and *Psaltray* in Babylon. This instrument was also used in every *Vedic* ritual. In some of the *Vedas* and *Samhitas, Shatatantri* is also called *Vaana*.

In the history of world music we find musical concept, terms and instruments of one country being adopted by another. In the *Vedic* literature, we find a similar reference to *Tantri*. The *Tantri* which had 100 strings was called *Shatatantri*, which implies that these were the creation of Indian thought and culture and the instrument changed its dimensions from time to time.

The *Shatatantri Veena* survived in Kashmir and was used at every *Vedic* ritual. It remained associated with the temple music from the earlier times till date. As it was already associated with the *Shaivites*, it was naturally adopted in the *Sufi* music of Kashmir. Simultaneously all the *Veenas* including the Santoor (*Shatatantri*) were associated with temple music and did not become a part of the folk music. It retained its status and dignity in the musical culture that was termed as classical music, including the music of *Sufi's*, known as *Sufiana Qulam* in Kashmir. However, it is a fact that Santoor resembling instruments, with different names are popular in folk music in Eastern Europe, Hungary, Poland, North Africa, Central Asia, Iran and china etc. Yet all these instruments resembling Santoor have a major difference in tone, playing techniques, number of strings, designing of the instrument and shape and size of the strikers. The Indian Santoor though divided in three parts over the shaft like *Santoori* of Greece, *Santoor* of Iran, European *Symbalam*, *Hammer-Dulcimer* of America, etc. is still completely different in the tone, structure, design of strikers, number of strings, designing of bridge, playing posture and technique. In this instrument

(*Kashmiri* Santoor) only the middle portion is used for playing purpose. It is tuned as per the requirement of *ragas* in *Hindustani* classical music or *Muqam* in *Sufiana* music. A key tuner, called a hammer (*Dokur* in Kashmir), made of iron is used to tune the keys, which are also made of the same material. The Santoor is played in a sitting posture (*Asana*) like all the other Indian classical instruments.

The traditional *Sufiana* Santoor in India is a trapezium shaped box particularly made of seasoned mulberry wood with an acute angle of 75 degrees each from the left and the right. In this Santoor the parallel sides facing the performer are 20-21 inches long, approximately in the ratio of 1:2 (the ratio 1:2 has also a traditional and historic background which is also associated with the *Shaivite* thought) where as the other 2 sides are again 20-21 inches. The thickness of the box is round about 4 to 4 1 /2 inches. The inside, which is hollow, serves as a resonator. Initially the strings would have been made of flax and gut and at present Steel and Brass / Copper is used. These strings are laid over the shaft passing from left to right controlled by the keys on the right side of the instrument. Under a group of four strings one small bridge (*Gota* in *Kashmiri* Language) is inserted. The height of the bridge is kept slightly more than the height of the side planks placed on the shaft that is usually 1 inch approximately. In this process, hundred strings are laid over 25 bridges and each group of four strings are tuned to one note and the instrument is tuned accordingly. The sound of the note is produced with the striker called *Kalam* (*Kasht* as referred to in *Sanskrit*) which is 6 inches long. The bridges are placed 13 from one side 12 from the other side dividing 100 strings to a group of 4 strings to each bridge. In the *Sufiana* system the traditional Santoor has one and a half octaves.

Indian Santoor can mostly be heard in the classical concerts or *Sufi mehfils* (gatherings / *baithaks*). It is also being used in film music and other classical categories. However, it may be categorically mentioned that Santoor has never been used in any folk style either in past or at present.

The Santoor has been in the Sopori family for over 9 generations spanning around 300 years and has been innovated from time to time by the master players of this *Gharana*. Pandit Shankar Pandit, the Great Sufi Saint musician, (great grandfather of Pandit Bhajan Sopori) introduced Indian classical music technicalities in his *Sufiana* presentation and by giving it a new dimension he set a new style of presentation called the *Sufi Baaj*. This is where the *Hindustani* Classical music stepped into the *Sufiana Gharana* and Sopori family. This style was inherited by his son Pandit Samsar Chand Sopori, who being a Wasul exponent too, further enriched this style with his innovations and introduction of technicalities like *Laykari*, etc. in his recitals. Following the footsteps of his predecessors, Pandit Shamboo Nath Sopori, the veteran musician and

musicologist hailed as the 'Father of Music' in the State of Jammu and Kashmir, while teaching Santoor to his disciples, in the early 1940's, added a couple of bridges creating the *Mandra Saptak* (lower octave) in the Santoor and set the base for the systematic presentation of a *raga*. This legacy of Santoor and improvisations was carried forward by his youngest son Pandit Bhajan Sopori, the legendary Santoor maestro and music composer, who expanded the scope of Santoor as a complete solo *Hindustani* classical instrument and also innovated the *Sufi Baaj* establishing a new style of playing the classical Santoor in the realm of Indian Classical Music called the *Sopori Baaj*.

The Santoor of *Sopori Baaj* has three sides of 25 inches and the neck side is in the ratio of 1:2 i.e. 12 ½ inches (the opposite side facing the performer). The 100 strings are divided and laid over 43 bridges giving the instrument a dimension of more than 5 ½ octaves. It also has the *Tarab* (sympathetic or resonance strings) like *Sitar* or *Sarod* to help achieve tonal accuracy in resonance. The *Sopori Baaj* combines both the *Gayaki* (vocal) and the *Tantrakari* (instrumental) *Ang* (style) presenting the *raga* on Santoor in its authentic and traditional system in accordance with the *raga –shastra* (grammar). Pandit Bhajan Sopori replaced the *Sehpai* (small stand for the traditional Santoor) and added a *Tumba* (Gaud) underneath the Santoor in early 1960's for the clarity of the higher and the lower octaves. The *Tumba* is placed on the left foot and the rest of the body of the instrument lies in the lap of the performer. This *asana* (posture) is called the *Ardhaspandan Asana*. He also introduced various techniques on the Santoor to extend the scope of the instrument as per the requirement and essential elements of the Hindustani Classical Music. His introduction and invention of various techniques like *Meend* and *Gamak* (pressure techniques), Glides and Cross Glides, *Krintan*, continuation of note, etc. were a major break-through in the history of Santoor. These essential elements of the Indian classical style together with other techniques like balancing the *Kalam* for enhanced *Bol* (playing strokes) variations, with different pressure movements involving the fingers, wrist, arm and shoulder, made the *Kashmiri* Santoor a full fledged *Hindustani* classical instrument on which all the intricacies of *Raga* system could be displayed maintaining the purity of the raga. With the help of *Meend*, he added another 2 ½ octave range in his instrument finally giving Santoor a dimension of more than 5 ½ octaves. This was followed by adding the *Tarab* (sympathetic strings) to give tonal accuracy in resonance. He also added *Chickari* in the Santoor.

The musical tradition of the Sopori family has been multidimensional. The family members adopted music both as a profession and means of worship and specialized in both the instrumental and vocal styles. The Santoor, Wasul (traditional *Kashmiri* rhythmic instrument) and Kashmiri

Sitar being their legacy, was played by them presenting the *Sufiana Muqam Gayaki* and later *Raga Sangeet*. *Sufiana Gharana* is a unique musical heritage of both *Hindustani* classical and *Sufiana* music centered in Kashmir (J&K) which owes its roots to the *Shave Gayan* and later *Sufiana Musique*. It gets its name from *Sufi parampara* of Kashmir and is the only musical *Gharana* from the Jammu and Kashmir region which has established classical Santoor in the world of music at the national and international level.

A Living Legend and a Musical Genius Pandit Bhajan Sopori is more than an individual – a performer and composer par excellence, musicologist, teacher, writer, poet, and an extraordinary human being – he is a complete institution in himself. Regarded as the cultural bridge of the State of Jammu & Kashmir and the rest of the country, Pandit Bhajan Sopori is hailed as the "Saint of the Santoor" and the "King of Strings". Having establishing the Santoor at global platforms as a complete solo instrument, Pt. Bhajan Sopori, the quiet and unassuming maestro and composer of more than 5000 songs, has come a long way since he created history in the year 1953 when the first ever broadcast of Classical Santoor from All India Radio becoming the first person to play Indian Classical music on the Santoor in concerts. In his six decades of dedicated work he has explored various dimensions of the Santoor, carrying out many path-breaking innovations. The mystic master, Pt. Sopori has used his Santoor and his compositions to highlight the concept of oneness and foster unity enshrining the idea of national integration, humanism and peace amongst the common man and the youth in particular.

Pandit Bhajan Sopori's constant experimentation resulted in the further extension of the bridges, developing the *Mandra* and *Tar Saptak* as full octaves. He had seen his grand father singing and playing the *Tilana 'Na Dir Dim De Re Na'* and as such had sufficient reasons to believe that the *Bols* (playing strokes) like *'Da Ra Dir'* could be introduced systematically in the instrument and all the complicated *Bols* could also be played with the technical perfection.

Pandit Bhajan Sopori introduced the *Dhrupad Ang* on the Santoor to the accompaniment of the *Pakhawaj*, which is another unique element of the *Sopori Baaj*. It combines both the *Gayaki* (vocal) and the *Tantrakari* (instrumental) *Ang* (style) presenting the *raga* on Santoor in its authentic and traditional system in accordance with the *raga –shastra* (grammar). In this *Baaj* stress is laid on the *Alaap, Jod-Alaap* and variety of *taan patterns*, exclusive *Gat* patterns (instrumental compositions) and *Bandishes* (vocal compositions) in various *Taals* (rhythmic structures). Highly intricate and varied rhythmic pattern of *Layakari* and *Chandhkari* (complex rhythmic patterns) is another remarkable feature of the *Sopori Baaj*. Some other renderings apart from *Dhrupad* and *Khayal Ang* played on

Santoor, for which this style is famous, include *Tarana, Tappa, Tap-Khayal, Thumri,* etc.

The Santoor is always played from the left side for the *Shudh Thath* (Major Scale) and from the right side for the *Komal Swaras* (Minor Notes). In *Sufiana Gharana* and *Sopori Baaj* Santoor is essentially played on the left side and additional notes whenever required are added from the right side. However, as it is interpreted that the heart happens to be on the left side, the emphasis has to be on the left side. But the subtle truth is much more.

Santoor has reached to new heights with my additional experimentation giving the Santoor a new dimension with innovations like Open String Concept, Enhanced Sustain Technique, etc. further developing the *Been Ang* with predominance of the *Gayaki Ang* riving the traditional family style of playing Santoor which is singing the composition along with its instrumental rendering. I have also adapted and revived various compositions of my forefathers in *Hindustani raga* system which includes old *Sufiana Tarana* compositions.

Pandit Bhajan Sopori says "the *raga* should aesthetically justify its texture as per the *shastras* (grammar) of the Indian classical system. The *Taal* patterns are not merely taken as a source of counting but to be co-relating to the effect generated by a *Gat or composition*. In this style, *Raga* is a source of meditation, the *Taals* co-relate to the counting of *mantra* and the *laykari* and the *chandkari* is the stage of ecstasy or *zikhar* in *Sufi* terminology. The two *Kalams* are to be properly balanced to generate the required depth of the notes. The pair of *Kalam* is like the two wings of the bird which once stretched out equally enables the bird to soar high in the sky".

The History of Guitar and the process of developement

Dr. Kamla Shankar

Famous Guitar Maestro

Guitar is a western plucked stringed instrument evolved in early 16th century in Spain.("Guitar"is) a Latin word, derived from "Guitara Latina",modified form of "Vihuela"- the four stringed instrument

Guitar is a member of the family of Lute which was very femous in Spain.In the early 16th century

Guitar had three pairs of strings and one main string and later on in the mid 16th century it under went many changes regarding the structure and number of strings i.e five strings and strins were tied on the wooden pegs.Gradually in the 18th century one more string was added i.e total six strings. It got its popularity in 19th century as an amaetures instruments. Two varieties of acoustic Guitar are there :

(1) SPANISH GUITAR & HAWAIIAN GUITAR

As we know guitars while some guitars may have made their way to Hawaii in the early 1800's along with the many European sailors who visited Hawaii, the origin of Hawaiian guitar music is generally credited to the Mexican and Spanish cowboys who were hired by King Kamehameha III around 1832. It was from the Hawaiian cowboys, or paniolos, that the tradition of Hawaiian slack key guitar music finds its roots. Though it appears in other settings. These are the two types of music most often heard. Steel guitars are a small family of instruments closely related to the six string Spanish guitar. They may look quite similar (though not necessarily), but the playing technique is different in two important ways: steel is played with a steel bar held in the left hand, and the string height is such that instead of pushing a string down with the left hand to *fret* or shorten it at a particular fret, the string is *barred* or touched with the steel to raise its pitch. To make this easier, the original steel guitar was held in the player's lap, and the electric ones are often referred to as a 'lap steel'. Most steel players use a plastic thumb pick and three metal finger picks on the right hand although some use two or four; many Hawaiian players use a thumb pick with bare fingers and a few steelers (mostly converted guitar players) use a flat pick. While the very first acoustic steel guitars had bodies much like the Spanish guitar, a special off-shoot of acoustic

guitar, the *resonator guitar* first appeared in the 20's and is still popular today.

The entry of Guitar to India and Indian music.

The migration of Guitar took place through coastal areas like west Bengal ,Goa and Mumbai by the Portugese and the Britishers and gradually spread over in many parts of the country. The role of Guitar in Indian music came into existence as an accompanying instrument used in the background music of Indian films. In West Bengal it got its popularity in Rabindra sangeet .The Goanese are known to play Guitar as their main instrument since many years.

Both types of Guitar (spanish and Hawaiian) are being used as an accompanying instruments in the background music of films noticed in some films e.g. Hawaiian Guitar used in the films"SHEHNAI" and "BAIJU BAWARA" in 1940's.The well known film music director late R.D. Burman widely used spanish Guitar as a main accompany instrument in most of his Hindi films.

The adaptation of Hawaiian guitar to Hindustani classical music

The two main forms of Indian classical music are Hindustani and Karnatik music.Hindustani music is popular in Northern, Western and Eastern parts of the country while the carnatic music is popular in southern part of the country. Hindustani classical music is played on Hawaiian Guitar . In South, carnatic music played on Spanish Guitar has been reported.

As far as the Adaptation of Hawaiian Guitar into Hindustani Classical Music is concerned, Sri Nalin Mazumdar of Allahabad was the person who first started playing Guitar in Hindustani classical style. He was the disciple of Late Baba Allauddin Khan of Maihar Gharana.

He achieved a great success in getting the Hawaiian Guitar included in the Syllabus of String Instruments of Hindustani Classical Music of Prayag Sangeet samiti Allahabad.

Late Dr. Lalmani Misra ji (Veena Maestro & Ex- Dean of Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University) did a great effort and was successful in getting the Hawaiian Guitar included in the competitive test of String Instruments, organised by U. P. Sangeet Natak Akademi, Lucknow in 1976.

With the great effort of the renowned Veena & Sitar Vidwan Late Dr. Gopal Shankar Misra ji (Ex-Reader in Sitar, Faculty of Performing Arts B.H.U., Son & Disciple of Late Dr. Lalmani Misra ji), the Hawaiian Guitar was included in the "Doctorate" Course (D. Mus.) of Faculty of Performing Arts, B.H.U. in 1995. I feel lucky to be able join the First batch.

The credit goes to Pt. Brij Bhushan Kabraji and thereafter Pt. Vishwamohan Bhatt ji for making the Hawaiian Guitar very popular in the Galaxy of Indian Classical Music.

My talk with Pt.Brijbhushan Kabra ji

Being a professional artist I got the opportunity to talk to Pt. Brij Bhushan Kabra personally. During the conversation he said that he started learning Guitar from his elder brother D.L. Kabra(Sarod maestro) about 55 years ago and was approved as an "A" grade artist from A.I.R.Ahemedabad.Ever since the establishment of Hawaiian

Guitar is made, in the armamentrium of Indian classical music, efforts are being made to modify this instrument on individual experimental basis e.g. adding extra strings in the forms of "Chikari" & "Tarabs", using "Flat Rod" and "Mizrab" in place of cylindrical Rod & Picks etc.

Pt. Brijbhushan Kabra ji, for the first time modified his instrument by adding `Chikari",Tarabs and using "Mizrab" in place of "Picks".

Pt. Vishwamohan Bhatt ji has modified his instrument and named this modified form of Hawaiian Guitar as "Mohan Veena:"

Some of the Artistes from West Bengal have also modified their instruments.

The effect of gayaki (vocal style) on Hawaiian Guitar

The two styles of Hindustani classical music i.e.the Gayaki and the Tantrakari are well played on Hawaiian Guitar.The sliding techniquein Guitar is best for producing "Ghaseet", meend","Gamak" and Sapaat fast taans.Hawaiian Guitar is a melodious instrument and suitably fit in producing the Gayaki aspects of Indian Raga.

The effect of tanrakari (Instrumental style) on Hawaiian Guitar (taking the reference of indian instruments)

The style of playing Hawaiian Guitar may be compared with that of Vichitra-Veena one of our Indian Instruments. The only difference is, that in place of the Steel rod, a solid glass sphere (like a paper weight) is used in Vichitra-Veena. Though it is said that Guitar is a Western Instrument, but the playing techniques and the hand movements are similar to that of "Veena" (Ek-Tantri) as described by Maharshi Bharat in his work `Bharat Natya Shastra". He has described the movement of both hands separately and combined i.e. 9 ways of right hand movements (Ghat, Paat, Sanlekh, Ullekh, Awalekh, Bhramar, Sandhit, Chhinna, Nakh Kartari), 2 ways of left hand movements (Sphurit & Khasit) and 13 combined (left & right hand) techniques (Ghosh, Rafe, Bindu, Kartari, Ardh-Kartari, Nishkot, Skhalit, Shuk-Vaktra, Moorchana, Tal-Hast, Ardha-Chandra, Prasar & Kuhar). The Sound (Naad) produced by the hand movements (Kriya) were named as "Dhatu" by Maharshi Bharat, which were of 4 types 1-Vistar, Karan, Aabiddh and Vyanjan Dhatu.

Almost all of these techniques and hand movements mentioned above are used in Spanish Guitar by the Western Musicians and some of these are used in Hawaiian Guitar and Veena by Indian Musicians.The Bols used in the Sitar i.e Da,Dir,Dara,Da,Da,Ra,etc. are well produced on HawaiIan Guitar. Almost all these techniques and hand movements mentioned above are used by the instumentalists.

Conclusion

Therefore, Hawaiian Guitar can afford pure classical abstractions as beautifully as any other plucked instrument of Indigenous origin which is now enjoying pride of place in the Galaxy of India's concert instrument today.

We can proudly say that the adaptation of Guitar to Indian Classical Music will play a great role in **"Universal Cultural Integration" of EAST & WEST.**

समकालीन सांगीतिक परिदृश्य में हारमोनियम की बढ़ती भूमिका

डॉ॰ विनय कुमार मिश्रा

प्रसिद्ध हारमोनियम वादक, संगीत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आज के इस भौतिकवादी संसार में जहाँ समय एवं धन दोनों महत्वपूर्ण हैं वहाँ 'हारमोनियम' जैसे वाद्य यंत्र की संगीत जगत में उपयोगिता बहुत अधिक है। समय इसलिए महत्वपूर्ण है कि आज संगीत के विद्यार्थियों के पास इतना समय नहीं है कि गुरू-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत गुरू के घर में रहकर और उनकी सेवा करके संगीत की शिक्षा लें। गुरू की भी अपने कार्यक्रम इत्यादि को लेकर कई व्यस्तताएँ हैं। दूसरा, आज संगीत के विद्यार्थियों के सामने आजीविका को लेकर घोर चिंता है। क्योंकि जीवन जीने के लिए धन की आवश्यकता तो पड़ती ही है। ऐसे समय में विद्यार्थी कम समय में ज्यादा से ज्यादा संगीत की शिक्षा प्राप्त करने की ईच्छा रखते हैं।

संगीत की शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण चीज़ है- स्वर ज्ञान और स्वर अभ्यास-

स्वर का ज्ञान होगा तभी स्वर अभ्यास भी ठीक होगा और स्वर अभ्यास होगा तब स्वर ज्ञान भी बढ़ेगा। अर्थात् दोनों चीजें एक दूसरे की पूरक हैं। अगर ठीक से देखा जाय तो विद्यार्थियों को स्वर अभ्यास गुरू के सामने ही बैठकर करना चाहिए लेकिन परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि ऐसा करना आज के समय में संभव नहीं है। विद्यार्थी गुरू के पास सीखकर जब घर आता है तब रियाज़ के समय उसकी गलती या सही को देखने के लिए कोई नहीं होता है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी अक्सर ग़लत अभ्यास कर लेता है और जब गुरू के पास जाता है तो सुधार होता है। ऐसी स्थिति में हारमोनियम बहुत ही उपयोगी वाद्य-यंत्र है, क्योंकि इससे विद्यार्थी को पता चल जाएगा कि मैं कहाँ सुर में हूँ और कहाँ बेसुरा। हारमोनियम में स्वर दिखाई देता है जिससे वह अपने स्वर को हारमोनियम के स्वर में मिला कर ठीक कर सकता है।

ये तो हुई विद्यार्थियों की बात किन्तु हारमोनियम सभी स्तर के संगीतकारों के लिए बहुत उपयोगी है।

गायक को मंच पर अपने मुख्य स्वर की बहुत आवश्यकता होती है। इसके लिए वह तानपूरा, सारंगी के साथ-साथ हारमोनियम भी रखता है। क्योंकि हारमोनियम जोर से बजता है जिससे गायक को उसका मुख्य स्वर अच्छे से सुनाई देता है।

इसी प्रकार सुगम संगीत, संगीत ऑरकेस्ट्रा, नृत्य, संगीत संयोजन, संगीत निर्देशन, आदि सभी विधाओं में हारमोनियम की विशेष उपयोगिता है जिसकी चर्चा हम विस्तार से करेंगे।

प्रारंभिक गायन शिक्षा में-

प्रारंभिक गायन शिक्षा में हारमोनियम की नितांत आवश्यकता होती है क्योंकि हारमोनियम ही एकमात्र ऐसा वाद्ययंत्र है जिसमें स्वर दिखाई देता है। यदि किसी विद्यार्थी को 'सा' का अभ्यास करना है तो वह 'सा' की पट्टी दबाकर अभ्यास कर सकता है। यह किसी अन्य वाद्ययंत्र में संभव नहीं है क्योंकि अन्य वाद्यों में या तो पर्दे होते हैं या गज वाले वाद्यों में अंदाज से स्वर बजाना होता है जो सबके लिए संभव नहीं है। फूँक के वाद्यों की भी यही क्रिया है। इस

वाद्य के साथ विद्यार्थी को यह सुविधा होती है कि वह सभी स्वरों को बारी-बारी बजाते हुए उसके साथ अपना स्वर मिला सकता है। इससे स्वरों को पकड़ने में विद्यार्थी को सुविधा हो जाती है।

दूसरी विशेष बात यह है कि किसी भी वाद्य-यंत्र को बजाने से पहले उसकी ट्यूनिंग करनी पड़ती है जो विद्यार्थियों के लिए एक दुष्कर कार्य है। हारमोनियम पहले से ही ट्यून रहता है। इससे विद्यार्थी को केवल स्वर छेड़कर अभ्यास करना होता है।

कुछ लोगों का मानना है कि हारमोनियम में सच्चे स्वर नहीं होते इसलिए इससे अभ्यास नहीं करना चाहिए लेकिन यह बात सही नहीं है। हारमोनियम पर 'सा-प' स्वर संगति बजाकर अभ्यास करने से स्वर का ज्ञान कराया जा सकता है। शुरू से ही भारतीय संगीत में इस वाद्य को निम्न स्तर का माना गया जिसके कारण लोगों का ध्यान इसकी विशेषताओं की तरफ नहीं गया। इसकी विशेषताओं की अज्ञानता के कारण ही लोग इसे निम्न स्तर का वाद्य मानते थे। लेकिन आधुनिक समय में सभी लोगों ने इसकी विशेज्ञताओं को ध्यान में रखते हुए इसे अपने संगीत में शामिल कर लिया है। यह विद्यार्थियों के लिए, स्वरों का विभिन्न विधियों द्वारा अभ्यास करने में सहायक है। षड्ज के आसपास के स्वरों का ज्ञान करने के लिए और इसका अभ्यास करने के लिए उपयोगी है।

इस वाद्य पर विभिन्न अलंकारों को बजाकर इसका अभ्यास किया जा सकता है, जैसे पहले कम लय में बजाकर अपने गले में सुर बिठाना फिर बाद में सा-प छेड़कर आकार में इसी अलंकार का अभ्यास करना चाहिए। विभिन्न स्वर-समुदायों को नाना प्रकार से सुसज्जित करके अभ्यास कर सकते हैं। जैसे- सा, नि़, सारे, नि ध़ नि़ सा, नि़ ध़ प़ ध़ नि़ सां आदि। विद्यार्थियों को तीनों सप्तकों का ज्ञान कराने के लिए प्रयोग की दृष्टि से यह सबसे उपयुक्त वाद्य है। तीनों सप्तकों में अभ्यास करने से विद्यार्थियों की स्वर क्षमता बढ़ जाती है।

स्वर-मालिका का अभ्यास करने के लिए भी यह काफी लाभदायक है। प्रारंभिक शिक्षा में स्वर को पक्का करना अनिवार्य होता है इसलिए विद्यार्थी दो सप्तकों में एक ही स्वर गाने के लिए इस वाद्य यंत्र का उपयोग करता है।

विभिन्न लयकारियों द्वारा विभिन्न स्वर समुदायों का अभ्यास करना चाहिए। ये स्वर समुदाय इस वाद्य पर उसी क्रम से बजाने पर स्पष्ट हो जाते हैं। जैसे- सारेग, रेगम, गमप, मपध...सारेगम, रेगमप, गमपध, मपधनि, सारे सारेग, रेग रेगम, गम गमप, आदि इस वाद्य-यंत्र पर विद्यार्थी धीरे-धीरे स्वरों के बढ़ते क्रम या घटते क्रम का अभ्यास आसानी से करता है।

जैसे-सा, सारेसा, सारेगरेसा, सारेगमगरेसा
सां, सांनिसां, सांनिधनिसां, सांनिधपधनिसां

इस वाद्य यंत्र के साथ स्वर अभ्यास (पलटा) करते-करते लय का भी ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। विद्यार्थियों को क्रियात्मक दृष्टि से चिन्तन मनन करते हुए विभिन्न गायन शैलियों का परिचय आसानी से कराया जा सकता है।

आधारभूत राग जैसे- भैरव, यमन, भूपाली आदि में विभिन्न, अलंकारों व तालबद्ध रचनाओं द्वारा अभ्यास करके गायन को सुंदर बनाया जा सकता है। जब विद्यार्थी को कोई बंदिश मुश्किल पड़ रही हो तब वह हारमोनियम पर उसे बजाकर उसका स्वरांकन (Notation) आसानी से कर सकता है। इससे उसको बंदिश गाने में आसानी हो जाएगी।

यह सर्वसुलभ वाद्य यंत्र हैं तथा आर्थिक दृष्टि से भी थोड़ा सस्ता है। इसलिए विद्यार्थी इसकी तरफ ज्यादा रूझान रखते हैं। यह विद्यार्थियों को संगीत के प्रति रूचि पैदा करता है। क्योंकि हम देखते हैं कि गायन के विद्यार्थी प्रायः हारमोनियम भी बजा लेते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि इससे उनकों गाने में सुविधा होती है। जो विद्यार्थी संगीत की महानता या भावनात्मक दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं होते हैं उनको भी यह वाद्य-यंत्र किसी न किसी स्तर पर लाता ही है। जिन विद्यार्थियों को संगीत ईश्वर प्रदत्त नहीं है उनको इस वाद्य की सहायता से अभ्यास कराकर लाभ पहुँचाया जा सकता है।

जन साधारण को संगीत से परिचित कराने के लिए इसके उपयुक्त अन्य कोई वाद्य नहीं है।संगीत की अन्य विधाओं को हारमोनियम पर बार-बार प्रस्तुत करने पर लय, स्वर, ताल आदि का ज्ञान होने लगता है। ऐसा किसी अन्य वाद्य में संभव नहीं है।

राग-विस्तार करने के लिए भी यह बहुत उपयोगी वाद्य-यंत्र है।

विद्यार्थियों का मन बहुत ही चंचल होता है। उनमें एकाग्रता नहीं रहती ऐसी स्थिति में स्वर से भटकने पर हारमोनियम ही एक ऐसा माध्यम है जो पुनः सही स्वर की पहचान संभव कराता है।

हारमोनियम ही एक ऐसा सटीक वाद्य हे जो सही स्वर का दिशा-निर्देश करता है। कुल मिलाकर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि प्रारंभिक गायन शिक्षा के लिए इससे उपयुक्त कोई अन्य वाद्य नहीं हो सकता है।

संगीत वाद्य-वृन्द में-

हमारे शास्त्रीय संगीत की कई विधाओं में से एक प्रमुख एवं दुर्लभ विधा है- संगीत वाद्य-वृन्द, जिसे हम 'आरकेस्ट्रा' भी कहते हैं। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में इसे प्रसिद्ध दिलाने का श्रेय पं. रविशंकर के गुरू मैहर के बाबा अलाउद्दीन खाँ साहब हो जाता है। जिनका 'मैहर बैण्ड' के नाम से प्रसिद्ध वाद्य वृन्द आज भी मध्य प्रदेश में जीवित है। पं. उदयशंकर जी ने भी कई 'वाद्य-वृन्दों' की रचना की। पं. रविशंकर जी पहले इन्हीं के साथ 'वाद्य-वृन्द' में कार्य करते थे। पं. रविशंकर जी ने भी विदेशों में कई 'वाद्य-वृन्द' का निर्देशन किया।

वाद्य-वृन्द में ढेर सारे वाद्य होते हैं जिनकों एक ही स्वर में मिलाना होता है। कभी-कभी किसी विशेष वाद्य के लिए उस स्वर का संवादी स्वर मिला दिया जाता है। इस स्थिति में एक ऐसे वाद्य की जरूरत पड़ती है जिसका स्वर स्थिर हो जिससे सभी वाद्य अपना स्वर उस वाद्य के स्वर में मिला सकें। उसके लिए 'हारमोनियम' बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ क्योंकि हारमोनियम का स्वर किसी भी परिस्थिति में बदलता नहीं है। इसलिए जब 'हारमोनियम' भारत में आया तब उसका सबसे ज्यादा प्रयोग संगीत नाटकों और 'वाद्य-वृन्द' में हुआ। हारमोनियम से वाद्य-वृन्द के निर्देशक को धुन बनाने में मदद मिलती है। वह अपने तथा दूसरे संगीतकारों का विचार इस वाद्य पर अच्छी तरह से प्रकट कर सकता है। उसको सभी वादको को Pieces बताने में मदद मिलती है क्योंकि वह हारमोनियम पर Notation करके वादक को बता सकता है कि उसे क्या चीज़ बजानी है। धीमी गति और द्रुत गति का भी आभास हारमोनियम पर आसानी से कराया जा सकता है।

संपूर्ण वाद्य-वृन्द का प्रभाव कैसा होगा, यह हारमोनियम पर बजाकर देखा जा सकता है।

वाद्य-वृन्द में हार्मोनी और लय का काम बहुत होता है। हार्मोनी के लिए 'हारमोनियम' से ज्यादा उपयुक्त कोई भी वाद्य-यंत्र नहीं है। क्योंकि इस वाद्य-यंत्र पर एक साथ कई स्वर बजाये जा सकते हैं।

हारमोनियम से वाद्य-वृन्द में 'भराव' आ जाता है।

ख्याल गायन के साथ संगति में-

आधुनिक समय में हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की ख्याल गायन शैली सर्वाधिक प्रचार में है। हालाँकी यह शैली ध्रुपद के बाद प्रचार में आई लेकिन ध्रुपद, धमार जैसी कठोर नियमों की बंधन हीनता के कारण शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गई। रागदारी के साथ-साथ पदों का लय के साथ सुरूचिपूर्ण संबंध इस शैली की प्रमुख विशेषता है।

ख्याल गायन के कई घराने हैं और सभी घरानों की अलग-अलग विशेषताएँ हैं। किसी घराने में स्वर का काम अच्छा है तो किसी में लय का। कोई लय के साथ विस्तार करता है तो कोई लय को छोड़कर। किसी घराने में गमक, मींड, सूत का काम ज्यादा है तो किसी घराने में तारों की तैयारी। अर्थात सभी घरानों की कुछ ख़ास विशेषताएँ है जिनके लिए वह घराना पहचाना जाता है।

ख्याल गायन की संगति के लिए ताल वाद्य में तबला तथा स्वर वाद्य में सारंगी, हारमोनियम अथवा वायलिन का प्रयोग किया जाता है। तानपूरा की आवश्यकता तो अवश्यंभावी है क्योंकि आधार स्वर के अभाव में भारतीय संगीत अधूरा है। वेसे देखा जाय तो ख्याल गायन की संगति के लिए शुरू से ही सारंगी का प्रयोग होता आ रहा है किन्तु आधुनिक समय में काफी हद तक इसका स्थान हारमोनियम ने ले लिया है। सारंगी को गले के काफी हद तक संभव है लेकिन हारमोनियम की कुछ अन्य विशेषताओं ने गायकों को अपनी तरफ आकर्षित किया और धीरे-धीरे यह ख्याल गायन के साथ संगति के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। इन विशेषताओं की

चर्चा हम विस्तार से कर रहे हैं।

सबसे पहले हारमोनियम की ध्वनि पर विचार करते हैं। हारमोनियम की ध्वनि भारी होती है जिससे गायक गायन में भराव महसूस करता है। ध्वनि और बनावट के हिसाब से यह मानव कंठ के ज्यादा करीब है। क्योंकि सारंगी की ध्वनि पुरूष कंठ से एक सप्तक ऊँची होती है क्योंकि उसका स्वर पतला होता है। वह स्त्री कंठ के लिए ज्यादा उपयुक्त है। बनावट के हिसाब से, जिस प्रकार मानव के गले में स्वर ग्रंथि से ध्वनि उत्पन्न होती है उसी प्रकार हारमोनियम में धातु की पतली जीभ से हवा के टकाराने से ध्वनि उत्पन्न होती है अर्थात दोनो एक ही सिद्धांत पर कार्य करते हैं। हारमोनियम में एक सुविधा यह भी है कि आवश्यकतानुसार इसकी ध्वनि में रीड के माध्यम से परिवर्तन किया जा सकता है।

पुरूष के साथ खरज-नर के रीड प्रयोग किये जाते हैं जिनका स्वर भारी होता है तथा स्त्री के साथ नर-नर या नर-मादा रीड प्रयोग किये जाते हैं जिनकी ध्वनि पतली होती है। अर्थात यह पुरूष तथा स्त्री गायकों दोनों के लिए उपयुक्त है। गायक के साथ अन्य वाद्य भी होते है। जैसे- तानपूरा, स्वरमंडल, स्वरपेटी, इनको मिलाने के लिए भी हारमोनियम की ज़रूरत पड़ती है। आजकल सभी प्रेक्षागृह वातानुकूलित होता है जिसके कारण ग्रीनरूम और स्टेज दोनों का तापमान अलग-अलग रहता है। ग्रीनरूम से वाद्य को मिलाकर स्टेज पर आने तक वाद्यों के स्वर बिखर जाते हैं। ऐसी स्थिति में वाद्यों को पुनः उसी स्वर में मिलाना मुश्किल हो जाता है। ऐसी स्थिति में हारमोनियम बहुत लाभदायक सिद्ध होता है क्योंकि किसी भी तापमान में उसका स्वर बदलता नहीं है। इसका स्वर स्थिर ही रहता है।

यह वाद्य-यंत्र संगति के रूप में गायन शुरू करने में भी सहायक सिद्ध होता है। कुशल हारमोनियम संगतकार राग के मुख्य स्वर को पहते धीरे से छेड़ देते हैं जिससे गायक की मनोदशा और राग में परस्पर साहचर्य स्थापित हो जाता है और वह बिना हिचक के अपना गायक प्रारंभ कर सकता है। कुछ रागों में धीरे से सुक्ष्म स्पर्श के द्वारा गायक कलाकार को उस स्वर से विदित कराते है।

रूचि, सुझबूझ, शिक्षा, अनुभव एवं अपनी दूरदर्शिताा से निरन्तर अभ्यास और चिन्तन मनन करते हुए जो कार्य करते हैं वे सराहे जाते हैं तथा उनके उस कार्य से गायकी में भी चार-चाँद लग जाता है। कुशल हारमोनियम संगतकार को रागों का ज्ञान, स्वर का ज्ञान, ताल का ज्ञान अवश्य होना चाहिए क्योंकि इसके अभाव में वह एक अच्छे संगतकार के रूप में पहचान नहीं बना सकता है।

उसे तो हर घराने की गायकी का ज्ञान होना चाहिए जिससे कि वह उस घराने के गायक, गायिकाओं के साथ अच्छी तरह से संगत कर सके।आजकल ज्यादातार गायक अपने घराने के हिसाब के हारमोनियम संगतकार रखते हैं।

हारमोनियम को आज संगति वाद्य के रूप में स्थापित करने में कई प्रमुख कलाकारों का योगदान है जिनमें हारमोनियम वादक और गायक दोनों सम्मिलित हैं। उस्ताद अब्दुल करीम खाँ, उस्ताद फैयाज़ खाँ, सवाई गंधर्व, गंगुबाई हंगल, हीराबाई बड़ोदकर, पं. भीमसेन जोशी, उस्ताद अमीर खाँ, पं. कुमार गंधर्व जैसे गायकों ने हारमोनियम को संगति वाद्य के रूप में प्रयोग किया। कुशल हारमोनियम वादक आवश्यकता पड़ने पर गायन में मार्गदर्शन भी करते है। जैसे गायक किसी राग में एक ही स्वर समुदाय में फँस गया और बाहर नहीं निकल पा रहा है वैसी स्थिति में हारमोनियम वादक दूसरा स्वर समुदाय बजाकर उसकी सहायता करता है।

तानों में मार्गदर्शन करता है। यदि गायक एक ही प्रकार की तानें ले रहा है तो हारमोनियम वादक उन तानों के साथ कुछ अन्य प्रकार की तानें बजाकर उसका मार्गदर्शन करता है। यह मार्गदर्शन अन्य विधाओं में भी लागू होता है।

हारमोनियम पर द्रुतगति का काम बहुत ही आसानी के साथ किया जा सकता है अर्थात् तानों का चमत्कार हारमोनियम पर देखा जा सकता है। इससे गायक का हौसला बढ़ता है तथा वह और तैयार तानें गाता है। आधुनिक समय में परिपक्व गायक गायिका अपनी गायकी को निखारने में हारमोनियम को महत्व देते हैं।

अधिकांश गायक किसी भी स्वर को लगाने से पहले अपने मानस पटल पर हारमोनियम के की-बोर्ड

की कल्पना करता है। बंदिश गाते समय किसी स्वर को समझने के लिए कि, यहाँ कौन सा स्वर प्रयुक्त हो रहा है वह हारमोनियम का ही सहारा लेता है। इस प्रकार इन सारी स्थितियों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि हारमोनियम और गायन एक दूसरे के पूरक हैं। शाश्वत एवं दिव्य गायन के लिए स्वरों का निरंतर प्रवाह नितांत आवश्यक है और इसके लिए हारमोनियम एक महत्वपूर्ण एवम् उपयुक्त वाद्य है।

ठुमरी-दादरा आदि उपशास्त्रीय संगीत के साथ संगति में

ठुमरी-दादरा उपशास्त्रीय संगीती की दो प्रमुख शैलियाँ हैं जो आज सर्वाधिक प्रचारित हैं। सभी शास्त्रीय गायक, गायिकाएँ अपने राग-गायन के पश्चात् ठुमरी, दादरा या भजन अवश्य ही प्रस्तुत करते हैं। उपशास्त्रीय संगीत की शैलियों में राग तो होता ही है इसके साथ-साथ रागों के प्रयोग में थोड़ी स्वतंत्रता भी रहती है। अर्थात् एक राग में कई रागों की छाया दिखाते हैं।

अधिकतर ठुमरी गायक या तो हारमोनियम बजाकर ठुमरी गाते हैं या फिर इसे संगति के रूप में रखते हैं

उपशास्त्रीय संगीत में हारमोनियम और सारंगी और सामंजस्य बहुत ही अच्छा बनता है। अधिकांश ठुमरी गायक कुशल हारमोनियम वादक होते हैं क्योंकि वे ठुमरी-दादरा आदि गायन का अभ्यास हारमोनियम के साथ ही करते हैं। इससे रागों को समझने तथा उसमें त्वरित परिवर्तन करने में आसानी होती है। भिन्न-भिन्न स्वरों का 'सा' मानकर इस वाद्य पर आसानी से गाया बजाया जा सकता है। गायक अधिकतर अपने षड्ज के मध्यम या पंचम से ठुमरी गायन करते हैं। गायक बोल बनाव तथा बोल बाँट के लिए भी हारमोनियम का प्रयोग करता है। छोटे-छोटे स्वर समुदाय हारमोनियम में बहुत अच्छे लगते हैं इससे उपशास्त्रीय संगीत में आकर्षण बढ़ जाता है। हारमोनियम से ठुमरी-दादरा आदि का मार्गदर्शन भी अच्छे तरीके से होता है। कुशल हारमोनियम वादक गायक के बोल के अलावा समय मिलने पर अन्य बोल भी हारमोनियम पर निकालते हैं जिससे गायक को अन्य रास्ते दिखाई देते हैं और वह अपने गायन का विस्तार करता है। हारमोनियम पर कण, खटका, मुर्की, गिटकिरी, निकालना, अन्य वाद्यों की तुलना में सुविधाजनक होता है। ठुमरी-दादरा आदि में ये चीजें मुख्य रूप से होती हैं अतः इनकी संगत के लिए हारमोनियम उपुयक्त वाद्य है। गायन के बीच-बीच में छोटे-छोटे Peices हारमोनियम पर बहुत अच्छे लगते है।

जिस प्रकार ख्याल और ध्रुपद का नाम लेते ही दो तानपुरे सामने आ जाते हैं उसी प्रकार ठुमरी दादरा का नाम सुनते ही सारंगी, हारमोनियम सामने आ जाते हैं अर्थात् उपशास्त्रीय संगीत के लिए हारमोनियम अनिवार्य है।

4-Back Side K

भारतीय शास्त्रीय संगीत में संतूर : उत्पत्ति एवं विकास

डॉ. बिपुल कुमार राय

संतूर वादक, संगीत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

संतूर की उत्पत्ति के विषय में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलते हैं परन्तु अधिकतर विद्वानों ने इसे प्राचीन भारतीय वाद्यों का वंशज माना है जो कि प्राचीन काल में कश्मीर का लोकतंत्रीय रहा और कहाँ भी एक अत्यंत लोकप्रिय संगीत विद्या सुफ़ियाना मोसिकी में प्रयोग किया जाता है।

नीलमत पुराण तथा राजतरंगणी में संतूर का वर्णन शैव भक्ति संगीत के संगत वाद्य के रूप में मिलता है। प्राचीन काल में 50 से भी अधिक भिन्न आकार एवं गुणों वाली वीणा का उल्लेख मिलता है वह है वाण। यह वाद्य सामगान की संगत के लिए प्रयुक्त होता था। वाण का अर्थ था 100 तारों वाली वीणा इसे शततंत्री वीणा भी कहते थे।

संतूर शब्द यद्यपि फारसी भाषा का शब्द है और जिसका अर्थ है 'सौ तार'। सौ तारों वाले कई तंत्री वाद्यों का न केवल उल्लेख ही हमारे ग्रंथों में मिलता है, अपितु उनकी बनावट और वादन शैली पर भी विवरण है। जैसे सौ तारो वाली तंत्रवाद्य वाण, और शततंत्री वीणा। अतएव सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि संतूर वाण एवं शततंत्री का ही परिवर्तित स्वरूप है। डॉ0 श्रीधर शरत चन्द्र ने लिखा है इसकी (संतूर) उत्पत्ति प्राचीन शततंत्री वीणा से भी मानी जाती है इसका स्वरूप आज कश्मीर के संतूर से मिलता है। यह शब्द फारसी है और इसका अर्थ है सौ तार। शततंत्री वीणा प्राचीन वैदिक वाद्य है जिसका प्रचार सूत्रकार कात्यायन से पहले सें ही था।

ऋग्वेद में सर्वप्रथम उल्लेखित तंत्री 'वाण' है, वेद के आदिकाल में वीणा शब्द नहीं मिलता, वाण या बाण शब्द मिलता है यह तंत्री वाद्य था। इसके कई प्रकार थे, इसमें सात से लेकर सौ तार होते थे। शुरू में इसके तार प्रायः कुश या मूंज के होते थे।

अतएव आदि काल में इसी 'वाण' तंत्रीवाद्य ने आज के अनेक तंत्रवाद्यों को आधार दिया। इसी प्रकार प्राचीनतम शततंत्री वीणा का आधार लेकर वर्तमान प्रचलित संतूर तंत्रवाद्य का विकास हुआ, ऐसा विद्यानों का अनुमान है।

संतूर के संबंध में कुछ इसी प्रकार 'निबंध-संगीत' में प्राप्त होता है, वाण प्राचीन वीणा का नाम है, जिसमें सौ तार थे, जिसे पलास की शलाकाओं से आघात करके बजाया जाता था, बाद में संतूर बन गई। कात्यानी या शततंत्री वीणा में भी सौ तार थे, इसे ही संतूर का पूर्वज माना गया है। श्री ग0 ह0 तार लेकर के 'भारतीय वाछांया इतिहास' में भी कहा गया है कि प्राचीन कालीन 'शततंत्री' शब्द का अपभ्रंश 'सतीर' या संतूर ऐसा होना संभव है। इसी प्रकार डॉ0 वी0सी0 देव के 'म्यूजिकल इन्ट्रमेन्ट ऑफ इंडिया' में भी यह वाद्य भारत के कश्मीर प्रदेश का वाद्य है ऐसा उल्लेख है। नीलमत पुराण 'दूसरी शताब्दी ई0पूर्व से लेकर दूसरी शताब्दी तथा राजतरंगणी 12वीं शताब्दी में संतूर का वर्णन शैव भक्ति संगीत के संगत वाद्य के रूप में मिलता है।

डॉ0 प्रकाश महाणिक यद्यपि 'संतूर' जैसे तंत्रवाद्य को प्राचीन वीणाओं का स्वरूप नहीं मानते। इसी प्रकार कश्मीर के कुछ कलाकार जैसे उस्ताद याकुब शेख, मो0 अब्दुला संतारी तथा वाद्य निर्माता जज़ इसे

इरान का साज़ मानते हैं।

पंडित शिवकुमार शर्मा, पंडित भजन सोपोरी, पंडित, तरून भट्टाचार्या जो संतूर के प्रसिद्ध कलाकार हैं, इनका वक्तव्य है यह वाद्य शततंत्री वीणा का ही रूप है, क्योंकि आज भी कश्मीर में इस वाद्य में सौ तार लगाये जाते हैं। इन सभी कलाकारों ने दृढ़ता से इस बात का खण्डन किया है कि संतूर इरान से आया है। यदि यह वाद्य इरान से आया होता तो वहाँ भी इस साज पर सौ तार लगाये जाते, किन्तु इरान में प्रचलित संतूर में केवल 72 तारों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ तक कि इरान के संतूर की संरचना, कलमो की बनावट, स्वरों की टयुनिंग इत्यादि कुछ भी भारतीय संतूर से समानता नहीं रखती है।

विश्व के किसी वाद्य में सौ तार लगाने का प्रचलन नहीं है। मेरा अभिप्राय यह है कि जो कलाकार इस वाद्य को अच्छी प्रकार वादन कर कहा है और वो पूरे विश्व में प्रसिद्ध है, उन कलाकारों का मत अधिक विश्वसनीय और प्रमाणीक होनी चाहिए।

अन्य देशों की संस्कृति में भी संतूर से मिलते-जुलते वाद्यों का वर्णन मिलता है। जैसे—जर्मनी में हाकब्रेट, चीन में यैगविवन, यूरोप में सिंबलान, अमेरिका में हैमर, डलासिमर, इसके अतिरिक्त इरान, इराक, कजाकिस्तान, तिब्बत, वियतनाम, ग्रीस, स्विटजरलैंड इटली आयरलैंड इत्यादि देशों में भी संतूर के विविध रूपों का वर्णन किलता है।

सम्भवतः बदलते समय के साथ शततंत्री वीणा प्रचलन से बाहर हो गई, क्योंकि सरिका वाली वीणाओं का प्रचलन बढ़ गया। अतः शततंत्री वीणा कहीं दूर-दराज में सीमित होकर रह गयी जो बाद में संतूर का नाम लेकर कश्मीर में दृष्टिगोचर हुआ। पं0 भजन सोपारी जी कहते हैं 'मध्यकाल में वीणा कश्मीर में शैव धर्म में अपना ली गई तथा बाद में इस पर सुफियाना कलाम की संप्रति की जाने लगी। ग्रंथों में इसका नाम न होने के कई कारण हैं क्योंकि शततंत्री वीणा प्रमुख वाद्यों की श्रेणी से बाहर हो चुका था और इसका नाम संतूर काफी बाद में रखा गया जिस प्रकार त्रितंत्री वीणा तो प्रारंभ से चली आ रही है लेकिन सितार नामक मध्यकाल में देखने को मिलता है, अन्य कई वाद्यों के उदाहरण भी हमारे सामने हैं। मध्यकाल में यह वीणा अपने धार्मिक महत्व के कारण शैव धर्म से जुड़ गई। कश्मीर में यह वाद्य कब से है, इसके बारे में तो यही कहा जा सकता है कि कश्मीर में 1686 ई0 में इस्लाम आया, लेकिन उससे भी पहले शैव धर्म में इस वाद्य को प्रयुक्त किया जाता था फिर जब शैव धर्म व इस्लाम धर्म का संगम हुआ और सुफियाना गायकी का जन्म हुआ तो इसे सुफियाना कलाम के साथ बजाया जाने लगा।

कश्मीर में सुफियाना मौसिकी में गायन एवं संतूर वादन एक साथ किया जाता है, जिसमें रागदारी भी है, इसे 'मकाम' पद्धति कहा जाता है।

सर्वप्रथम मैं प्राचीनतम् वाण वीणा के बनावट एवं वादन विधि के बारे में संक्षिप्त चर्चा करना चाहूँगा। वाण वीणा की बनावट एवं वादन-वाण वीणा की बनावट एवं वादन आपस्तम्ब सूत्र, ऋग्वेद, एवं ऐतरेय आरण्य से प्राप्त होता है। आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार-औदम्बर काष्ठ से निर्मित वीणा दण्ड के अधोभाग में छोटे-छोटे दस छिद्र बनाये जाते थे तथा हर एक में सौ मौन्जा के दस तन्तु पिरोये जाते थे। इस प्रकार शततंत्री वाले वाद्य का निर्माण होता था। इसमें तैंतीस तार अध्वर्यु के द्वारा समन्त्र पिरोये जाते थे। तैंतीस 'होता' के द्वारा तैंतीस उद्गाता के द्वारा। शेष एक तार गृहपति नामक यजमान के द्वारा निबद्ध किया जाता था। इसके वादन के लिए तीन पर्वों से युक्त वेणु काण्ड अथवा वेतस काण्ड का प्रयोग होता था। तथा अन्य उपगातागण अध्वर्यु-गण तथा यजमान—स्त्रियाँ पार्श्वस्थ दर्मास पर आसीन होती थी।

कात्यायन श्रौत के अनुसार इस वाद्य की तन्त्रियाँ मौन्जी की बनी होती थी तथा इसका वादन 'इषीका' अथवा बेतस के वक्राकार खण्ड से किया जाता था। जैमिनीय ब्राह्मण में वाण वीणा की रचना एवं वादन विधि का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में वाण बनाने की विधि इस प्रकार बतायी गई है। औदुम्बर की लकड़ी का ढाँचा तैयार करके, उसके ऊपर लाल बैल की खाल मढ़ें, ढाँचे में दस-बड़े छिद्र करें। इनमें प्रत्येक छिद्र में दस-दस तारों को बांधने की व्यवस्था करें। इस प्रकार कुल 100 तार दूब या मूंज से बनाकर लगायें। तब उसे वाण वाद्य कहेंगे।

"वाणः शत् तन्त्री र्भवति।"

4-Front Side K

वाण नामक वाद्य का वादन सप्त स्वरों द्वारा होता था। इसकी पुष्टि विश्वदेव की स्तुति के अवसर पर बजने वाले 'वाण' के उल्लेख से हो जाती है। इस वीणा के स्वरों का वादन सप्त छन्दों द्वारा करने का विधान मिलता है। अवश्य ही ये सप्त छन्द संगीत के सप्त स्वरों से कुछ न कुछ सम्बन्ध रखते होंगे। इसमें स्वरों का आरोही रीति से क्रमशः नीचे से ऊपर स्वरों का वादन होता था। इसे साधारण वाद्य नहीं माना जाता था इसे रहस्यमय वाद्य माना जाता था। जिसमें देवी शक्ति निहित होती थी।

उपयुक्त शततंत्री वाण के अवशेष आज भी सौ तारों वाली प्रचलित कश्मीरी संतूर वाद्य एवं कात्यायनी वीणा के रूप में देखे जाते हैं। कलकत्ता संग्रहालय में कात्यायिनी वीणा का उदाहरण मिलता है। जो 100 तारों से युक्त है जैसा कि आज भी प्रचलित वीणाएं लकड़ी की बनायी जाती है। तार लगे होते हैं, वादन क्रम नीचे से ऊपर स्वरों के अवरोही क्रम में वैदिक काल में भी होता था। वीणा वादन की कई विधियाँ आज भी प्रचलित हैं, जैसे लकड़ी की पतली शाखाओं द्वारा शीशे के गोले द्वारा। इसी प्रकार वैदिक काल में भी कुछ विधियाँ प्रचलित थी। वाण नामक वीणा का वादन संभवतः आज के सन्तूर की भाँति लकड़ी की शाखाओं द्वारा होता था।

जातक साहित्य में 'वाण' नाम की वीणा की रचना की दूसरी विधि का उल्लेख किया गया है। इस विधि के अनुसार इसमें केवल तीन छिद्र ही किये जाते हैं। तथा मध्य के छिद्र में चौतीस और अन्य दो छिद्रों में तैंतीस-तैंतीस तंतुओं को बांधा जाता है। इस वीणा का वादन बेतस अथवा पलास की पत्तियों से युक्त शाखाओं से होता है। आधुनिक संतूर वाद्य भी टहनियों द्वारा ही बजाया जाता है।

भारतीय संतूर का निर्माण शुभ मुहूर्त में शहतूत की लकड़ी से होता है। इसका आकार एक चतुर्भुज बक्से जैसा होता है। जिसका बायें से दायें की ओर जानेवाला भाग 75 डिग्री के कोण का होता है। इसका सामानान्तर भाग जो वादक की ओर होता है। करीब 25 इंच का होता है। इसके आमने-सामने और दाहिने बायें वाले भाग का अनुपात 2/1 का होता है। यह वाद्य लगभग चार साढ़े चार इंच लकड़ी की बनता है। वह इसकी ऊँचाई होती है। यह लकड़ी अंदर से खोखली होती है। इसके उत्तरी सतह अर्थात् तबली में छिद्र होते हैं। जिससे प्रतिध्वनि अनुगूंज पैदा होती है।

पहले इसक तार तांत के बनते थे। तारों की लंबी कतारे इस वाद्य पर बायें से दायीं ओर जाती है। जिन्हें दाहिने ओर बने चाबियों से नियंत्रित किया जाता है। सामान्यतः 4 तारों के ऊपर उठाये रखने के लिए एक सेतु या गोटा (Bridge) होता है। इस तरह सौ तार उठाये रखने के लिए 25 सेतु या गोटा होते हैं। किनारे की उस काष्ट फलक जिससे तारें बंधी होती है, की ऊँचाई सेतु से लगभग एक इंच कम होती है। 25 सेतुओं पर अवलंबित 4-4 तारों के इन समूहों को एक-एक स्वर में मिलाया जाता है।

संतूर में स्वरोत्पत्ति दो छोटी लकड़ियों से प्रहार करके की जाती है। जिन्हें कलम कहा जाता है। संस्कृत साहित्य में इसके लिए काष्ठ शब्द का प्रयोग हुआ है। यह कलम लगभग 6 इंच लंबी होती है। इसके सामान्यतः तीन भाग होते हैं। पहला भाग वह जहाँ से उसे पकड़ा जाता है, दूसरा मध्य भाग जिस के अंत में घुमाव से पहले मिजराब होता है। जिससे तारों पर प्रहार किया जाता है। और तीसरा आगे की ओर मुड़ा हुआ भाग। इस मुड़े हुए भाग की आकृति सर्प के फण की तरह होती है। कश्मीर में नागवंशियों के प्रभाव के कारण ही इसके आकृती सर्पाकार है। सौ तारों को उठाये रखने के लिए निर्मित इन 25 सेतुओं में 13 बायीं ओर होती है और 12 दायीं ओर तारों को मिलाने वाली चाबी और नियंत्रित करने वाले हैंगर लौह निर्मित होते हैं। जैसा की सर्वविदित है कि दूसरे भारतीय तंत्र वाद्यों की तरह भारतीय संतूर को भी एक विशेष आसन में बैठकर बजाया है।

सूफियाना संगीत में प्रयुक्त होने वाले संतूर के स्वरों की पहुँच प्रायः एक से डेढ़ सप्तक तक की होती है। पहले ऐसे कुछ संतूरों में 96 तारे थी और 24 सेतुएं भी पाई जाती थी, लेकिन ऐसे संतूर अब बहुत ही कम पाये जाते हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त संतूर में मध्य तथा तार सप्तक में स्टील की तारे तथा मन्द्र सप्तक में गिटार में प्रयुक्त होने वाली तारे लगाई जाती है।

सामान्यतः आधुनिक संतूर में 30 सेतुओं का प्रयोग किया जा रहा है। 30 सेतुओं पर अवलंबित 3-3 तारों के इन समूहों को राग के अनुसार एक-एक स्वर में मिलाया जाता है, तथा इसको गोद में रखकर बजाया जाता है।

संतूर में स्वरोत्पति दो छोटी लकड़ियों से प्रहार करके की जाती है। जिन्हें कलम कहा जाता है। पं0 शिवकुमार शर्मा जी की शैली में प्रयुक्त होने वाले संतूर के स्वरों की पहुँच दो से ढ़ाई तक की होती है। पं0 भजन सोपोरी जी ने अपने संतूर में रागदारी को पूरी शुद्धता और क्षमता के साथ प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इसमें क्रांतिकारी परिवर्तन करते हुए सोपोरी बाज को नया आयाम दिया है।

इस संतूर में विशेष तुम्बा भी होता है इन्होंने संतूर में सौ तारों को 44 सेतुओं में विभक्त कर स्वरोत्पत्ति की क्षमता तीन सप्तक से भी अधिक बढ़ाई है। अनुगूंज एवं आस को देर तक टिकाये रखने के लिए चिकारी तथा तरब का प्रयोग किया है। शास्त्रीय संगीत के अनिवार्य तत्व मींड, गमक, कृतन इत्यादि का प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया है।

प्रमुख रूप से पंडित शिव शर्मा एवं पंडित भजन सोपोरी के कड़े प्रयासों के परिणामस्वरूप यह वाद्य केवल चालीस-पचास वर्ष की अपनी सीमित यात्रा में बहुत ऊँचाइयों पर पहुँच गया है।

वर्तमान में संतूर पर बंदिश, गत, ध्रुपद, धमार, टप्पा तथा ठुमरी एवं धुने बजायी जाती है। संतूर संगीत के हर क्षेत्र में लोकप्रिय है चाहे वह शास्त्रीय संगीत हो अथवा सुगम संगीत तथा फिल्म संगीत। इसके अतिरिक्त धारावाहिकों, विज्ञापनों यहाँ तक कि संगीतोपचार के लिए सबसे अधिक संतूर का प्रयोग किया जा रहा है। आत्मिक शांति, योग अनिद्रा की स्थिति में संतूर का प्रयोग किया जा रहा है। संतूर का भविष्य शास्त्रीय संगीत में बड़ा उज्ज्वल है, इसके कई कैसेट रिकार्ड तथा सी0डी0 इत्यादि बाजार में उपलब्ध है। संतूर कलाकारों को रेडियो, दूरदर्शन, संगीत नामक अकादमी एवं पद्म अलंकरण आदि मिलने से भी युवा संगीतार्थी इस ओर आकृष्ट हो रहे हैं।

आज देश का कोई संगीत समारोह ऐसा नहीं है जहाँ संतूर वादन को शामिल न किया जाता हो। विदेशों में भी यह वाद्य काफी लोकप्रिय हो चुका है।

HISTORICAL BACKGROUND OF KASHMIR WITH SPECIAL RFERENCE TO MUSIC

Miss Veethika Tikkoo

PhD fellow in H.music SOPVA, IGNOU.

THE STUDY OF KASHMIR IS IN ITSELF AN EXHAUSTIVE AND ELABORATIVE TASK; HOWEVER I HAVE TRIED MY LEVEL BEST TO GIVE CONCISE AND TO THE POINT DESCRIPTION ACCORDING TO THE RELEVANCE OF MY ARTICLE TOPIC, KASHMIR'S GEOGRAPHICAL COMPOSITION HAS BEEN A TOPIC OF DEBATE SINCE IT EMERGED FROM A WATER BODY AND DUE TO FOREIGN INVASIONS AND CONTROVERSIAL OCCUPATION OF PAKISTAN AND NEIGHBOURS HAVE PUT ME IN DILEMMA TO WHETHER GIVE A POST INDEPENDENCE INFORMATION, OR PRE INDEPENDENCE INFORMATION; BECAUSE CULTURE FROM BOTH ERA HAD DIFFERENT IMPACT ON THE SOCIETY OF STATE. SAME GOES WITH CULTURAL, LITERATURE AND MUSIC, BUT THERE ARE SOME OF NEW AND SURPRISING FACTS WHICH WILL REVOLUTIONIZE THE THINKING PERSPECTIVE OF THE MUSICIANS AND THEORETICIANS REGARDING THE KASHMIR'S MUSIC UNIQUENESS.

GEOGRAPHIC COMPOSITION-The demographic pattern of the state, however, is quite intricate. Kashmir is the only region which can be described as homogeneous in terms of its religious composition. But even here there has been a prominent presence of Kashmiri Pandits. A very miniscule minority, the Pandits have been quite influential, occupying important position in the society and having a very high visibility. It is only after their masses exodus from the valley in early 1990's that the valley has lost its diversity. The other two regions are quite diverse. Jammu is a Hindu majority region and yet it has a significant presence of Muslims. Except for the Jammu and Kathua belt which is predominantly Hindu, the rest of the region has a mixed population. In fact, the Poonch- Rajouri belt has a predominant population of Hindus. Ladakh though a Buddhist majority region, is evenly divided between two districts of Leh and Kargil. While Leh is Buddhist dominated, Kargil is Muslim dominated.

Besides the religious diversities, there are regional, cultural, tribal, caste based and linguistic diversities. The state is composed of three regions- Jammu, Kashmir, and Ladakh. These three regions are not

only culturally and socially diverse but are also diverse in terms of their geographical terrains and their historical roots. It was as late as the middle of the 19th century that the regions came together to form the state. Region is an important marker of the identity in the state and cuts across the religious continuity. Muslims as well as Hindus of one region not only perceive themselves as different from their co-religionists of the other regions but also emphasize their regional identity.

Despite the fact that Jammu and Kashmir has been constantly in a state of conflict for the past six decades, it is only during the present phase of conflict that the inner complexity of the state has come to the fore more sharply. The armed militancy advocating separatism that overtook the valley in 1989 brought to focus the "specificity" of the problem in the identity politics of Kashmir on the one hand and the plurality of the political responses on the other. Militancy impacting the whole of the sate generated a process which resulted in sharpening of multiple identity politics. The peace process initiated during 2002-2003 sought to focus on the internal aspects of the problem through a process of dialogue which further augmented the process. It triggered claims and counter –claims activating not only the various identity politics but also bringing to the centre stage the question of representation, in a very big manner. To counter the possibility that only the dominant political voices get to be accommodated in the peace process, various claims started being made. All these claims, while reflecting on the need for building a consensus through an intra- state dialogue, pointed to the intricacy of the problem due to the diversity and divergence within the state.

One theory has been postulated that Kashmir was an expanse of water as part of the ancient globe. A massive volcanic eruption made a crater in the mountains and drained water from the big lake, surfacing land for habitation. Earthquake in Kashmir are common and by - products of ash from lava are present in the mountains. Another theory is that Kashmir was an ice age lake, like one big glacier. The earthquake split open a gorge, ice melted and drained, surfacing land.

According to Hindu mythology the big lake (satisar) was in habited by snake people (Nagas) who, fearing the demon (jaladeo), pray to Kashyapa (the sage) who goes into long penance to deliver the Nagas. "Shiva" (Hindu god) came down and with a hard blow coated a crater in the mountains which drained the water and the earth surfaced on which people started living.

The legend also relates the story of King Solomon. It has been suggested Solomon drained the water of the big lake by ingenious canalisation. He helped to settle people from far –off places.

Millions years of His creations, ancient trees, lush green meadows, mighty glaciers standing proud of the slope, stratospheric snow – capped peaks touching the skies and overlooking a majestic carpet of trees, have left people of the world exalted. The four hundred year old oak trees, the ancient and massive chinar trees stand out from the gardens and wayside. Some of these have been sacrificed. People in Kashmir in recent years are traversing the choppy oceans of politics and experiencing frightening tides, tall and gruesome, hiding the view of the horizon. Kashmir has been the place of learning and Buddhist and Sanskrit scholars and made a mark in the contemporary literary world. The ancient treasures in shrines and temples have been mercilessly vandalised over the years of changing rule and prevailing ignorance of their value.

Kashmir is a point where central Asia, east, west and south Asian countries meet, with seventeen known exit routes leading in and out through mountain passes. Central Asia extends from Badakhshan in west through Dushanbe, Samarkand and Bokhara to Kashgar, Yarkand and Khotan in the east. Tajikistan and Russia can peep over the verge of Pamirs. The west borders with Afghanistan and the land of Pathans. It is the southern borders with India and south west with Pakistan where the main arteries of communication to the outside world are, and through which most of the recent troubles for Kashmir have been wheeled in.

Kashmir, it can be surmised from its geography, is very vulnerable to advances from its predacious neighbours. For thousands of years the mighty mountains encircling its perimeters have only been a feeble barrier to defend its territorial integrity. Inevitably the Himalayan backwater has been violated by unscrupulous invaders from all sides.

Cultural Patterns- The dictionary defines culture as the "arts and manifestations of human intellectual achievements regarded collectively; intellectual development; the customs, civilization, and achievements of a particular time and people"

Culture has different connotations depending on whether it refers to the development of an individual, a group or class or of a whole society.

To understand the culture of a people, it is important to consider the factors that shape it and give it form and substance. These are the geographical, climatic, racial, social, and historical factors which have influenced the people and their way of life from the earliest of times. The distinctive culture of the Kashmiri Pandit community can therefore be easily analyzed in terms of its various experiences in the changing geographical, climatic, and social conditions and later still, of historical and political changes.

Culture in the context of the people or community includes

everything involved in the rearing of the individuals and the socialization process – the improvement of body, mind and spirit of individuals by nature, training and experience. Culture also includes all the characteristics of a rare and community, beliefs and social institutions, music, art, literature, learning, levels of progress, state of refinement and civilization. It also covers the formal customs, usages and conventions and rites of passage regarded as vital to a group.

It is and undisputed fact that in any group or community, women are the preservers and transmitters of culture. Culture and its transmission from one generation to the next involves the observance of festivals, other ritual functions and rites of passage, attitude towards older member of the family, and value system.

For the Kashmiri Brahmin of those times, his religion and philosophy determined his way of life and his culture. The lives of those early Brahmins in the settled phase of their history are it on the banks of the Saraswati River or in the Kashmir valley, or even later during migrations, revolved around their essential Hindu Brahmanism, which was vastly different from their earlier religion and philosophy of the west Asian transitional phase.

Later, in the move away from the saraswati to the valley, both religious form and philosophy underwent changes and modifications though still essentially Vedic. Previously modifications and changes in the way of life have resulted from the change from earlier nomadic lifestyle of the hunter and gatherer to the settled life of the agriculturist and the domestication of cattle. Changes in food habits, clothing and dwellings followed the changes in geographical and climatic environments. Every aspect of life and culture were impacted through the transitions in this vast time frame of three millennia. The distinctive lifestyle, the social structures and institutions, the language, the traditions were all the result of the slow amalgamation of various influences working on this community over a long period of time.

Until the advent of Buddhism to the valley under Ashoka, the population of the valley was largely Hindu with a Hindu dynasty ruling over them. The Kashmir valley became a part of the empires of Ashoka and kanishka who brought and nurtured the Buddhist influence to it. At this time too there were minor exoduses from the valley-north and eastwards along the silk route, when among others, Brahmins and Buddhists monk carried the message of Buddhism to what is now Afghanistan, Tibet, Mangolia, and farther east.

With relatively more peaceful lives and restoration of the Brahmanical Hindu society, the Brahmin developed a rich culture and peaceful traditions. They excelled as scholars and made

significant contributions to the civilization in religion philosophy (the Trika school of the Kashmir Shaivism), the Sanskrit language and in the areas of medicine, history, art and architecture. Their lives were devoted to the study of the Vedas and other shastras. Kashmir was then known as Shardha peeth.

The valley also produced saints and sages which helped in earning it the name Rishi bhumi. But through all this development, it is important to remember that the Brahmanism that developed in isolation in the valley was distinct from the Brahmin traditions elsewhere in India. Buddhist and later the Islamic influences forced on them by historical and political events left a deep and long lasting impact on their culture. Their social life and religious behavior were impacted by these various external factors. Nowhere are these reflected more than in some of the rites of passage of the Kashmiri Pandits.

There was however no bar of caste or birth to a person rising to hold civil or military positions. Some of the bravest of warriors and generals were Brahmins. Both Brahmins and lower castes were stationed as soldiers. There were also no restrictions on inter – caste marriages. This is evident from the various cited instances where a royal princess was given in marriage to a Brahmin or kings married women of lower caste. The greatest of Kashmiri rulers, lalityaditya, was the son of a king under the Karkota dynasty by a woman of the vaishya-trading class of rohtak. Another warrior king, sankaravarman's mother was a daughter of a low-caste distiller. These would perhaps reflect the lasting effects of Buddhism's classless and casteless credo even until the 10th century AD when another Kashmiri king married an untouchable of the domba people, who as a premier queen had entry to the Vishnu temple and her relatives were appointed as ministers.

This would help to demonstrate the cosmopolitan nature of the Kashmiri people, and explain their diverse ethnicity. These facts serve to highlight the migrations, transitions, and events that have marked the history of this community. They have played an essential part in shaping their lives and culture. At this point, it becomes important to examine how all these centuries of change have affected the lives and status of women of this community and its culture.

Kashmir has its own unique celebrations; in most places across India, Mahashivratri worship takes place in Shiva temples, but in Kashmir the pooja is performed at home. Elsewhere devotees bathe at sunrise in any water body and offer prayers to the sun, Vishnu, and Shiva. Subsequently, the Shiva lingam is bathed in the five sacred offerings of a cow (panch gavya) – milk, urine, butter, and dung. The offerings made after this are the five foods of immortality, which include

milk, ghee, curd, honey and sugar, along with datura and jati, which is said to be sacred to Shiva despite their toxicity. Devotees fast during the day and offer throughout the night and break their fast only in the next morning. Kashmiri Pandits celebrate Mahashivratri in their own distinctive manner, subscribing to the Trika school of Kashmiri Shaivism, Kashmiri Pandits are devotees of Shiva and Shakti and Shaktas. While elsewhere Shiva alone is worshipped in the form of the lingam, in Kashmir Mahashivratri is celebrated as the night of the marriage of Shiva ad Parvati.

The Kashmiri New Year, Nav Reh, marking the onset of the new saptrishi sanwat year (now 5084) is usually celebrated with feasting and rejoicing. On the days before the exodus of 1989-1990 from the valley, the Nav Reh celebrations coincided with the first blossoms on the almond and the fruit trees in the orchards; mild, balmy weather after the bitter cold of winter, and the first outing of the family to enjoy the delights of the outdoors. In those day's family picnicked in gardens and orchards. Badamwari at the foot hill of the Hari Parbat and the Mughal gardens were favorite spots. It is worth noting that the Parsi and Iranian New Year, Nav Roz, and the Shia New Year coincide with the Kashmiri Pandit New Year.

Literature and Music -: The literary culture in Kashmir has developed over the centuries in essentially two contexts of contact: cultural and linguistic. Scholars lay persons alike recognize Lal a Arifa- or Lal ded, as she is commonly known- as the first mystic poet of the Kashmir valley. She is credited with having introduced and given substance to the idea of Kashmiriyat through her verses, which have formed the cultural repertoire of generations of Kashmiris. The potent symbolism of figure of lal ded is evident from the intense debate generated around the question of her religious affiliation. Elucidating more about her **Lalla** (or Lal Ded) Lalla Yogeswari Lal Ded (Granny Lal) was a follower of the Kashmiri Shaiva religion, and a Yogini whose pithy maxims and proverbial sayings are known to Kashmiris, whether Hindus or Muslims.

The image of her is of a semi-nude wanderer woman, singing and dancing in a fit of ecstasy. She was a contemporary of the famous saint Sayyid Ali Hamdani, who arrived Kashmir in A.D. 1380 and played an influential role in converting Kashmir to Islam. At that time it was the reign of Qutbu'd -Din (A.D. 1377-93). She adopted Shaivism through her spiritual preceptor Sidh Bey (Grierson & Barnett, 1920; Koul, 1972). She became a devout follower of the Trika philosophy. Her compositions became "a link between the classical Sanskrit traditions of the past and the Persian poetic patterns of the later period" (Koul, 1972;254).There is no complete manuscript of her

compositions, but it has been carried down quite carefully into later generations through memory, which is the ancient Indian tradition for etaining knowledge (Grierson & Barnett, 1920: 3). A similar woman character has been seen in Bengal also, known as Khona, whose sayings are widely known among all Bengalis, butany role of Khona in linking Sanskrit and Persian ideas are not known. Her sayings are known asKhonar Bachana, and they are mostly indigenous knowledge and cautions to be observed every day and especially concerning agriculture and the natural environment of Bengal, Bihar and Orissa.

Whereas Kashmiri Pandits claim she was a Shaivite and a member of their community, while Kashmiri Muslims argue that though she was born in a Kashmiri Pandit family, lal ded accepted Islam later in her life. Despite presenting a complicated picture of the mystic poetess in his Pioneering work on the translation of Kashmir to Islam, ISHAQ KHAN falls into arguing that lal ded was more influenced by Islam, into which she was born. To this end he states that `the presumption that she wanted to reform the Hindu society flounders on the bedrock of her seminal historical role which speaks more of her association with Islam than with Shaivism.

Herein lies the irony and contradiction: the poet who represents the uniquely Kashmiri culture that transcends religious boundaries has herself become the center of contentious debate over those very boundaries between the two communities of the region. Rather than engaging in this debate, one is better served by examining Lal Ded's verses in the context of the social and political landscape of fourteenth century Kashmir. Lal ded was born when Kashmir was undergoing plunder and pillage by a tartar warrior named DALCHU in the early part of the fourteenth century. She witnessed the conversion of the Tibetan and Buddhist ruler of Kashmir, Richen, to Islam and the establishment of the sultanate in Kashmir under sultan Shamassudin, who took over the throne after marrying Richen's widow, Kota Rani, in 1339. Lal ded came of age in society within which Islam had just begun to be introduced through the activities of the Sayyids of Persia. Without going into the intricacies of Kashmir's transition into Islam, suffice it to say that this was a period of social and political turmoil as a new dynasty was established and a new religion came to be propagated with much fervor, particularly among the ruling classes.

Sheikh Nur-ud-din or more commonly known as Nand Rishi, pioneered a generation of Kashmiri Rishis in the fifteenth century (Bazaz, 2011). His approach to faith and ethical laws of life were rooted in both Quranicteachings and the Hindu/Buddhist philosophy, especially in the similar notions of divine unity ("wahdat-ul-wajud") of

Islamic philosophy and the Hindu philosophy of no duality ("advaita"). This gave rise to a distinct indigenous Rishi order of Sufis in Kashmir. Their principle mainly lay in leading a humble, ascetic life away from worldly excesses and desires, i.e. a life of abstinence. Nand Rishis poems or sayings have been recorded in two volumes called Rishi Namaand Nur Nama (Bamzai, 1962: 486). During the communal unrest of Sultan Sikander"s reign, Nand Rishi wrote:

"We belong to the same parents. Let Hindus and Muslims (together) Worship God alone. We came to this world like partners. We should have shared our joys and sorrows together." Many of Nand Rishis poems not only spoke of Hindu-Muslim unity but also addressed mankind as a whole."

Sheikh Nooruddin's poetry was composed in the diction used by common Kashmiris, and although dominated by the message of escape from this life of illusion, is redolent with a sense of place. Regarding Nooruddin's influence on Kashmiris and their language, Khan writes: "As such, Kashmiri owes a great deal to Nooruddin since it is through his composition that it articulated the expanding complex of impulses and responses, and orchestrated the music of consciousness. Kashmiri, in the ultimate analysis, is the verbal correlative of people's genius; it symbolizes the way of life". Regardless of whether one can view Nund Rishi's poetry in terms of a self- conscious articulation of a break with the earlier more global and trans-regional culture in order to produce a regional alternative, it is deniable that his poetry did indeed contribute to the development of the kashmiri language, and later to the articulation of a self consciously Kashmiri culture.

Nooruddin was able to create a framework for a regional culture through his use of the Kashmiri language to propagate a devotional religion, which was significantly, outside the preview of the state. Kashmir, on the other side has been the abode of eminent scholars, savants, historians and poets, like Bilhan, Mamatachary, Anandavardhana, Gunavarman, Abhinavgupta, Jon raja, Kalhana, etc. These luminaries had mastery over Sanskrit language and many other languages. During the Muslim rule, Persian became the court language.

Kashmiri scholars did not lag behind in acquiring mastery in this language also and produced scholars and poets like Gani Kashmiri, Munshi Bhawani Dass Kachroo, Hyder Malik Chadura, Narayan Kaul Ajiz, Muhammad Azam Didmari, etc. Besides them, there were saints and poets who preferred to use their own Kashmiri dialect for conveying their messages and thoughts. These included both men and women. Most prominent among them were Sheikh Noor-u-Din Noorani, Lal Ded, Rupa

Bhawani, Habba Khatoon and Arinimaal; as some of them had been already discussed above.

Most of the studies to date were on music of the people living in the valley of Kashmir, relatively small area, now part of India.

Kashmir is one of the favourite tourist and vacation regions of India, and was visited by many musicologist and musicians, but its music attracted little attention.

Some Kashmiri musicians have told bitterly that over the years, many musicians and scholars form India and abroad have visited Kashmir, and after staying for short time on a houseboat and listening to some music, left not to be heard from again.

It was a centre of Buddhism and mystical Shaivism, and the place through which those religions spread throughout the continent of Asia. It was through the activities of Kashmiri gunavarman that Buddhism was introduced in java.

It was evident principally in Sanskrit historical works written by Kashmiris, such as Abhinava-bharata, a commentary on Bharata's Natyashastra by Abhinavgupta, and sangitaratnakara by Sharangdeva.

KalhaGa's Rajatarangini provides us with the earliest information, although fragmentary, on the music of Kashmir. it mentions the presence of dancing girls who enjoyed high status at the courts of the rulers, and musicians, some from abroad, of low status comparable to meat eaters and drunkards. In addition to providing some names of musical instruments, it points to the fact that Sanskrit literature was known in Kashmir, including the theoretical works on music.

Folk Music of Kashmir

Music adds to the attraction of the Kashmir valley for the tourists. The history and tradition of music and dance in Kashmir valley goes back to thousands years back. Given below are some main forms of the traditional music of Kashmir, along with some Kashmiri folk songs:

Chakri- It came to the region from Afghanistan. Sufiyana Musiqui (Sufi music) or Sufiana kalam (Sufi words) is a Kashmiri form of vocal ensemble music that came as a marriage between the Persian culture of Central Asia and the culture of India. It is primarily a performance of religious ritual, especially performed in mehfils (religious meetings or gatherings) by and for the Sufis (Muslim mystics) of the Qadiri order. It is also performed in secular contexts as an entertainment for the elite audience, whether they are Kashmiri Pandits or Sufi mystics and devotees. Sometimes concerts are also held and one can also hear the performance in the radio. According to Qaiser Qalandar, this form of music found its place in the court of the king Maharaja Pratap Singh of the Dogra dynasty. A well-acclaimed musician named as Ramzan Joo was the first to perform at the king s court.

Once performed with the help of only Garaha, Sarangi and Rabab,

Chakri has included harmonium also in its presentation. It is one of the most popular forms of the traditional music of Kashmir. Depicting the melodic tradition of folk music that evolved in the valley of Jammu & Kashmir many decades back, Chakri truly upholds the heritage of culture and arts in the place. The people of Jammu & Kashmir are quite popular for owing a multi-cultural past. Chakri is an excellent outcome of that very musical history of the valley. The rhythmic accompaniments that are used while singing the folk song of Chakri include rabab, Garaha and Sarangi. Performed by the folk population of Jammu & Kashmir, Chakri is considered incomplete without the apt support of the musical instruments. Although a form of ancient folk category, Chakri has today went through some minor variations. For one, the advent of harmonium apart from the usual instruments is quite new. However, the basic theme and flavor of Chakri is still intact which shows the passion of Jammu & Kashmir culture enthusiasts. The state of Jammu & Kashmir has been ruled by several Dynasties in the ancient ages. From Hindu Kings to Mughal Empires, Jammu & Kashmir has remained a vital ruling ground. Although the reigning era of those mighty Kings have ended long back, yet the evidences have remained on the land of Jammu & Kashmir in the form of cultural extravaganza. Chakri is a real symbol of that very essence of artistic genre of Jammu & Kashmir which once flourished amidst the verdant valleys. Tourists who come from different parts of the world to explore the incredibly ecstatic splendors of Jammu & Kashmir often get mesmerized by the melodic aura created by Chakri.

Sufiana Music-Sofians musiqui (Sufi Music) owes its introduction in Kashmir to Iran. Introduced in the 15th century in the Kashmir valley, Sufiana music continues to enthrall its audience till date. With the passage of time, a number of Indian ragas were added to this music form. This classical music form of Kashmir makes the use of Santoor, Sitar, Kashmiri Saz, Wasool or Tabla.

Representing the rich musical heritage and cultural legacy of the state of Jammu and Kashmir, the enchanting Kashmiri Sufiana Music adds to the glory and grandeur of the region. The origin of Sufi Music can be traced back to the ancient Iran where the music reached its peak during the 20th century. However, because of the unique combination of enchanting melody coupled with poetic wordings, Sufi music had spread to the region of Kashmir as well.

The beautiful Sufi music came to be known as the Kashmiri Sufiana Music. An integral part of the rich cultural ancestry and religious legacy of the state of Jammu and Kashmir, Kashmiri Sufiyana music portrays the unlimited love of a devotee for the Supreme Being. Kashmiri Sufiyana

Music boasts of an inherent divine element. Sung in praise of the Supreme Being, the enchanting melody of Kashmiri Sufiyana Music fills the devotees with an intense sense of devotion and dedication.

Accompanied with traditional folk musical instruments of Saz e-Kashmir, Tabla, Kashmiri Sitar and Kashmiri Santoor, the singers of Kashmiri Sufiyana music sing with full devotion and enthusiasm which is reflected in their flawless performance. Composed of poetic expressions that show the divine love between the ardent devotee and the Supreme Being, Kashmiri Sufiyana Music enthralls and enchants the audience with its melodious music.

Kashmiri Sufiyana Music spreads happiness and fills the air with joy and mirth through its poetic wordings coupled with enchanting melodies. Upholding the traditional legacy of the state, Kashmiri Sufiyana Music displays the rich folk culture of Jammu and Kashmir.

Hafiz Nagma- A part of the classical Sufiana Music, Hafiz Nagma makes use of Santoor-a hundred stringed instruments played with sticks. In Hafiz Nagma, there is a female dancer, accompanied by a number of males with instruments. The dancer, known as Hafiza, moves her feet to the musical notes.

The Santoor Music displays the rich musical heritage and traditional culture of the state. The classical music of Jammu and Kashmir, the melodious Kashmiri Santoor compositions enchants and enthralls the audience with its captivating songs. Accompanied with the traditional musical instrument of Santoor, the talented classical musicians display their exemplary artistic caliber.

One of the prominent performing arts of the state of Jammu and Kashmir, Santoor portrays the unique musical culture of the state. The traditional musical instrument of Santoor is usually made out of walnut. However, the Santoor has numerous strings attached to the musical instrument.

The Santoor music bears relics to the enrich heritage of classical music of the state. The enchanting melody of the traditional instrument of Santoor fills the audience with an intense sense of pleasure and satisfaction. Usually played on special festive occasions, the Kashmiri Santoor music displays the artistic inclination of the indigenous local inhabitants of the state.

Inherited from the glorious ancient era, the professional classical musicians and singers of the Kashmiri Santoor music has earned a name for them in the international arena as well. An integral part of the cultural past of the glorious ancient times, the composers and singers of Kashmiri Santoor music perform with full dedication which is reflected in their exemplary and flawless performance.

The enchanting melodious notes of Kashmiri Santoor music provide

the audience a relief from the stress and strains of daily mundane life. The beautiful compositions of Kashmiri Santoor music portray the potentialities of the musicians of Jammu and Kashmir.

Masade songs- One of the prominent folk songs of Jammu and Kashmir, the enchanting melody of Masade reflects the rich musical heritage and ancestral legacy of the state. Endowed with a rich cultural heritage and traditional antecedents, the state of Jammu and Kashmir boasts of a wide variety of spectacular performing arts that is reflected in the unique dance styles, melodious folk songs and expressive dance dramas.

Masade is one such traditional folk song of Jammu and Kashmir that represents the artistic caliber of the singers. The uniqueness of the traditional folk song of Masade lies in the fact that the singers sing without the support of any musical instrument. The chorus folk song of Masade is performed by ten talented singers who sing with full enthusiasm and devotion that is reflected in their exemplary and flawless performance.

Composed by the indigenous local inhabitants of the state, the poetic wordings and enchanting musical melody of Masade fills the air with music, joy and enthusiasm. The traditional Masade song reflects the excellent command of the talented singers over music. Sung with dedication, Masade songs portray the beautiful voice quality of the talented singers.

An integral part of the social and cultural life of the native population of Jammu and Kashmir, Masade songs refresh and re energize the mind and body of the audience who are overwhelmed at the poetic expressions and enchanting music. Inspired from life, most of the people can relate to the expressive wordings of the traditional folk song of Masade.

Song of Habba Khatoon- Habba Khatoon was a princess of Kashmir. This song reflects her feelings at the time when she was separated from the Yusuf King.

Benthe- Regarded as one of the melodious variations of Jammu & Kashmir music, Benthe primarily owes its origin to the tribes of the valley. The Bakerwal and Gujjar tribal groups are known to have founded the lyrical tradition of Benthe. A group of people that commonly ranges from five to seven sing the Benthe song in a chorus.

An apt representation of the varied music forms of Jammu & Kashmir, Benthe is performed during major occasions and also to celebrate any social ceremony. Although Benthe falls under the local music category of the valley, but while performing this form the participants are also found dancing with the matching tunes.

The Bakerwal and Gujjar tribal people have a long and glorious history which includes a very prominent name – Benthe. Being the aborigines of the state of Jammu & Kashmir, the tribes of the valley offer the pure essence of the artistic culture. Be it folk dance or be it folk music, the tribal zones of the state

5-Back Side K

are rich with numerous nuances of expressive appeals.

Benthe is synonymous to that pulsating tradition of Jammu & Kashmir music which forms the core of cultural ecstasy of the place. Singing in chorus groups, the performers of Benthe, in a way, show the solidarity of the inhabitants of the valley.

Inspite of belonging to two different clans, both Gujjar and Bakerwal enjoy the essence of Benthe by putting best of their vocal performance.

Gwatri- One of the unique dance forms of the state, Gwatri reflects the rich cultural tradition and historical heritage of Jammu and Kashmir. Gwatri represents a harmonious blend of enchanting melodious music coupled with unique dance steps. Jammu and Kashmir is blessed with a plethora of splendid performing arts which is evident through the various dance forms, folk songs and dance dramas. Gwatri is one such exemplary traditional art form that bears relics to the rich folk culture of Jammu and Kashmir.

Inspired from real life situation, the local indigenous artists compose beautiful songs that reflect their artistic caliber. The poetical lyrics, enchanting melodies and expressive dance styles impart a unique character to the traditional folk art of Jammu and Kashmir. Upholding the rich musical heritage of the region, the enchanting songs fill the audience with intense pleasure and satisfaction.

The unique folk traditional art of Gwatri requires talented singers with excellent voice quality and dancers who are able to express the true meaning of the songs through their unique dance steps. An integral part of social and cultural life of the native population of Jammu and Kashmir, the beautiful combination of traditional folk songs accompanied with folk dance portrays the immense potentialities of the performers who perform with full enthusiasm and dedication.

The devotion of the artists towards the rich cultural heritage is reflected in their marvelous performance. A unique cultural trait of Jammu and Kashmir, Gwatri refreshes and re energizes the mind and soul of the audience who are overwhelmed at the beautiful amalgamation of enchanting melodious songs with expressive dance forms.

Bakhan- This folk song is a widely prevalent form of mass entertainment in our region. The haunting Melody of Pahari songs add to the beauty and joy of daily life. There are certain songs which are independent of instruments. "Bakhan" is such a best example. "Bakhan" are in verse. The metre is irregular and is determined by modulation in tone. The movement of hand indicates the variations in the note. This is the only form of lyric in Dogri which resembles the Western harmony of sounds without losing its individual note and rhythm.

Geetru -A dance-song of Dogra Pahari region of Jammu being performed at the occasion of feasts, festivals and marriages by the rural folk parties of this region. Male and female both participate in this dance-song in their traditional costumes.

This type of dance-song is performed at any time of the day as well as night.

Surma -Surma is a song in Dogri that reflects the agony of a newly married girl whose husband is away in the Army.

Maqams: The ensemble is performed by several musicians singing and playing instruments. There pertoires are organized into suits called maqams. Maqams refer to both a melodic mode and melody type, formed of specific notes in ascending and descending, and as a suit, which is a collection of selected pieces strewn together in an entire repertory. The Maqams are presented in specific tala, or rhythmic mode, at a prescribed time of the day. There are about 47maqams known and each one of them have variant types and evoke particular moods in the performer and the audience, much like the Ragas in Hindustani classical music. The ragas are closely related to maqams, and have similar names and modes, many of them sharing the same skeletal structure of the notes arranged in ascending and descending. Most of the maqams correspond to sounds of animals or objects and each is assigned a particular time of the day to maximize the effect of the music, e.g. the maqam"araq"performed at sunrise is supposed to make people cry.

Maqams are also thought to have the rapeutic properties. Sufi poems, written by both Kashmiri and Persian poets, are used as texts/lyrics for the songs.

Summing this up I would like to definitely say that Kashmir has been a great and ancient place of textual and musical treasure, however due to unfortunate circumstances we have some of the traditions left; whereas there are some people who are constantly engaged in reviving the extinct forms.

BIBLIOGRAPHY

BOOKS

DR SUNITA DHAR, The traditional music of Kashmir in relation to Indian classical music, *KANISHKA PUBLISHERS, DISTRIBUTORS NEW DELHI-110002,* **2003,** ***PAGE 10.***

SUNEETHI BAKSHI, Kashmir the history and Pandit women's struggle for identity, *VITASTA PUBLISHING PVT LTD.NEW DELHI,***2009,*PAGE 19-40.***

CHITRALEKHA ZUTSHI, Languages of belonging Islam, regional identity, and the making of Kashmir, *PERMANENT BLACK,***2003,*PAGE 16.***

PARWEZ DEWAR, the people and culture of Jammu-Kashmir-Ladakh, *MANAS PUBLICATIONS NEW DELHI-110002,* **2011, *PAGE 151.***

T.N MADAN, the valley of Kashmir the making and unmaking of composite culture?, *MANOHER PUBLISHERS AND DISTRIBUTORS DARYAGANJ NEW DELHI-110002,***2008,*PAGE 303.***

ARTICLES

MOTILAL KEMMU, the bhand theatre of Kashmir, **Sangeet Natak**, *SECRETARY SANGEET NATAK AKADEMI,RABINDERA BHAWAN,FEROZ SHAH ROAD,NEW DELHI-110001,****NUMBER 3-4,2011,***PAGE 33.

RIA BASU, clowning politics: the bhand in Kashmir, **Marg a magazine of the arts**, *THE MARG FOUNDATION,MUMBAI-400001,INDIA,****NUMBER 1 SEPTEMBER 2013,***PAGE 26.

5-Front Side K

BANARAS BAAJ : ORIGIN AND SPECIALITIES

Dr. Abhishek Tushar
Tabla Player :
Music Deptt of T.M., Bhagalpur University, Bhagalpur (Bihar)

Various tablaplayers created their own Gharanas by creating a splendor in their playing. Difference in their compositions and playing technique gave birth to independent style which is known as 'Baaj'. The stylistic speciality, unique tabla playing technique, placement of hands, etccreated by Pt. Ram Sahaiis called 'Banaras Baaj'. These techniques give rise to various tonal qualities, application, presentation of syllables and sitting postures.

Gharanedar musicians of Banaras used play tabla even earlier, but the traditional 'Banaras Baaj' was not fully developed until Pt. Ram Sahai. It is Pt. Ram Sahai, who developed a distinct playing technique through his considerate thoughtfulness which was different from all the other existing Gharanas. He enriched the Baaj by amalgamating the stylistic speciality of Pakhawaj, Tabla, Dholak, Tasha, Nakkara, Dukkar etc.

It is said that by the time Ram Sahai was seven years of age, he was going to all the musical events at which his father played. When his father's turn to perform came, Ram Sahai always played a short tabla solo first. He was obsessed with learning tabla and by the time he was nine, he played very well. "In 1787, NawabAsaf- uddaula arranged a musical event in celebration of his son's circumcission ceremony .... Ram Sahai went to Lucknow with his father and uncle. He attended all the concerts and greeted all tabla items with great excitement. An old musician at the court, Modhu Khan, was keenly interested in Ram Sahai."[1]UstadModhu Khan was the founder of LucknowGharana and a direct descendant of UstadSiddhar Khan (founder of Delhi Gharana).

Ram Sahai played a concert at his uncle's house. UstadModhu Khan was very impressed with his playing and asked that he be allowed to teach him. Permission was granted and soon after that Ram Sahai's uncle and father left for Banaras. Modhu Khan was considered to be the best musician among the three brothers but his hand was incapacitated for

some reason and so he was unable to play the tabla very well. Many people made fun of him behind his back and he was given the nickname of 'ParkataKabutar', which means a pigeon with clipped wings. Initially, Modhu Khan had been very sad over the fun everyone made of him but then he turned angry and swore never to make a Muslim, a disciple of his Roach, 1967 says : "It seemed that Modhu Khan had taken a vow never to teach a Muslim his art-he hated his own community because of their attitude towards him."(2) Ram Sahai interested Modhu Khan for he would be an excellent disciple as he displayed such interest in the tabla at the concerts. Also, Ram Sahai was a Hindu. By teaching him all he knew, Modhu Khan would gain 'wings' and teach everyone a lesson.

"Ram Sahaya now began to reside permanently with his uncle in Lucknow and learned tabla from Modhu Khan for twelve to fourteen hours every day.

When after the death of NawabSuja-ud-daula, Wajid Ali Saha was enthroned as the Nawab, there was music glare for many days in celebration of this happy occasion. Many musicians were invited from far and near. Modhu Khan, the teacher of Rama Sahaya requested the Nawab to allow Rama Sahaya also demonstrate his art. The Nawab acceded to his request. Rama Sahaya gave a demonstration of his art for a full week. Everyday he established new parans, relas etc., in his performance. On the last day, his teacher rose on his feet, with pride gleaming over his face and challenged all the tabla-players to come forward, if they dared, and try to excel him in his art. All the artistes acclaimed him with one voice as the most outstanding tabla-player."(3)

After learning from UstadModhu Khan for 8 years, Ram Sahai came back to Banaras and made a number of changes in the position of fingers, placement of hands, presentation of syllables and finally led the foundation of "Banaras Baaj". This Baaj was suitable for solo and accompaniment of all forms of Vocal, Instrument and Dance. In this Baaj, "Na" is played with a curved ring finger and "lau" is used preferably much more than "chanti". "Tete" is played with three instead of two fingers. These changes gave a bold sound to the tabla of Banaras Gharana. Moreover, "Thaapka Ta" played with the little finger gives a special identity to this baaj.

In other Gharanas solo begins with a Peshkar, but in "Banaras Baaj" solo begins with authan. The ideal for any tabla player is to be able to play an extended improvised uthan. The improvised form requires a great skill on the part of the table player and an extensive repertoire to draw on. In a traditional tabla solo, uthan is followed by variation of 'theka' in vilambitlaya. This variation of theka is known as "BanarasiTheka" and is a speciality of Banaras Gharana. The beauty of

theka is in the transition from theka to the kayda and from kayda to rela. In this transition, one can feel the alap, jor and hala, section sitar, sarod and other instruments' performances. A very important aspect of theka is the extensive use of variation in pitch of the open bayan stroke "ghe".

In this Baaj, Kayda, Bant, Rela, Paran, Angushtana, Gat, Tukrasetc are also equally important. Though, there is a subtle difference between Kayda and Baantin this Baaj. Gat and Fard are played within the rela. Although a few artistes play these compositions after completing the rela. There are so many Gats in use, namely :Ekmuhi gat, Do muhi gat, Punjabi gat, Tihaidaar gat, charbaghki gat, Eklaiki gat, Banarasi gat, etc. The "Fard" is the unique composition of this baaj. The word "Fard" is derived from Arabic language, which means matchless, unique, single. Most of the composition have pairs, but "Fard" has no pair.

"Banaras, being the only gharana represented by the Hindus, the followers of this style often put a Tilak on their forehead as a sign of worshipper of god and sits in a yoga posture called Vajrasana. The significant contributions of Banaras Gharana are BolPadhans and stutipadhans."[4] All the members of this Gharana are Brahmans by caste and are known as "Saamvedi Brahmans", since their ancestors used to do `saam-gaan' during Vedic age. Saam-gaan is entirely based on `Chhand'. Each and every `Richa' was sung in a different chhand to create various types of effects. Pt. Ram Sahai knew the importance of chhand, therefore, he incorporated it into the "Banaras Baaj". As different gharanas have various compositions based on layakari, this Baaj has various composition based on chhand. Senior most artistes of this Gharana use these chhands to enhance the beauty of their performance. Apart from speed, `Chhand' and tonal quality are given priorities in this Baaj.

In Indian music and Dance, manifestation of Rasa is of great significance. Acharya Bharat has said that Music is used where manifestation of poetrical work ends. Since the tabla of Banaras is based on chhand, various types of chhand are helpful in displaying various types of Rasa. Apart from displaying various chhands, the tabla of Banaras is able to display other emotions through various other `Bols'. And this is possible due to the abundance of `bols' in the repertoire of the `Banaras Baaj'. Moreover, the main reason of the variety of `bols' is that Pt. Ram Sahai has incorporated the bols of tabla with the bols of Dukkar, Tasha, Nakkara, Mridanga, Dholak, etc. and enriched the repertoire of "Banaras Baaj'. For eg :- in order to express anger, powerful syllablas like `Dhere-Dhere', `Taka Dhumakita', `Gharan', etc are used. And to display the mode of love and embellishment, such syllables are used which can be played softly on `Chanti' or `lau' of tabla. Due to these versatilities, this Baaj is considered very successful and useful today.Some of the unique compositions of `Banaras Baaj' are as follows :

- **Fard (Teentaal) :**

Dhaghetete	GharaSna	Dha S Ghera	nagadhin
X			
Gheranaga	Takitaghe	Naga dhin	gheranaga
2			
Tetetete	naranara	tinakara	taka tin
0			
Takitaghe	nagadhet S	tirakita taka ta S	Sghe
dhirakita taka			
3			

- **Charbaaghki Gat (Teentaal) :**

Dhin S Skra	Dhin S Na S	Gheranaga	Dhinataka
X			
DhereDhere	DhereDhere	Gheranaga	Dhinataka
2			
TeteGhara	S nadha S	Gheranaga	Dhinataka
0			
Taka Dhin	taka taka	Gheranaga	Tina taka
3			
Tin S Skra	Tin S na S	keranaga	tina taka
X			
TereTere	TereTere	beranaga	tina taka
2			
Teteghara	S nadha S	Gheranaga	Dhina taka
0			
Taka dhin	Taka Taka	Gheranaga	Dhina taka" [5]
3			

- **BolParan (Ada choutaal):**

GananaamGana	Pati Ganesh lam
X	
Bodarsohe	Bhuja char Ek
2	
Dantchandrama	Lalatrajey
0	
Brahma Vishnu Ma	Heshtaal de
3	
Dhrupad gavein	AtiVichitraGana
0	
NathaAaja Mira	dangaBajavein
4	
DhaghenaDhaghetete	Ta ghena Ta ghetete

0

Karadhetdhitadhita	Dhaghena Ta S kita taka

X

Ta S nadha S Dha S	Dha S Ta Dha S Ti S

2

Dha S Ta Dha S Ti	Dha S Ta Dha S Ti S

0

Dha S naDha S Dha S	Dha S Ta Dha S Ti

3

Dha S Ta Dha S Ti S	Dha S Ta Dha S Ti S

0

Dha S naDha S Dha S	Dha Ta S Dha S Ti S

4

Dha S Ta Dha S Ti S	Dha S Ta Dha S Ti S

0

Dha

X

References :

1. Shephered , Frances Ann : "Tabla and the Banaras Gharana", unpublished Ph.D. thesis, Wesleyan University, 1976, Pg. No. 24.
2. Roach, David : "Notes from a Hindustani Musical Garden, Unpublished Ph. D. thesis, University of Wisconsin, 1967, Pg. No. 76.
3. Singh, Dr. Thakur Jaideva : "Indian Music", Sangeet Research Academy, Calcutta, 1995, Pg. No. 305.
4. Sengupta, PanditAshish : "Facets of Tabla Playing", Kanishka Publishers, New Delhi, 2011, Pg. No. 50.
5. Tushar, Abhishek : "Banaras BaajkeSanrakshantatha SamvardhanmeinPanditShardaSahaikayogdan", unpublished Ph. D. thesis, T.M.Bhagalpur University, Bhagalpur, 2012, Pg. No. 66.

नर्तन

कत्थक और रास नृत्य

उमा शर्मा

सुप्रसिद्ध कत्थक नृत्यांगना

कत्थक और रास अपने स्वरूप में नृत्य परक विधायें हैं। श्रीकृष्ण की विविध केलियों को लेकर इनके आयाम का निर्माण होता है। वैसे तो रास नृत्य की परम्परा बहुत प्राचीन है। महाभारत के खिल पर्व हरिवंश में एवं अन्य पुराण ग्रंथों में राम नृत्य के प्रयोग मिलते हैं। 16वीं शताब्दी में जब भारत में भक्ति भावना की बांसुरी बजी, तब इसका केन्द्र बना ब्रज मंडल। वृन्दावन अनेक साधकों की साधना स्थली बनी और इसी स्थली में बांसुरी का मनमोहक स्वर इस तल्लीनता से बजा कि इसमें समस्त ब्रज मण्डल ही नहीं, सम्पूर्ण भारत ही रसमग्न हो गया।

आचार्य वल्लभ, सूरदास, कुम्भनदास, नन्ददास जैसे अष्टछाप कवियों ने अपने काव्य की भूमिका पर इस मंच को संवारा, निखारा और स्वामी हरिदास जैसे संगीतज्ञों ने अपनी संगीत विषयक बारीकियों से इसका श्रृंगार किया। रास की इस विधा को नृत्यपरक प्रबन्धात्मकता का आयाम मिला और प्रचार-प्रसार में मिले स्वामी घमण्डदेव तथा श्री नारायण जैसे साधक। जिनके सत्प्रयासों से राम की वह विधा अपना एक वातावरण बना सकी। कालान्तर में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं को लेकर रास मंच पर विविधता के दर्शन हुए। परिणामतः रास संगीत शब्द का पर्याय बन सका, जिसमें सम्यक् गीत के लिए गायन, भजन और वादन की एक सुव्यवस्था को प्रतिष्ठा मिली।

कत्थक शब्द के निर्माण में कथ्यशब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। कत्थक का सम्बन्ध सीधे-सीधे रूप में कथन से है। प्राचीन काल में कथ्य अथवा कथन की स्नावलियों में बांध कर प्रस्तुत करने की परम्परा रही है। पाली भाषा का कथिका शब्द भी आख्यानों द्वारा धर्म प्रचार करने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है। हाँ, इतना अवश्य है कि कत्थक के आदि प्रयोक्ताओं का मंच अधिकांश वातावरण, राजप्रसाद एवं कलाविदों से परिपूर्ण रहा है। जब कि रास का मंच जन साधारण का मंच होते हुए भी कलाविदों के आकर्षण का केन्द्र रहा है।

यद्यपि शुद्ध संगीत का स्वरूप हमें रास विद्या में ही उपलब्ध होता है, परन्तु कत्थक प्रदर्शन में श्रीकृष्ण लीलाओं की प्रबन्धात्मकता हमें यह सोचने को विवश करती है कि कत्थक पर रास की इन कृष्ण लीलाओं का प्रभूत प्रभाव है। रास मंच पर जहाँ लीलाओं का प्रदर्शन अपनी नाटकीय सज्जा में अनेक पात्रों की भूमिका द्वारा सम्पादित होता है, वहाँ कत्थक में सम्पूर्ण लीलाओं की सांकेतिक विद्या द्वारा एक पात्र ही प्रस्तुत करता है। हाँ, मुगलकाल में राजदरबारों में पलने के कारण कत्थक के प्रदर्शन में नृत्य के बोलों से उत्पन्न चमत्कार का चकाचौंध अवश्य देखने को मिलता है। इस प्रकार रास नृत्य जहाँ हृदय में एक हिलोर पैदा करता है, कृष्ण भक्ति की गुदगुदी उत्पन्न करता है, वहाँ कत्थक बुद्धि को एक प्रकार से आश्चर्यचकित कर वाह-वाह का सहज वातावरण बनाने में सफल होता है। फिर भी रास एवं कत्थक के नृत्य स्वर अपनी परम्परा विकास में समान है, हमें यह न भूलना चाहिए—उदाहरण के लिए—वृन्दावन की वे हरित भूमि मनमोहन परम सुहाय रही है...रास में

ठाकुर जी के नृत्य करते समय जो बोल बोले जाते हैं, वे इस प्रकार हैं—तकिट तकिट धिल्लां...

इन्हीं बोलों को जब कत्थक में प्रस्तुत किया जाता है, तब इसी प्रकार की ध्वनियाँ वहाँ भी सुनाई देती हैं। दोनों में यदि अन्तर है तो केवल इतना कि दोनों में अंग संचालन अपनी परम्परा के अनुसार अलग-अलग होते हैं। उदाहरण के लिए जब रास मंच पर धिल्लां शब्द का उच्चारण होता है, तब श्रीकृष्ण पंजों के बल बैठकर लम्बी छलांग भरते हैं और सखियों के साथ मण्डल नृत्य में सम्मिलित हो जाते हैं। परन्तु कत्थक के मंच पर इसी धिल्लां शब्द पर नर्तक अपने स्थान पर एक छोटी सी उछाल लेकर नृत्य के आगे का टुकड़ा शुरू कर देता है।

इसी प्रकार रास और कत्थक की नृत्य संबंधी कुछ विशेष आकृतियों में भी कुछ समानतायें पायी जाती हैं। तत्कार यत्किंचित् भेद से दोनों ही मंचों पर देखी जा सकती हैं। रास मंच पर समाजी ता थेई थेई तत् थेई तत् ... पर नृत्य की विभिन्न मुद्रायें देखी जाती हैं। कहीं सखियाँ कमल की पंखुड़ियों के रूप में खिले हुए कमल का रूप बनाती हैं और बीच में अपने प्यारे श्याम सुन्दर को बंशी बजाते हुए देखती हैं तो कहीं मयूर नृत्य की आकृति देखी जाती है। गलवाही देकर थिरकन तो रास मंच की एक शोभा ही है। कत्थक शैली के नृत्यों में इस प्रकार की आकृतियाँ भले ही न हों, परन्तु शरीर की भिन्न-भिन्न मुद्रायें बड़े कौशल से यहाँ भी दिखाई जाती हैं। जहाँ तक गेय रचनाओं का प्रश्न है, कत्थक में सभी प्रकार के छन्द कवित कहलाते हैं, किन्तु रास में इस प्रकार का कोई समूह वाचक शब्द नहीं है। रास नृत्य प्रायः पर्दों पर होता है मांझों होता है। कवित्त सवैया, दोहा, सोरठा और आजकल रसिया भी रास मंच पर प्रयोग होते हैं। कत्थक में जिन रचनाओं को लय, ताल के अनुरूप ढाला जाता है, इन कवित्त रचनाओं का एक उदाहरण प्रस्तुत है—कृष्णतांडव ताराव गति मंडन पर नृत्यत बन माली।

ध्रुपद धमार की पुरानी परम्परा यदि कहीं देखने को आज मिलती है तो वह अपनी पूरी सजधज के साथ रास मंच पर ही सुरक्षित है। यह दूसरी बात है कि आज का व्यावसायिक दृष्टि और समय का अभाव इन रचनाओं के प्रयोग को कम करता जा रहा है। कत्थक नृत्य में भी ये परम्परायें देखने को मिल जाती हैं। गुरु श्री शम्भू महाराज कत्थक नृत्य को नटवरी नृत्य कहते थे। उनका कहना भी यही था कि कत्थक की परम्परायें मूलतः रास में ही सुरक्षित हैं। कत्थक का सम्पूर्ण कलेवर कृष्ण कथाओं से ही बनता है। विकासक्रम में कत्थक का यह मंच कृष्ण कथाओं से भिन्न अन्य कथाओं को लेकर भी अपनी सामग्री संजोता आगे बढ़ रहा है। कत्थक में नृत्य प्रदर्शन हो अथवा कृष्ण कथा की अभिव्यक्ति हो, भाव-भंगिमा का कोई प्रकार हो या पद संचालन की कोई भी क्रिया हो, सभी दृष्टियों से इसके प्रारम्भिक बिन्दु रास नृत्य में सुरक्षित है। रास की सम्पूर्ण लीला कत्थक में भले ही न हो, परन्तु कत्थक के गत भाव रास लीला के अंश अवश्य माने जायेंगे। रास की परम्परा जहाँ भक्तों और सहृदयों को आनन्द देती रही है, वहाँ कत्थक की विधा कला-पारखियों को मंत्रमुग्ध करती रही है। प्रयोग की दृष्टि से कत्थक का यह मंच आज भी रास की अनेक बारीकियों को अपने में संजोता हुआ रास नृत्य के महत्व को बना रहा है।

INFLUENCE OF VAISHNAVITE BHAKTI ON ODISHI DANCE

Geeta Mahalik

Famous Odisi Dancer

The repertoire of presentday Odishi dance comprises nritta or pure dance and nrutya or expressional dance (abhinaya). While the nritta or pure dance element of Odishi dance is aesthetically beautiful and is a delight for the eyes, the nrutya or abhinaya element has a deeply devotional and religious content. Odishi dance during the earlier periodof its existence had only the nritta or pure dance element and the nrutya or abhinaya element with its deeply devotional and religious orientation came about only as a result of the influence of Vaishnavite Bhakti movement which starting from the twelfth century A.D swept Odisha during the sixteenth century AD. Dr. Kapila Vatsyayan, an eminent scholar of dance, in her book Indian Aesthetics has observed as follows :

"The themes which the Indian dancer portrays are not only the raw material of literature, but are also the finished products of literary creation..... Indian dancing has two distinct aspects: the nrtta (pure dance) and abhinaya (nrtya, mime, gesticulation). The nrtta portion of dance depends for its life-breath on the music and rhythm which accompany it : the abhinaya portion depends for its expression on the theme of the narrative or lyrical literary composition (termed sahitya by practicing dancers) which is sung."

The temple dance in Odisha, by the above yardstick, lacked a significant literary composition or sahitya for nritya or abhinaya till the Bhakti movement and Jayadeva's composition of 'Gita Govinda'.

2. Overwhelming opinion among the historians of Odisha is that dance in the days of Kharavela, to which the origin of Odishi dance can be ascribed, was a form of entertainment, secular in character, for the Emperor and the citizens. There were neither any religious and devotional content in the dance nor was it performed in front of any deity.

3. Pinpointing the period when singing and dancing became an integral part of ritual services in the worship of gods in the temples of Odisha is truly a difficult task. The

post-Kharavela period of Odisha's political and cultural history is extremely hazy. What is known with a fair measure of certainty is that with the advent of Mahayana Buddhism in the 6th century AD, there was a rich flowering of artistic excellence in Odisha. While there has been sculptural and iconographic representation of dancing gods as well as human beings on the temples of Odisha from the 6th century A.D onwards, singing and dancing as an essential part of the ritual services perhaps developed with the growth of Shaivism in Odisha. *Shiva Purana* clearly states, in connection with the building of a temple in honour of Shiva, that it should be provided among other things with hundreds of dancing girls who should be proficient in the twin arts of singing and dancing. The earliest epigraphic evidence regarding consecration of

dancing girls is the inscription on the Brahmeswar temple built by Kolavati Devi, mother of Udyota Kesari, the last king of the Kesari dynasty, in the 10th century AD.

4. The Gangas who were ruling from Kalinga Nagar (in present day Andhra Pradesh) defeated the Kesaris and other ruling clans of Odisha and built up an empire extending from river Ganga in the north to river Godavari in the south. Chodagangadev built the temple of Madhukeswar at Mukhalingam (Andhra Pradesh) and the famous temple of Jagannath at Puri. An inscription on the pillar of Madhukeswar temple reads as follows : *Nibandha - nartaka - deva - ganikaya* (provided for dancing by devaganikas or devadasis). The same system of devadasis was later introduced in the Jagannath temple at Puri. Chodagangadev's son, Rajarajadeva II (1170-1194 AD) appointed twenty dancing girls for service in the Jagannath temple as testified by Madala Panji, the daily chronicle of the temple.

5. Ramanujacharya, who propounded the philosophy of *'Visistadwaitavada'* or 'Qualified Monism' travelled from Kanchipuram in Tamilnadu to Andhra Pradesh, Orissa and the rest of India preaching his philosophy of *Bhakti*. He reached Puri in the 12th century AD. Before Ramanuja came to Orissa, the reigning Ganga kings of Orissa were staunch Shaivites. Even Anantavarma Chodaganga was a 'Shaiva' in his early life. Late in life, he came under the influence of Ramanuja and became a 'Vaishnava' transforming himself from *'Parama Maheshwar'* to *'Parama Vaishnava'*. The royal patronage provided Vaishnavism the desired impetus and flagged off Vaishnavite Bhakti movement in Orissa.

6. Another Vaishnava saint, Nimbarka, supported and propagated the Bhakti cult in the latter part of the 12 century A.D. Though Nimbarka belonged to the south, he lived in Vrindavan near Mathura which is the epicentre of Krishna cult. He propounded the *'Dwaitadwita'* philosophy which extolled Krishna as the 'Absolute Brahman' and Radha, his consort, as 'Hiladini Sakti' (ecstatic energy). This concept of Radha, which was new in Vaishnava pantheon, was brought to Orissa by Nimbarka.

9. It was around this time that

Jayadeva, the saint-poet, lived in Puri in constant devotion to Lord Jagannath. Jayadeva was profoundly influenced by the great masters of Vaishnavite Bhakti movement in general and Nimbarka in particular. He wrote his magnum opus 'Gita Govinda', a magnificent rhetoric of Radha-Krishna love in Sanskrit which marked a turning point in the dance tradition of Orissa. It was under the aegis and patronage of Chodaganga Dev that Jayadeva's 'Gita Govinda' was presented within the precincts of Jagannath temple by the 'Sani-Sampradaya'. It had an enchanting quality for devotees and travellers who flocked to Puri from all parts of the country. It was for the first time in the long evolution of temple dance in Orissa that dance acquired the quality of drama and the merger of the religious, spiritual and the symbolic with the aesthetic and the secular. The intertwining of Jagannath cult with Radha-Krishna worship in Vaishnavite Bhakti movement had a profound influence on the practice of dancing in the temple premises.

10. While singing and dancing as an essential part of ritual services developed with the growth of Shaivism in Odisha, dancing girls were first appointed in the temple of Lord Jagannath at Puri for the essential ritual services of the deity by Anantavarma Chodagangadev in the 11th century A.D. These female attendants of the temple were known as *Maharis*. The *Maharis* trace their origin to the celestial dancer Rambha and Urvashi. The dance performed by the *Maharis* in the nata mandira during the morning offering (*sakala dhupa*) was pure dance i.e. nritta. There is no song accompaniment to this dance. The dance during *bada singar* (bed time) in the innermost sanctuary was exclusively for the deity. This dance was expressional and the songs in accompaniment were from the Gita Govinda.

11. Kapilendra Dev, the first Gajapati king, succeeded the eastern Ganga Kings in 1434-35 AD. According to tradition, Kapilendra Dev built the outer wall of the Jagannath temple on which there are inscriptions. One of the inscriptions refers to the royal order for performing dance in the Jagannath temple from the time of *Sandhya dhupa* (evening rituals) upto the time of *Bada-Singara* (bed time rituals). It also orders four Vaishnava singers to sing from Jayadeva's Gita Govinda. It was during the reign of the third Gajapati King Prataparudra Dev (1497-1540 AD) that the singing and dancing by the *Maharis* in the Jagannath temple took a new turn and reached its apogee. Prataparudra Dev issued a royal edict inscribed on the Jaya-Vijay door in the temple precincts in AD 1499 making singing and dancing of Jayadeva's Gita Govinda mandatory in the temple.

12. When Prataparudra Dev made singing and dancing of Gita Govinda compulsory in the temple of Jagannath, the necessity of teaching *abhinaya* to the *Maharis* arose and most probably Ramananda Ray accepted this responsibility. Ramananda Ray, the greatest disciple of the great Vaishnava saint Shri Chaitanya, was not only an erudite Vaishnava

scholar but a poet, a dramatist, a musician and an exponent of dance. He had written an operatic play Jagannath Ballav on the dalliance of Radha and Krishna on the lines of Jayadeva's Gita Govinda even before the advent of Shri Chaitanya in Puri. This drama was staged a number of times in the Jagannath temple with the help of devadasis. *Chaitanya Charitamrita* of Krishnadas Kaviraj gives a detailed account of Ramananda Ray imparting training in dance and *abhinaya* to the *Devadasis* or *Maharis* of the temple. It describes Ramananda Ray teaching *Sattwika bhava* and *Sanchari bhava* to the beautiful *Devadasis*. Ramanand Ray also got Gita Govinda enacted in dance through the *Maharis*. Therefore the credit for introducing *abhinaya* in the dance of *Maharis* goes to this great Vaishnavite scholar. Vaishnavite Bhakti in Odisha starting with Jayadeva followed by Shri Chaitnaya and his disciple Ramananda Ray had a seminal influence on the *Mahari* tradition of Odishi dance. While the dance performed in the nata mandira of the Jagannath temple during the morning offering (*Sakala Dhupa*) conforms to the traditional pure dance i.e. nritta, which has no song accompaniment, the dance from *Sandhya Dhupa* (evening rituals) to *Bada Singar* (bed time) in the sanctum sanctorum exclusively for the deity are expressional (*abhinaya*) and the songs accompanying the dance are from Gita Govinda only.

13. Some time later than the Mahari tradition, another tradition of Odishi dance known as Gotipua tradition developed. *Gotipua* means single (goti) boy (pua). A dance performed by a single boy dancer in female costume is known as *Gotipua* dance. There are several theories and conjectures about the origin of *Gotipua* dance. One of the noted historians of Odisha has ascribed the origin of *Gotipua* tradition to the rigidity of the 'purdah' system in the subsequent Muslim period which led to the seclusion of women and made their presence scarce on the festive occasions. Another eminent scholar of Indian classical dances ascribes the origin of this class of boy-dancers to Ramananda Ray, the Vaishnavite Minister in the court of Prataparudra Dev. He has stated. "Ramananda Raya was a devout Vaishnava of this extreme cult and encouraged worship according to *Sakhi Bhava*. It was he who introduced the custom of the temple dances being performed by boys dressed as girls and not by women as was the custom elsewhere."

14. What emerges from the mist of conjectures is that most probably after Ramananda Ray and Shri Chaitanya, the Vaishnavas did not approve of dancing by women. They preached and practiced the cult of *Sakhi Bhava*. The *Gotipua*

tradition of young male acolytes dressed as female dancers came into being during the rise of the cult of *Sakhi Bhava* - a religious movement in which devotees considered themselves the consorts of the Lord. They (the post-Chaitanya Vaishnavas) preached and practiced the cult of *Sakhi Bhava* (offering one's self to Krishna as a female attendant) and introduced boy dancers in place of women.

15. The *Gotipua* dancers danced

6-Back Side K

outside the precincts of the temple except on some festive occasions when they were specially allowed to perform in the temple precincts. The temple precincts continued to be the domain of performance only by the *Maharis*. For the first time, temple dance came out of the temple precincts and was performed by the *Gotipua* dancers outside the temple precincts, in the public. At this time, Vaishnava poets composed a large number of lyrics in devotion to Lord Krishna. The Vaishnavas chose the *Gotipua* dancers as the medium of publicity of their cult and philosophy. Most of the Vaishnava *Mathas* of Odisha patronized *Gotipua* dances and some of them had their own groups to perform. *Gotipua* dance was an effective means of communication of Vaishnavite Bhakti cult as the *Gotipua* dancers themselves sang devotional lyrics while dancing to them.

16. The one firm conclusion that emerges from the evolution of *Mahari* and *Gotipua* traditions of dance is the profound influence of Vaishnavite Bhakti movement that held sway in Orissa from the 12th Century AD to the 19th Century AD on these two dance traditions. It contributed a body of sahitya (literature) on which the abhinaya element of these two dance traditions developed, giving them the fullness of flesh and blood.

17. Jayadeva's `Gita Govinda' in Sanskrit was the first significant literary expression of Orissa's Bhakti movement. Its impact on Orissa's literature, iconography, painting, sculpture, music and dance has been tremendous. Most important was the acceptance of this poem as a text for worship in the Jagannath temple. The kings of Odisha enjoined that the worship of the Lord would be done through the singing of Gita Govinda. There is a legend about the attempt made by a king to replace the singing of Gita Govinda by an imitation and how the Lord refused to accept the imitation. The singing of Gita Govinda as a part of temple worship was firmly established during the reign of Prataprudra Deva Prataprudra Deva issued a royal edict inscribed in Odia on the Jaya-Vijaya door of the temple precincts in 1499 making singing of only Gita Govinda mandatory in the temple. The tradition of singing of Gita Govinda, of abhinaya to Gita Govinda and the dramatic presentation of Gita Govinda continued in Odisha for many centuries. But it was the last of the great Sanskrit works of the Bhakti movement in Odisha. After Gita Govinda, the home-grown poets writing in Odia took over the task of lyrical propagation of *Bhakti*.

18. While the *Mahari* tradition of dance within the temple precincts continued with the accompaniment of singing of Gita Govinda only, *Gotipua* dance outside the temple precincts, in the courts of the kings and zamindars, in the religious' gatherings and in the social festivals drew upon the rich poetic and lyrical creations of the Odia poets and musicians who were imbued with the philosophy of the *Bhakti* movement. The songs accompanying the *Gotipua* dance and sung by the *Gotipua* dancers themselves were invariably lyrical compositions by the Vaishnava

poets on Radha-Krishna love.

19. The development of abhinaya as an integral part of Odissi choreography was largely co-terminus with the development of a significant body of literary compositions or *sahitya* because, in the words of Dr. Kapila Vatsyayan, *`the abhinaya portion of the dance depends for its expression on the theme of the narrative or lyrical literary composition which is sung.'* Jayadeva's immortal classic, Gita Govinda, was the first significant literary composition which contributed to the development of *abhinaya* in the *Mahari* tradition of Odishi. Since *Mahari* dance was an integral part of the ritual of worship in the Jagannath temple and singing and dancing of Gita Govinda was made compulsory by a royal edict in the year 1499 A.D, no other literary composition could form the basis for *abhinaya* in this tradition. Moreover, there were hardly any literary creations of any significant quality in Oriya at that time which could lend itself to abhinaya. It was only a few centuries after Gita Govinda that literary compositions in Odia by the poets of the *Bhakti* movement flowered. These compositions had the quality of melody for both singing and dancing. This was also the time of the emergence of the *Gotipua* tradition in which *abhinaya* was based on the Odia songs.

20. The one firm conclusion that emerges is the profound influence of Vaishnavite Bhakti movement which held sway in Odisha from the twelfth century to the nineteenth century on the *Mahari* and *Gotipua* traditions of Odishi dance. It contributed a body of *sahitya* (literature)on which the *abhinaya* element of these two dance traditions developed, giving them the fullness of flesh and blood. The following excerpt from Dr. Kapila Vatsyayan's Indian Aesthetics illuminates this point:

"Indeed, the classical Indian dance would be a dead technique, with meaningless flourishes and elaborations, without the rich sahitya that forms the basis of this dance.....the difference between a good and a bad performance is that the spark of literature shines in one and the lack of it makes the other dead."

In the long evolution of dance in Odisha, Vaishnavite Bhakti and the large body of creative literature it spawned was instrumental in injecting the quality of drama through abhinaya in the repertoire of dance. The end-product was a dance where the religious, the spiritual and the symbolic merged with the aesthetic and the secular. This is what Odishi dance is today.

6-Front Side K

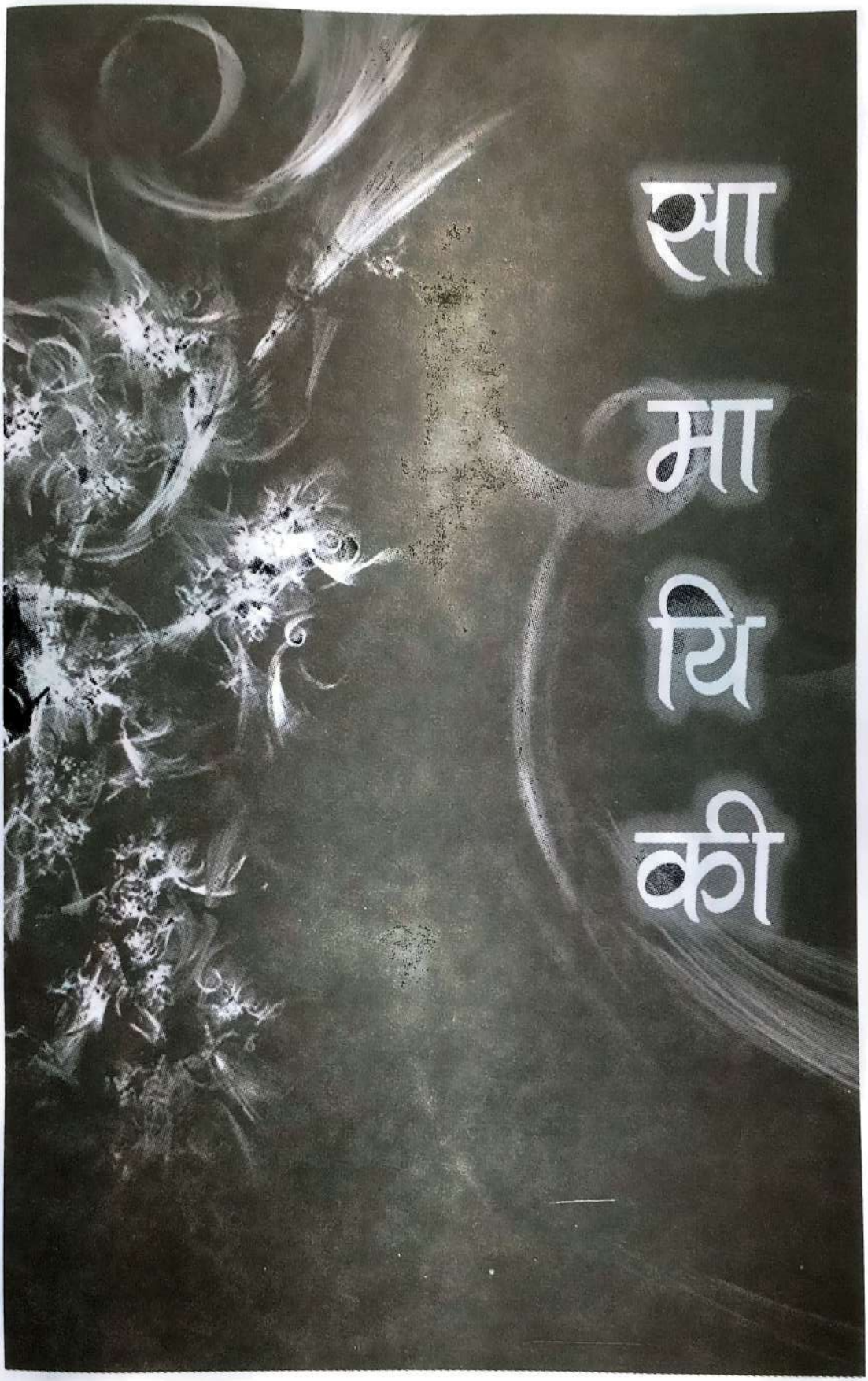
सा
मा
यि
की

वर्तमान संगीत शिक्षा की शिक्षण पद्धतियां एवं तकनीकियां

पं. विजयशंकर मिश्र

प्रख्यात तबलावादक एवं संगीतसेवी

मेरा दृढ़ मत है कि संगीत जीवन के लिये है, सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं। अपने आरम्भिक चरण से ही संगीत भावाभिव्यक्ति ही नहीं, आत्माभिव्यक्ति का भी सशक्त माध्यम रहा है। इसके माध्यम से हम सिर्फ अपने भावों को ही नहीं स्वयं को भी अभिव्यक्त कर पाते हैं। संगीत हमारे अन्दर एकाग्रता, शान्ति, प्रसन्नता, प्रेम, दूसरों की भावनाओं का आदर करना और मन तथा शरीर को स्वस्थ बनाने संबंधी सद्गुणों का विकास करता है...मानवीय गुणों को विकसित करता है... इसकी इन्हीं विशेषताओं से प्रभावित होकर राष्ट्रपिता महात्मा गॉधी ने एक बार कहा था कि 'संगीत और योग की शिक्षा बच्चों को प्राथमिक कक्षाओं से ही दी जानी चाहिए, इसका मैं समर्थन करता हूँ।' मैं भी इसका समर्थन करता हूँ। यद्पि, महात्मा गाँधी के इस सुझाव को उनके राजनीतिक उत्तराधिकारियों ने स्वीकार नहीं किया, तथापि संगीत और शिक्षा आरम्भिक चरण से ही एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।

प्राचीन धार्मिक पौराणिक आख्यानों के अनुसार-संगीत के सृष्टा बह्मा जी से संगीत नामक अनुपम, मनोहारी और मुक्तिदायक कला की शिक्षा लेकर भरत और उनके सौ पुत्रों ने गंधर्वों, किन्नरों और अप्सराओं की सहायता से उसे शंकर के समक्ष प्रस्तुत किया। इन नाट्य प्रयोगों से आनन्दित शंकर ने अपने प्रिय और प्रमुख गण तंडु मुनि को आदेश दिया कि वह भरत और उनके साथियों को तांडव नृत्त की विधिवत शिक्षा दें। दूसरी ओर, पार्वती ने लास्य नृत्य का सृजन कर उसकी शिक्षा वाणासुर की पुत्री उषा को दी। भरत के सौ पुत्रों द्वारा नाट्य कला और तांडव नृत्य का ज्ञान पृथ्वीवासियों को मिला, तो उषा का विवाह जब कृष्ण के पौत्र अनिरूध से हुआ तो उषा के माध्यम से इस नृत्य कला की शिक्षा धरतीवासियों को मिली। इस प्रकार हम देखते हैं कि देवताओं की यह दिव्य कला एक दूसरे को शिक्षित और प्रशिक्षित करते हुए हम लोगों तक पहुंची है।

प्राचीन काल में गुरूकुलों में संगीत शिक्षा के अनेक प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं। उस समय 12 से 48 वर्ष तक के पाठ्यक्रम होते थे। शिक्षा पूर्ण करने के बाद संगीतार्थियों को संगीताचार्यों के समक्ष अपनी प्रस्तुति देनी होती थी। उतीर्ण होने पर उन्हें पगड़ी पहनाकर सम्मानपूर्वक उपाधि दी जाती थी।

तत्कालीन गुरूकुलों में जो शिक्षा प्रदान की जाती थी, उसे लेकर कुछ लोगों को यह भ्रम है कि वह एकल होती थी। जबकि, ऐसा नहीं है। तब भी सामूहिक शिक्षा पद्धति प्रचलित थी। अंतर सिर्फ इतना था कि शिष्यों की संख्या सीमित होती थी, जिससे गुरूओं के लिये हर शिष्य पर ध्यान दे पाना संभव होता था। शिष्य अगर निष्ठावान और गुरूभक्त होते थे तो गुरू भी उदार और निःस्वार्थी हुआ करते थे। आज ऐसे गुरू और शिष्य दोनों ही दुर्लभ प्रजाति के हो गये हैं।

समय बदला और सोने की चिड़ियां कहे जाने वाले इस देश पर विदेशी आक्रमणों का दौर शुरू हुआ। आक्रमणकारियो ने धन सम्पदा को लूटने के साथ-साथ सांस्कृतिक सम्पदा को भी नष्ट करने की पूरी कोशिशें की। जिसका नुकसान संगीत को भी

उठाना पड़ा। मंदिर तोड़े जाने लगे। नालंदा और तक्षशिला जैसे वे संस्थान जहां संगीत की उच्चस्तरीय शिक्षा प्रदान की जाती थी...ध्वंश होने लगे... गुरूकुल नष्ट हो गये।

ऐसे समय में अनेक संगीतज्ञों ने विभिन्न राजाओं, नवाबों का आश्रय प्राप्त करके, संगीत कला को एक नया रूप, नयी दिशा दी। जहां के राजाओं ने इस संगीत कला को संरक्षण दिया, उनके नाम पर इन संगीतकारों ने नये घरानों की नींव रखते हुए अपने आश्रयदाताओं की रूचि के अनुसार अपनी कला में परिवर्तन किया। इसके साथ ही स्थान विशेष, वहां की बोली-चाली, रहन-सहन, जल-वायु आदि का भी इन कलाओं पर स्वाभाविक प्रभाव पड़ा। अतः अलग-अलग क्षेत्रों, प्रदेशों की सांगीतिक कलाओं में कई प्रकार के अन्तर दिखने लगे। अतः इनके हर रूप को स्थानीय नामों से संबोधित किया गया। तबले में दिल्ली, अजराड़ा, लखनऊ, फर्रूखाबाद, बनारस और पंजाब जैसे घरानें विकसित हुए तो गायन में ग्वालियर, आगरा, दिल्ली, जयपुर, रामपुर-सहसवान, भेंडी बजार आदि जैसे घरानें निर्मित हुए। कथक नृत्य में भी लखनऊ, जयपुर, बनारस और रायगढ़ जैसे घराने बनें। ध्रुवपद गायकी में शैलीगत अंतर को वाणी कहा गया तो तन्त्र वाद्यों में बाज।

घरानों का सबसे सबल पक्ष यह रहा कि हर नये घरानें के साथ एक नयी विशेषता जुड़ती थी। हर घराने के संगीतकार ने अपनी शैली के विकास के लिय अथक प्रयास और परिश्रम किया, और हर घरानें ने एक से बढ़कर एक महान् संगीतकार को जन्म दिया। तब जिस तरह अलग-अलग राजाओं में प्रतिद्वन्द्विता चलती थी उसी तरह अलग-अलग संगीतकारों में भी चलती थी। ये राजा-नवाब जब एक दूसरे के यहां जाते थे, अपने संगीतकारों को भी ले जाते थे। फिर, स्थानीय और आगन्तुक दोनों संगीतकारों की प्रस्तुतियां देखकर उनके ज्ञान, परिश्रम और सर्जनात्मकता का आकलन किया जाता था।

गोपाल नायक और अमीर खुसरो, बैजू बावरा और विजय जंगम, बैजू बावरा और गोपाल लाल तथा बैजू बावरा और तानसेन के बीच हुई प्रतियोगितायें इतिहास के पन्नों में दर्ज हैं। लेकिन इन प्रतियोगिताओं का दौर तेरहवीं शताब्दीं से बींसवीं शताब्दीं के पूवार्ध तक चलता रहा।

घरानेदार संगीत शिक्षा पद्धति में अनेक गुण थे। फिर भी, इस पद्धति का पतन हुआ तो सिर्फ इसलिये कि अनेक गुरूओं, उस्तादों ने संगीत कला को अपनी जागीर समझ लिया। उन्होने अपने पुत्रों और दामादों के अलावा दूसरों को प्रायः ईमानदारी से नहीं सिखाया। वे गुरू भक्ति और निष्ठा के नाम पर शिष्यों की शोषण की हद तक कठिन परीक्षायें लिया करते थे। कुछ एक अपवादों को छोड़ दिया जाये तो तत्कालीन अनेक गुरूओं और उस्तादों ने अपने वंशजों के अलावा दूसरों को नहीं ही सिखाया। वे अपनी विद्या, अपनी कला, अपनी बंदिशें, रचनायें लेकर मर जाना पसंद करते थे, लेकिन किसी गैर को सिखाना नहीं। उनकी रचनायें उनके साथ ही खत्म हो जाये-यह स्वीकार था उन्हे। लेकिन, उनकी रचनायें किसी और के पास पहुँच जाये, यह बिल्कुल भी स्वीकार नहीं था। उन लोगों ने तालीम-ए-खासुल खास, तालीम-ए-खास और तालीम-ए-आम जैसी संगीत शिक्षा की तीन श्रेणियां भी बना ली थी। पं. भातखंडे जी की जीवनी पढ़ने से ज्ञात होता है कि बंदिशों का संग्रह करने के लिये उन्हें किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। उ. अलाउद्दीन खाँ और दूसरे संगीतकारों के जीवन में झांकने से ज्ञात होता है कि संगीत की बुनियादी शिक्षा पाने के लिये उन्हें कितना संघर्ष करना पड़ा था।

इसीलिये संस्थागत संगीत शिक्षा की नींव पड़ी। संस्थागत संगीत शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ही यह था कि इस दैवीय कला विद्या पर घरानेदार गुरूओं, उस्तादों की पकड़ कमजोर हो। उनके निर्मम पंजों से निकलकर यह कला आम जन तक, जन-जन तक पहुँचे।

हमारे कई संगीतकार, पंडित और उस्ताद इन संस्थाओं से जुड़े। लेकिन, यहाँ की सामूहिक शिक्षा को देखकर उन लोगों ने शुरू में ही घोषणा कर दी कि यहाँ से अच्छे संगीतकारों का निर्माण संभव नहीं है। क्योंकि यह गुरूमुखी विद्या है, इसमें सीना-ब-सीना तालीम दी जाती है। वे भूल गये कि प्राचीन काल में गुरूकुलों में भी सामूहिक शिक्षा की ही व्यवस्था थी। वे यह भी भूल गये कि संगीतर्षि पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर 1901 में लाहौर में स्थापित प्रथम गंधर्व महाविद्यालय में पं. विनायकराव पटवर्धन, पं. ओंकारनाथ ठाकुर, पं. नारायणराव व्यास और प्रो. वी. आर. देवधर जैसे अनेक महान् कलाकारों को

प्रशिक्षित करके विद्यालयीन संगीत शिक्षा की सुदृढ़ नींव डाल चुके थे। पं. ओंकार नाथ ठाकुर, पं. विनायक राव पटवर्धन, पं. नारायणराव व्यास और प्रो. बी. आर. देवधर जैसे उनके शिष्यों ने भी उनके चरण चिन्हों का अनुसरण करते हुए संगीतार्थियों की नयी पीढ़ियां तैयार कीं। लेकिन... उसके बाद क्या हो गया?

आज ऐसी संस्थाओं की लाखों शाखायें देश-विदेश में हैं। प्रतिवर्ष लाखों लोग संगीत की परीक्षायें देते हैं। लेकिन, परिणाम शून्य!

गुरू शिष्य परम्परा अगर गुरूओं की स्वार्थ लोलुपता और संकीर्ण मानसिकता के कारण कमजोर हुई तो संस्थागत शिक्षा प्रणाली अपने नीति निर्माताओं के कारण आजादी के इतने वर्षो बाद भी कोई सुपरिणाम देने में असफल है। इस विषय में मेरी जब भी किसी से बात होती है, तुरंत एक प्रश्न पूछ लिया जाता है- बातें तो आपकी ठीक हैं... लेकिन यू.जी.सी. को कौन समझाये?

क्योंकि, वहां कोई समझने को तैयार ही नहीं है। क्योंकि, वहां कोई अच्छा संगीत विद्वान, संगीत मर्मज्ञ नहीं है।

महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों की स्थिति यह है कि उनके यहां प्रत्येक विषय में संगीतार्थियों की एक निश्चित संख्या होनी ही चाहिये। न होने की स्थिति में विभाग बंद हो जायेगा और अध्यापक बेरोजगार। इस समस्या का सामना करने के लिये उन संस्थाओं में नामांकन के लिये आने वाले हर किसी को प्रवेश दे दिया जाता है। ऐसी दशा में कई ऐसे लोगों को भी प्रवेश मिल जाता है- जो स्वेच्छा से संगीत नहीं सीखना चाहते। वे मजबूरीवश संगीत में दाखिला लेते हैं। क्योंकि, कम अंक के कारण उन्हें दूसरे विषयों में प्रवेश नहीं मिल पाता हैं।

अब, जो लोग पहले से ही पढ़ाई में कमजोर हैं। जिनकी संगीत में स्वाभाविक रूचि नहीं है। वे भला संगीत के क्षेत्र में आकर क्या कर लेंगें। ये बी.ए. में सरगम और अलंकार सीखना, या अपने वाद्य यंत्रों पर हाथ रखना सीखते हैं। फिर, जैसे तैसे एम.ए. कर लेते हैं। विभाग बन्द होने की दुहाई देकर स्वयं प्राध्यापक ही परीक्षक से अनुरोध करते हैं उन्हें उत्तीर्ण कर देने का। 4-5 साल में एम.ए. कर लेने के बाद ये कहीं भी अध्यापक बनने के अधिकारी हो जाते हैं। उसके बाद थोड़ा बहुत पढ़ लिखकर एम. फिल. और पी. एच. डी. हो जाते हैं ये लोग। नतीजा यह होता है कि संगीत के ये डॉक्टर लोगों को बीमार करने के अलावा और कुछ भी नहीं कर पाते हैं।

मेरा व्यक्तिगत सुझाव यह है कि स्नातक यानी बी.ए. स्तर की कक्षाओं का संगीत द्वार सबके लिये खोल देना उचित नहीं है। बी.ए. की संगीत कक्षा में उसी छात्र-छात्रा को प्रवेश मिलना चाहिये- जिसे संगीत का कम से कम उतना ज्ञान जरूर हो जितना हिन्दी, गणित, अंग्रेजी आदि विषयों का होता है। अर्थात् बी.ए. में प्रवेश लेने के लिये यह आवश्यक हो कि वह पिछले 7-8 वर्षो से संगीत सीख रहा हो। ताकि, एम.ए. करते-करते वह सचमुच अपनी कला विद्या का मास्टर हो जाये और एम.फिल. तथा पी. एच.डी. करते समय संगीत के दार्शनिक तत्वों की मीमांसा कर सके।

इसी के साथ एक सुझाव और है, मेरा कि शास्त्र और प्रयोग के बीच की दूरी को कम करना चाहिये। एम.फिल. और पी.एच.डी. करने वालों की परीक्षायें दोनों विषयों में हों। वे शोध प्रबन्ध भी लिखें और अपने क्रियात्मक ज्ञान का परिचय भी दें। इससे संगीत कला, एकांगी, एक पक्षीय बनने से बचेगा।

महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में नियुक्त अध्यापकों, प्राध्यापकों में भी यह गुण होना चाहिये कि वे अपने शिष्यों के समक्ष अपना और अपनी कला का आदर्श रूप प्रस्तुत कर सकें। अगर एक ही अध्यापक में क्रियात्मक और शास्त्र सिखाने तथा पढ़ाने का गुण समुचित मात्रा में न हो तो दो अलग अध्यापकों की व्यवस्था हो। लेकिन, जो अध्यापक जिस विषय को पढाता है, उस अध्यापक में उसे पढ़ाने की पूरी क्षमता होनी चाहिये। इसलिये आवश्यकता पड़ने पर क्रियात्मक अर्थात् प्रायोगिक पक्ष के अध्यापकों के लिये डिग्री में छूट का प्रावधान भी होना चाहिये। क्योंकि कोई अच्छा गायक, वादक, नर्तक पी.एच.डी. और डी.लिट्. भी हो ही यह कतई जरूरी नहीं है।

इन संस्थाओं के सांगीतिक कक्षाओं की अवधि भी एक बड़ी समस्या है। अन्य विषयों की तरह संगीत की कक्षायें 45 मिनट या एक घंटे में संपन्न होने से शिक्षा का काम प्रायः अधूरा रह जाता है। वाद्य यंत्रों के मिलाने में, छात्र-छात्राओं, संगतिकारों

के आने-जाने में काफी समय लग जाता है। संगीत की शिक्षा दूसरे विषयों की तरह नहीं होती कि कक्षा में गये... पृष्ठ पलटे... और नया अध्याय शुरू हो गया। मेरी व्यक्तिगत राय यह है कि इन कक्षाओं की अवधि कम से कम डेढ़ घंटे की तो होनी ही चाहिये।

छात्र-छात्राओं की संख्या भी एक आवश्यक पक्ष है। कक्षा में छात्र-छात्राओं की संख्या इतनी ही होनी चाहिये कि अध्यापक के लिये सब पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दे पाना संभव हो। क्योंकि, एक भीड़ को श्रेष्ठ संगीतकार के रूप में नहीं प्रशिक्षित किया जा सकता है। इसलिये, संख्या की अपेक्षा गुणवत्ता पर ध्यान देना ज्यादा उचित होगा।

मेरे अपने विचार से स्नातक अर्थात् बी.ए. तक के संगीत शिक्षार्थियों को पढ़ाई की ही भांति सारे विषयों का ज्ञान होना चाहिये। जैसे पढ़ाई के विद्यार्थी, हिन्दी, अंग्रेजी, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि की पढ़ाई करते हैं, उसी तरह ये भी ध्रुवपद, खयाल, ठुमरी, लोक संगीत आदि सब कुछ सीखें बी.ए. तक। लेकिन, बी.ए. करने के बाद, एम.ए. में पहुँचने पर इन्हें यह निर्णय लेने का अधिकार होना चाहिये कि एम.ए. ये ध्रुवपद धमार में करेंगे, ठुमरी-दादरा में करेंगें या ग़ज़ल अथवा खयाल में। स्वरविधा के संगीतर्थियों के लिये तबले का आधारभूत ज्ञान और तबले के विधार्थियों के लिए गायन का आधारभूत ज्ञान आवश्यक ज्ञान हो। इस लिए छोटा ही सही, लेकिन तबले का एक विभाग सर्वत्र होना चाहिए।

एक सुझाव और है। संगीत को रोजगारोन्मुख बनाया जाये। एक पुरानी कहावत है न पढ़ते तो खाते सौ तरह कमाकर। वे मारे गये और तालीम पाकर। लार्ड मैकाले ने भारतीय शिक्षा नीति में बदलाव करते हुए यह प्रयास सफलतापूर्वक किया कि यहां के लोग पढ़ लिखकर ज्ञानवान नहीं, क्लर्क बनें। और अपनी पूरी जिंदगी छोटी मोटी नौकरियों में निकाल दें। कमोवेश यही स्थिति संगीत में भी है।

संगीत में रोजगार की ढ़ेरों संभावनायें हैं। संगीत सीखकर अच्छा, सफल मंचीय कलाकार बना जा सकता है... श्रेष्ठ अध्यापक बना जा सकता है... लेखक समीक्षक बना जा सकता है... संगीत निर्देशक बना जा सकता है... रेकार्डिस्ट बना जा सकता है... आकाशवाणी, दूरदर्शन अथवा दूसरे संचार माध्यमों में अधिकारी बना जा सकता है। म्यूजिक अथवा कल्चरल कोटे के माध्यम से बैंक, रेलवे या इसी तरह के दूसरे विभागों में भी अच्छी नौकरी पाई जा सकती हैं। इसलिये क्या ही बेहतर हो, अगर बी.ए. के बाद संगीतार्थियों से पूछा जाये कि वे किस क्षेत्र, किस दिशा में जाना चाहते हैं? और फिर उन्हें अपने मनचाहे विषय में एम.ए. करने की समुचित सुविधाये उपलब्ध कराई जायें। ध्यान दीजिये, मेरी जानकारी के अनुसार ऐसी सुविधायें किसी संस्थान की ओर से संगीतार्थियों को उपलब्ध कराने की व्यवस्था संभवतः अभी तक नहीं हैं।

अब, अगर किसी को रेकार्डिस्ट या संगीत समीक्षक बनना है तो वह एक-एक तान, एक-एक पलटों का रियाज़ हजार बार क्यों करे? संगीत समीक्षक के लिये तो राग, ताल, सुर, लय की जानकारी और भाषा पर पकड़ ही पर्याप्त है। संगीत के साथ-साथ बल्कि उसे इस बात का भी ज्ञान होना चाहिये कि कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक बात वह कैसे लिख सकता है? अपने विचारों को प्रभावशाली ढ़ंग से कैसे व्यक्त कर सकता है? इसी तरह संगीत निर्देशक को शब्द और स्वर के रिश्ते का ज्ञान होना आवश्यक है। किन भावों को, किन स्वर लहरियों या रागों में पिरोना बेहतर होगा। यह जानना जरूरी है उसके लिये। उसे यह जानना होगा कि किस प्रकार के भावों को किन वाद्ययंत्रों के माध्यम से बेहतर ढंग से अभिव्यक्त किया जा सकता है? और, उसे इसकी जानकारी होनी चाहिये कि किस लय या ताल के माध्यम से किस रस की निष्पति की जा सकती है?

इसलिये मुझे बार-बार यह लगता है कि संगीत के लिये एक सुविचारित शिक्षा नीति का होना परम आवश्यक है। यह बहुत दुखद तथ्य है कि आजादी के इतने वर्षो बाद भी हमारे यहां संगीत शिक्षा की कोई नीति नहीं है। जबकि, भारत रत्न से अलंकृत संगीतज्ञ भी हमारे यहां हैं। वे क्यों नहीं इस विषय पर अपना पक्ष जोरदार ढ़ंग से रखते हैं, और क्यों नहीं अधिकारी गण उनकी बातों को ध्यान से सुनते हैं।

मुझे दो संगीतकारों के कथन एक साथ याद आ रहें हैं। लेकिन, दोनों को बारी-बारी से आपके समक्ष रखता हूँ। संस्थागत संगीत शिक्षा की विधिवत् शुरूआत करने वाले पं. विष्णु दिगम्बर 'पलुस्कर से

जब एक दिन एक व्यक्ति ने व्यंग्यपूर्वक पूछा था कि पलुस्कर जी आप इतने दिनों से संगीत की शिक्षा दे रहें हैं, अब तक कितने तानसेन बना पाये हैं आप ?' तब पंडितजी बिना विचलित हुए शान्ति से बोले-'दूसरे तानसेन का निर्माण तो अब स्वयं तानसेन भी नहीं कर पायेंगे। क्योंकि, अब यह संभव नहीं है। लेकिन, इन विद्यालयों से सीखकर कई कानसेन जरूर तैयार हो गये हैं।'

इसी से मिलती-जुलती एक और घटना है। मेरे पिता गुरू पं. गामा महाराज जी से जब एक व्यक्ति ने एक दूसरे व्यक्ति का परिचय कराते हुए कहा कि- 'ये संगीत में एम.ए. हैं।' तो महाराज जी बोले, 'एम.ए. करने के बाद व्यक्ति इस योग्य बनता है, कि उसे सिखाना शुरू किया जाये।'

देखने में ये दोनों घटनायें अलग-अलग हैं, और इनका आपस में कोई संबंध नहीं है। लेकिन, ऐसा है नहीं। दोनों विचार एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। दोनों का संकेत इसी ओर है कि संस्थायें कलाकार नहीं बनाती हैं। वे सिर्फ इसकी पृष्ठभूमि तैयार करती हैं। इसलिये इन संस्थाओं से प्रशिक्षित कोई संगीतार्थी जब किसी श्रेष्ठ गुरू की शरण में जाकर, गुरू शिष्य परम्परा के अन्तर्गत उनसे सीखना शुरू करता है, तो उसके आगे बढ़ने के द्वार स्वतः खुल जाते हैं।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जिस तरह यह सच है कि इन संस्थाओं से योग्य संगीतकार नहीं निकल पाते। उसी तरह यह भी सच है कि कोई भी बड़ा गुरू-उस्ताद बाहर के किसी संगीतार्थी को सरगम या पलटा से सिखाना भी नहीं शुरू करता है। उन्हे ऐसे योग्य शिष्य की तलाश होती है, जो उनकी बात को, उनके आशय को तुरंत पकड़ सके।

दरअसल, इन संस्थाओं का उद्देश्य भी संगीतकार तैयार करना नहीं है। और शायद हमें इनसे ऐसी आशा भी नहीं करनी चाहिये। आखिर किसी विश्वविद्यालय से हिन्दी या अंग्रेजी में एम.ए. और पी.एच.डी. करने वाले कितने लोग अचछे साहित्यकार बन जाते हैं? फिर हम इन्हीं से ऐसी आशा क्यों करें। लेकिन, अच्छी आशा करनी कोई बुरी बात भी नहीं है। हमारे देश के राजनेता पिछले 50 वर्षों से यह दावा कर रहे हैं कि अगले 10 वर्षों में गरीबी दूर हो जायेगी। और, मैं पिछले 50 वर्षों से उन दस वर्षों की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

इससे शायद सभी सहमत होंगे कि ये संस्थायें शिक्षा का आधार तो तैयार करती ही हैं। और, अगर आप इससे सहमत हैं तो फिर इससे भी सहमत हो जाइये कि आधार का कमजोर होना शुभ लक्षण नहीं है। और, हमारा यह आधार दिनों दिन कमजोर होता जा रहा है।

बीसवीं शताब्दी से ही यांत्रिक क्रान्ति की शुरूआत हो चुकी थी, और इक्कीसवीं शताब्दी में तो इसने आँधी का रूप ले लिया है। मैं जब सीखता था तो बोलों को कॉपी में लिखने की भी अनुमति नहीं होती थी। कैसेट और टेपरेकार्डर तो बहुत दूर की बात है। जबकि, आज के युवा संगीतार्थी संगीत के लिये मोबाइल फोन, सी.डी., डी.वी.डी., आई. पॉट, एम.पी.3, कम्प्यूटर, वॉकमैन आदि की भी सुविधायें प्राप्त कर रहें हैं। वीडियो कान्फ्रेंसिंग के माध्यम से भी संगीत की शिक्षा दी ओर ली जा रही है। इन सुविधाओं का लाभ संगीतार्थियों तक कैसे पहुंचे। इस दिशा में इन संस्थाओं को सोचना होगा।

यह खुशी की बात है कि इस देश में कम संख्या में ही सही लेकिन राजकीय संगीत महाविद्यालय भी हैं और विश्वविद्यालय भी। लेकिन, खुशी की बात इतनी ही है। अगर इनकी कार्यप्रणाली स्वतंत्र चिकित्सा महाविद्यालय और अभियांत्रिकी महाविद्यालय की तरह हो जाये, और संगीत के अध्यापक-प्राध्यापक भी संगीत के संदर्भ में पुरातन और अधुनातन माध्यमों के माध्यम से इस दिशा में कार्य आरम्भ करें तो हमें शुभ और सुखद परिणाम देखने को मिलेंगें। आज जरूरत है संगीत में नयी सोच, नये दृष्टिकोण वाले लोगों की। लेकिन प्राचीन परम्पराओं को एकदम से छोड़ा भी नहीं जा सकता है। जरूरत है, दोनों के बीच एक सेतु बनाने की, दोनों के बीच तालमेन स्थापित करने की।

राग संगीत की परम्परा में आधुनिकता

डॉ. नीलम पॉल

एसोसिएट प्रोफेसर, चेयरपर्सन—संगीत विभाग, पंजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

कला मनुष्य के जीवन का सुरुचिपूर्ण एवं परिष्कृत देने में अग्रणी भूमिका निबाहती है, साथ ही साथ मनुष्य का मनोरंजन भी इन कलाओं के द्वारा बखूबी किया जाता है। संगीत, काव्य, चित्र, मूर्ति एवं भवन निर्माण सभी कलाओं को न केवल कला, अपितु विद्वज्जनों ने उन्हें ललित कलाओं की श्रेणी में स्थान दिया है, और इनमें भी संगीत को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

संगीत एक प्रदर्शन की कला है जिसका प्रायोगिकता के साथ अटूट सम्बन्ध सदैव से रहा है। संगीत कला न केवल आज से, वरन् प्राचीन काल से अपनी प्रयोगधर्मिता के कारण अविरल रूप में विकसित होती रही है, कभी वेद मंत्रों के साथ, कभी जाति गायन, ग्राम मूर्च्छना तो कभी प्रबंध के साथ। समय अन्तर में इसके रूप में परिवर्तन आता गया और भिन्न-भिन्न गायन शैलियों जैसे ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी इत्यादि रूपों को धारण करते हुए आज हमारे समक्ष एक विकसित एवं विशाल परम्परा के रूप में उपलब्ध है। इसकी इस सम्पूर्ण विकास यात्रा में भिन्न-भिन्न परम्पराओं जैसे बानी (नौहार, खण्डहार, डागुर एवं गोबरहार वाणी), घराना (आगरा, ग्वालियर, दिल्ली, जयपुर, पटियाला आदि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ये परम्पराएँ वैदिक काल से अब तक परिवर्तित एवं परिसंस्कृत होती हुई आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं और संगीत कला को जीवतंता प्रदान किये हुए है। यदि ये परम्पराएँ न होती तो संगीत का ऐसा उत्कृष्ट रूप आज हमें उपलब्ध न होता। चूँकि संगीत एक प्रयोगधर्मी कला है, अतः इसका हस्तान्तरण प्रायोगिक रूप में इसकी भिन्न-भिन्न परम्पराओं द्वारा होता रहा।

आधुनिक समय में यदि हम देखें तो आज हमारे पास संगीत में ध्रुपद के क्षेत्र में 'डागुर बानी' व ख्याल के क्षेत्र में 'आगरा, दिल्ली, जयपुर, पटियाला व ग्वालियर' घरानों की परम्पराएँ सक्रिय रूप में कार्यरत हैं इसी प्रकार ठुमरी शैली में पंजाब एवं बनारस घराने (परम्परा) का अतुलनीय योगदान है। ये सभी परम्पराएँ अपनी-अपनी विशेषताओं, बारीकियों को निरन्तर उदीयमान कलाकारों, विद्यार्थियों के माध्यम से आगामी पीढ़ी तक हस्तांतरित करने में प्रयासरत हैं।

आज के समय को वैज्ञानिक क्रान्ति का युग माना जाता है। विज्ञान द्वारा अनेकों तकनीकी उपकरण आज बाजार में उपलब्ध कराये जा चुके हैं। पाश्चात्यीकरण का आरोपण भारतीय संस्कृति पर हावी हो चुका है जिसे आधुनिकता के साथ जोड़ते हुए समाज स्वीकार करता है और तकनीकी उपकरण का अधिकाधिक प्रयोग करना और उन पर ही निर्भर हो जाना आज के मनुष्य की आदत बन चुकी है। संगीत जैसी नैसर्गिक कला जो पूर्णतः कठिन एवं लम्बी साधना, तपस्या, दिन-प्रतिदिन गुरुमुखी और गुरु का सानिध्य ही जिसका आधार एवं सीढ़ी है, उसे आधुनिकता की देन भिन्न-भिन्न प्रकार के तकनीकी यन्त्रों द्वारा कैसे सम्भाला, बचाया जा सकता है। तकनीकी उपकरण जैसे—रिकार्डिंग (ऑडियो-वीडियो) वीडियो-कॉनफ्रेंसिंग, skype कम्प्यूटर आदि व्यक्ति के दिमाग को मशीन की तरह प्रयोग में लाने वाली वस्तु बना देते हैं। सोचने-समझने, विचार-मनन करके गहराई में उतरना और विषय का आंकलन करने की क्षमता में लगातार शिथिलता ही उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः शिक्षा में ज्ञानार्जन और संग्रहण मूलतः इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति ने कितना सुना व कितना याद रखा। सब कुछ श्रुति, आवृति और स्मृति पर निर्भर करता है। भारतीय संस्कृति एवं कलाओं का विकास

इसी पद्धति पर निर्भर करता है। यह पद्धति मशीनी नही हो सकती।

आज संगीत के क्षेत्र में गुरुजनों की अनुपस्थिति में या दूर स्थिति गुरुजनों द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त करना संगीत की आधुनिक परम्पराओं (घराना या संस्थागत सं० शिक्षा पद्धति) में सुलभ हो गया है। यहाँ ऐसा कहना गलत न होगा कि संगीत जैसी प्रयोगात्मक या प्रयोगशील कला में गुरु या शिक्षक की अनुपस्थिति में वैज्ञानिक उपकरण के माध्यम से मार्गदर्शन कहाँ तक उचित एवं सफल हो सकता है, यह हम सभी जानते हैं।

परम्परागत संगीत में आधुनिकता के नाम पर सुलभता का समावेश होना एक विचारणीय पहलू है क्योंकि संगीत तो साधना, तपस्या की कला है, इसे आत्मसात करने के लिए, इसमें दक्षता हासिल करने के लिए एक निश्चित समय एवं सही मार्गदर्शन अवश्मेव वाँछित हैं जो सीधे तौर पर गुरु के सानिध्य में ही संभव है। ऐसे में आधुनिकता की देन तकनीकी उपकरणों का सहयोग, बहु प्रयोग कहाँ तक व कैसे संगीत की परम्परा में अपना स्थान या वर्चस्व बनाए रख सकता है यह ध्यान देने योग्य है। इन तकनीकी माध्यमों का प्रारम्भिक व माध्यमिक स्तर के स्थान पर उच्च स्तर पर ही किया जाए तो हानिकारक न होकर लाभकारी होता है क्योंकि तब तक व्यक्ति में संगीत में निहित बारीकियों, उस शैली की विशेषताओं को समझ बूझ कर आत्मसात् करने और उन्हें अमल में लाने की क्षमता का विकास हो चुका होता है।

आधुनिकीकरण के दौर में परम्परागत संगीत का प्रचार-प्रसार भिन्न-भिन्न माध्यमों (रेडियो, दूरदर्शन) द्वारा सही ढंग से नहीं हो पा रहा है। व्यवसायिकता (Commercialization) के मापदण्डों में इन माध्यमों के द्वारा परम्परागत संगीत के लिए उतने अवसर नहीं उपलब्ध कराये जाते, जितने के किये जाने चाहिए या किये जा सकते हैं। आधुनिक युग में रेडियो यानि आकाशवाणी की बात की जाये तो रेडियो पर प्रसारित होने वाले शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रमों का समय रात्रि में होता है या सुबह।

इसी तरह दूरदर्शन के आज के युग में अनेकों चैनल हैं। इनमें सिर्फ सरकारी चैनल्स की गिनती भी की जाये तो काफी है लेकिन मुश्किल से एक दो चैनल होंगे जिनपर शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। रेडियो और टी. वी. का कोई भी चैनल ऐसा नहीं जो कि शास्त्रीय संगीत को ही समर्पित हो। कहने का तात्पर्य यह कि आधुनिक तकनीक का जो लाभ, शास्त्रीय संगीत की परंपरा के प्रचार प्रसार का होना चाहिए था वैसा नहीं दिख रहा है।

आधुनिकता के आज के दौर में संगीत जैसी प्रयोगशील कला का सही विकास हुआ है, तो ऐसा कहना अनुचित न होगा कि राग संगीत की परम्परा व उसमे निहित विशिष्टताओं का ह्रास भी कम नहीं हुआ। जिसका परिणाम हम सभी से छिपा नहीं है। क्योंकि हमारे समाज में अनगिनत कलाकार, अनगिनत गुरु या शिक्षक है किन्तु यदि वास्तविक रूप में देखा जाए, तो बहुत थोड़े शिक्षक या गुरु व कलाकार ही ऐसे मिलेंगे, जो वाकई वर्षों से चली आ रही राग संगीत की परम्परा को सही मापने में, सही रूप में आगे बढ़ाने में प्रयासरत हैं। अन्यथा संगीत कला द्वारा मात्र धनोपार्जन करना एवं समाज में स्वयं को प्रतिष्ठित करना ही इन सबका मुख्य ध्येय रह गया है।

समय रहते ही हमें 'परम्परागत संगीत' के संरक्षण-संवर्धन, साथ ही इससे जुड़े विशेषज्ञों या गुरुजनों पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। इसके लिए सरकार द्वारा राज्य स्तर पर, क्षेत्र के स्तर पर सहायता उपलब्ध करानी होगी तभी यह राग संगीत की परम्परा आगामी पीढ़ी के लिए सुरक्षित रह सकेगी।

औद्योगिक प्रबन्धन में संगीत एवं नृत्य की भूमिका

डॉ0 इभा सिरोठिया

रीडर, संगीत गायन, आर्यकन्या डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

मनेजमेंट अर्थात् प्रबन्धन आज की आवश्यकता बन गई है। प्रबन्धन का अर्थ है व्यवस्था और यह व्यवस्था अनेक प्रकार की होती है। अतः प्रबन्धन भी अनेक प्रकार का होता है। प्रबन्धन के इस युग में प्रत्येक वस्तु को उत्पादन बनाकर उसका समुचित भाग कैसे लिया जाये यह कुशलता प्रबन्धन सिखाता है अतः आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी बड़ी माँग है। प्रबन्धन एक सुव्यवस्था है, एक सुसामंजस्य है और जहाँ सामंजस्य होगा वहाँ स्वतः ही क्षमता और सौन्दर्य में अभिवृद्धि हो जायेगी।

आधुनिक औद्योगिकीकरण के युग में उद्योग धंधों के सफल संचालन के लिए केवल यंत्रों को समुचित रीति से संचालित व नियंत्रित करने वाले व्यक्तियों की मनोवृत्ति का अध्ययन तथा मनन आवश्यक है। औद्योगिक प्रबन्धन की कुछ अपनी मूलभूत समस्याएँ हैं। औद्योगिकीकरण ने समाज को, व्यक्ति को संपदा एवं प्रतिष्ठा तो प्रचुर मात्रा में प्रदान किया। परन्तु व्यक्ति के शरीर, प्राण एवं मन के प्रबन्धन को नजर अंदाज किया। परिणामतः शारीरिक स्वास्थ्य एवं मन अस्वस्थता की ओर अग्रसर होने लगा और तब यह विचार किया गया कि इस समस्या का निदान संगीत के द्वारा अत्यन्त सफलता पूर्वक किया जा सकता है। "मानसिक दृष्टि से भी स्वस्थता प्राप्त करने का साधन संगीत को कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति का सूक्ष्म एवं प्रभावी साधन संगीत है।[1] उत्फुलित मन तथा स्वस्थ शरीर द्वारा संचालित उद्योग निश्चित रूप से और अधिक उन्नति कर सफलता के नये आयाम प्राप्त कर सकता है। "अथर्ववेद में भी विविध व्यवसायी अवसर पर व्यवसायी जन मनोविनोद के लिए तत्सम्बन्धी गीत गाया करते थे।"[2]

मेरे विचार से औद्योगिक प्रबन्धन की निम्नलिखित समस्याएं हैं जिसमें संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका है:—

1. मानवीय श्रम और थकान
2. वितरण एवं प्रचार की समस्या

मनुष्य का शरीर अपनी निश्चित क्षमता के आधार पर ही कार्य कर सकता है। देखा गया है एक प्रकार के कार्य को ही अधिक समय तक किया जाये तो नाड़ियों में शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। श्रम से जो थकान होती है उसे दूर करने के लिए अनुकूल वातावरण एवं मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है। संगीत द्वारा आनन्द प्राप्त कर क्लांत श्रांत मन को स्फूर्ति प्रदान कर थकावट दूर किया जा सकता है। तथा मनुष्य में सकारात्मक शक्तियों का संचार किया जा सकता है। "लगता है श्रम से ही संगीत का जन्म हुआ है जिस तरह कठोर पर्वत से निर्मल झरने का जल झरता आया है उसी तरह दिन भर के कठोर श्रम के पश्चात् आज भी गाँवों के चौपाल से संगीत के स्वर गूँजते हैं।[3] संगीत की मधुरता से वशीभूत होकर मनुष्य अपनी संपूर्ण क्षमता का उपयोग लंबी अवधि तक सफलता पूर्वक कर सकता है।

प्राचीन काल में भाषा के अभाव में जीविकोपार्जन तथा मनोरंजन हेतु शिकार नृत्य, युद्ध नृत्य, आदि का सहारा लिया जाता है। आरम्भ से ही मनुष्य अपने

घरेलू उद्योग धंधो में संगीत की मधुर स्वर लहरियो की सहायता लेता रहा है। प्रचलित लोक गीतों में माँझी गीत—

ओ-ओ मांझी कितनी दूर किनारा
रैन अंधेरी नाव झीझरी
तेज बह रही धारा

संकलित

श्रमिक गीत—

लैलो हाथ में कुदाल
माँ को करौ खुशहाल
बनके आओ न किसान
तुम खेतवा माँ

संकलित

खेती के समय रोपनी गीत—

झमक झमक झमके हो सावन के बादरा
रोपी-रोपी धनवा निहाल हुए जियरा

संकलित

आदि के माध्यम से श्रमिक अथवा कृषक अपनी थकान भूल कर नव ऊर्जा से परिपूरित होकर अपने-अपने कार्य को शीघ्रता एवं कुशलता से सम्पन्न कर पाता है। कोल्हू गीत, चरखा गीत यहाँ तक की भिक्षा वृत्ति के गीत—

उठो लक्ष्मी करौ सिंगार के जै गंगा।
उठो लक्ष्मी दे दो दान के हर गंगा॥
अरे लक्ष्मी ने देय दय दान के हर गंगा।
जुग जुग जियो अरे लक्ष्मी,
करदय पुन्न के हर गंगा।[4]

आदि यह सद्धि करता है कि श्रम से उत्पन्न थकान को दूर कर संगीत श्रमिकों को सुखद अनुभूति प्रदान करता है।

जीवन के प्रत्येक कार्य में यहाँ तक कि युद्ध अवसर पर भी प्राचीन काल से आज तक विभिन्न वाद्य यंत्रों एवं गीत संगीत का प्रयोग मनुष्य की वीरता, बलिदान एवं शक्ति संचार हेतु प्रयोग में लायी जाती रही है। नगाड़ा, दुंदर्भी, आदि का प्रयोग रामचरित मानस में इस प्रकार किया गया है:—

पनव निसान घोर रव बाजहिं,
प्रलय समय से धनजनु गाजहि।
भेरि न फीरि बाज सुहनाई,
मारू राग समुट सुखदाई।[5]

महाभारत में भी युद्ध के अवसर पर श्री कृष्ण द्वारा पांचजन्य शंख एवं अन्य वाद्यों का वर्णन मिलता है।

ततः शंखाश्च मेर्यश्च पववानक गोमुखाः।
सहसैवाभ्य हन्यन्त स शब्दस्तु मुन्नोअभवत् ॥[6]

आधुनिक काल मे भी विभिन्न औद्योगिक प्रबन्धन संस्थनों में प्रबन्धन की शिक्षा के साथ सांगीतिक कार्यक्रमों एवं सांगीतिक प्रतियोगितायें नित्य प्रति सम्पन्न होती है ऐसी संचार माध्यमों, समाचार पत्रों से ज्ञात होता है। प्रबन्धन की शिक्षा की अवधि में थकान और तनाव को इन्हीं सांगीतिक कार्यक्रमों द्वारा कम किया जाता है। साथ ही साथ विभिन्न औद्योगिक संस्थान एवं औद्योगिक घराने भी संगीत की इस क्षमता से भली भाँति परिचित हो चुके हैं।

कल कारखानों में तैयार माल के वितरण एवं प्रचार हेतु अधिक से अधिक लोगों को उत्पादन की विशेषता की ओर आकर्षित करने हेतु विज्ञापन के लिए संगीत द्वारा प्रचार आधुनिक समय में सर्वाधिक प्रचलित है। विज्ञापन के इस युग में संगीत किसी भी उत्पादन के विक्रय को प्रभावित कर बाजार में उसकी उपस्थिति को सशक्त रूप से प्रस्तुत कर उक्त उत्पादन को उद्योग को लाभ पहुँचा कर उसे गरिमा एवं धन संपदा प्रदान करवाने में सहायक सिद्ध होता है। संगीत वस्तुतः उद्योग को अथवा उत्पादन वस्तु से सीधा सम्बन्ध न रखते हुए भी उसकी खपत में, जन साधारण तक पहुँचाने में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आटोमोबाइल हो अथवा, वस्त्र उद्योग हो, खाने पीने की वस्तुएँ हो अथवा दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुएँ हों कहने का तात्पर्य है। साबुन से लेकर सीमेन्ट तक, आटोमोबाइल से लेकर मोबाइल

तक, सिलाई मशीन से लेकर कम्प्यूटर तक प्रत्येक छोटे बड़े उद्योगों के प्रचार प्रसार के विज्ञापनों में आकाशवाणी एवं दूरदर्शन से प्रसारित विज्ञापनों में संगीत में संगीत में निबद्ध विज्ञापनों की भरमार सी लगी है। एक्टिव व्हील, रथ वनस्पति, सेरेडॉन सिरदर्द की दवा, सर्वशिक्षा अभियान (स्कूल चले हम), बबूल टूथपेस्ट, विको-सौन्दर्य वर्द्धक क्रीम, एयरटेल और नोकिया मोबाइल के विज्ञापन यहाँ तक की ट्रैफिक गाड़ी के नियम बताने वाले विज्ञापन भी निश्चित रूप से संगीत के सुरों से सज कर अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो संगीत की सुमधुर शक्ति से सम्पन्न होकर मनुष्य के चेतन एवं अवचेतन मन पर प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से ऐसा प्रभाव डालते हैं कि कभी-कभी वस्तु की पहचान विज्ञापनों से ही होने लगती है।

देश के लगभग सभी शहरों में आयोजित संगीत सम्मेलनों को प्रायोजित कराने में दूरदर्शन पर प्रसारित विभिन्न गीत, नृत्य के कार्यक्रमों को प्रायोजित करने अथवा नन्हें मुन्ने बच्चों की सांगीतिक प्रतियोगिताओं को प्रायोजित कराने में बड़ी-बड़ी कम्पनियों का यही ध्येय है। दूरदर्शन में सोनी चैनल पर सेन्सुई बुगी-वूगी, हीरो हांडा-सारेगामप, जी टी0वी0, रिलायन्स-आजामाही वे स्टार प्लस पर स्टार प्लस पर ही अमूल वायस ऑफ इंडिया, एन0डी0टी0वी0 इमेजिन पर लक्स-जुनून, दूरदर्शन-1 पर म्यूजिक, मस्ती, धूम अथवा एयरटेल-देश की आवाज आदि, आदि, आदि इसी विचार को पोषित करते हैं कि संगीत जनमानस को किस हद तक प्रभावित करता है।

अतः यह सुस्पष्ट है कि संगीत श्रमिक, खेतिहर, वर्ग के साथ ही साथ उद्योगों को भी अत्यन्त प्रभावित करता है। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि संगीत उद्योगों के प्रबन्धन के लिए तो तो महत्व रखता ही है साथ ही साथ स्वयं भी एक उद्योग के रूप में विकसित हो गया है जिसके आधार पर आधुनिक संगीत जीवी समाज सम्मान पूर्वक जीविकोर्पाजन कर सकता है।

संदर्भ

1. भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान, श्रीमती व सुधा कुलकर्णी, पृ0सं. 15
2. 15, डॉ0 स्वतंत्र शर्मा
3. लोक साहित्य समग्र—पृ0सं.11 श्री राम नारायण उपाध्याय
4. बुन्देलखण्डी लोकगीतों में सांगीतिक तत्व पृ0 सं. 17 श्रीमती वीणा श्रीवास्तव
5. रामचरित मानस-गोस्वामी तुलसीदास-लंका काण्ड पृ0 833
6. श्रीमद् भगवतगीता—प्रथम अध्याय—श्लोक-13

संगीत में सृजनात्मकता

डॉ. संगीता सिंह

असिस्टेन्ट प्रोफेसर,

वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सृजन या सृजनात्मकता शब्द का तात्पर्य है- नवीन खोज या निर्माण करना। सृजन में साधारणता पुस्तकीय ज्ञान या अर्जित कौशलों का महत्व नहीं होता। सृजनात्मकता किसी नवीन वस्तु का निर्माण एवं प्रणयन करने की क्षमता अथवा सामर्थ्य है। सृजनात्मकता की अवधारणा यह है कि आवश्यक नहीं कि सृजन किया गया कार्य या वस्तु सर्वथा नवीन हो बल्कि पहले से विद्यमान वस्तुओं तथा तत्वों को मिलाकर नवीन योग बनाना भी सृजनात्मकता में आता है। बालकों के सृजन या खोजों में प्रायः नयापन कम होता है; अधिकांशतः वे उपलब्ध ज्ञान की पुनः खोज ही करते हैं लेकिन यह पुनः खोज भी कभी-कभी सर्वथा मौलिक, रचनात्मक एवं अनूठी होती है। Borron ने कहा है "By creativity is meant to make combination from the already existing objects or elements".

संगीत में सृजनात्मकता का अभिप्राय है संगीत "compose" करना। संगीत शिक्षक छात्रों में सृजनात्मकता के विकास के लिये क्या पयास करेगा। इस बारे में विचार करने से पहले हम यह देखेंगे कि संगीत में रचनात्मक क्रियाओं (Creative Music Activities) से हमारा क्या अभिप्राय है।

What is Meant by Creative Music Activities रचनात्मक सांगीतिक क्रियायें वे हैं जिनके माध्यम से बालक संगीत के अस्तित्व में आते हैं। ' ने इसकी व्याख्या बहुत सुन्दर शब्दों में की है-

"Creative actives are those by which children themselves bring music into being. Some of the pictures that flash across the consciousness at the words "creative music" are: A child proudly and carefully practicing the new piece his piano teacher gave him to learn by himself for a recital three weeks hence: a group of children discussing the manner in which a song should be interpreted and singing it that way; children trying to decide whether the melody they are writing should go "up" and "down" at the end; and a six-year-old "making up" and beating a rhythm pattern on a tom-tom for classmates to interpret. A concise statement of this concept of creative music activities is "expression of self through music."

बालकों की सृजनात्मकता में नवीनता तथा परिष्कार का अभाव होता है। इसे संगीत के संदर्भ में स्पष्ट करना आवश्यक है। अधिकांश व्यक्ति यह सोचेंगे कि यदि बालकों का एक समूह किसी कविता के लिये संगीत लिख रहा है तो वह सैद्धानितक अर्थ में "सृजनात्मक संगीत" या संगीत सृजन करने की प्रक्रिया में रत है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति छात्रों के इस प्रयास के परिणाम को संगीत की श्रेणी में नहीं रखता तो उसे यह याद रखना चाहिये कि छात्र क्रमशः ज्ञान वृद्धि के परिणाम स्वरूप अधिक आलोचनात्मक होते जायें जिससे उनके प्रयासों में भी सुधार होगा। वैसे छात्र स्वयं भी अपने कार्यों को सुधारने का प्रयास करते है।

अतः छात्रों के लिये संगीत सृजन करने का क्या अभिप्राय है? यह एक निर्विवाद सत्य है कि संगीत का सृजन छात्रों को आत्म-अभिव्यक्ति का अवसर देता है, यही कारण है कि छात्रों को यह क्रिया बहुत प्रिय होती है। संगीत की रचना करके

बालक संगीत की भाषा का प्रयोग करते हैं तथा इसके माध्यम से आत्म-अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त करते हैं। साधारणतया संगीत शिक्षक छात्रों से किसी गायन या वादन प्रदर्शन की व्याख्या के बारे में उनके विचार नहीं पूछते (छात्रों का अपना गायन-वादन ही उन्हें संवेगों की अभिव्यक्ति के अच्छे अवसर प्रदान करता है) लेकिन संगीत के बारे में उनके विचार एवं अवबोध उनके प्रदर्शन के अपने तरीके में परिलक्षित होते हैं।

छोटे बालकों के लिये संगीत की व्याख्या करने की भाँति ही गीतों के लिये संगीत रचना करना (Composing songs) भी आत्म-अभिव्यक्ति का एक माध्यम है।

यह गीत कई बार दोहराया गया। वास्तव में यह गीत उस क्रिया की पूर्ण अभिव्यक्ति था जिस क्रिया में वह बालिका रत थी। यह गीत उस क्रिया से ही अभिप्रेरित हुआ था। (खेल के मैदान में इस प्रकार क्रियायें बहुत देखने को मिलती हैं जब बालक स्वतन्त्र होकर निःसंकोच खेल रहे होते हैं) Myers का कहना है कि-

"More often than not, rhythmic activity and absorption in the activity with result in song on the part of nursery school children and kindergarten children."

अब जब नर्सरी कक्षा की वह बालिका ' ग्रेड में आई तो उसका संगीत सम्बन्धी अनुभव कुछ विस्तृत हो चुका था। वह आगे-पीछे झूलने जैसी क्रिया करते हुये अपनी भावनाओं का वर्णन करने की उसकी क्रिया कुछ परिष्कृत हो चुकी है।

बालक जब प्राथमिक कक्षाओं में आता है तभी में उसमें रचना व सृजन करने की इच्छा प्रोत्साहित तथा निर्देशित करनी चाहिये जिससे कि ये प्रयास संगीत के स्पष्ट रूपों में विकसित हो सकें। जैसे-

स रे ग म - चंदा मामा
प ध नि सां - दूध में मीठा
सां नि ध प - आ गये पापा
म ग रे सा - जेब में पैसा

इस तरह से कविता के रूप में भी संगीत के सात स्वरों का ज्ञान देकर उन्हें याद करवाया जा सकता है।

संगीत सृजन की इस प्रविधि की प्रशंसा में Myers ने कहा है-

"There is not only children's innate love for music upon which to build a program of teaching for appreciation, and their innate love for motion upon which to build a program of rhythms to develop their rhythmic and interpretative powers, but there natural tendency to express feelings through song upon which to build a program of creative music."

प्राथमिक कक्षाओं में छात्रों की प्रकृति व स्वभाव को ही शिक्षा का आधार बनाया जाये तथा संगीत-रचना का कार्य उनके स्वभाव के अनुकूल होता है। Myers ने इस बारे में कहा है कि-

Rugg and **Shumaker** ने सृजन की प्रक्रिया में चार कारक बताये है-

The urge to create, flashes of insight, Limitation by control of techniques, and tenacious effort.

कुछ प्रसिद्ध संगीतकारों ने, अपने सृजनात्मक प्रयासों के बारे में लिखते हुये, सृजन की प्रक्रिया में Auditory Imagery की ओर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ध्यान दिया है। Agnew ने महान संगीतकारों तथा आत्मकथाओं का अध्ययन करके इस कारक के स्वरूप का विश्लेषण करने का प्रयास किया। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ये कलाकार एक ध्वन्यात्मक या रागात्मक संसार (Tonal World) में रहते थे जिसमें मानसिक श्रवण की तुलना में वास्तविक श्रवण कम महत्वपूर्ण था। एक अन्य अध्ययन में Agnew ने देखा कि उनके

इस प्रकार संगीत शिक्षक उनके लाभान्वित हो सकता है -

(1) छात्रों को संगीत का अधिक से अधिक श्रवण करने का अवसर दिया जाये। श्रवण सोद्देश्य हो। श्रवण की हुई रचनाओं का विवेचन भी किया जाय। छात्र संगीत का जितना अधिक श्रवण करेंगे उनके मस्तिष्क में उतना ही श्रव्य-प्रतिमाओं की स्थापना होगी तथा उनके द्वारा रचित संगीत मौलिक होगा।

(2) संगीत-लेखन की योग्यता संगीत के साथ पूर्व-अनुभव से प्रभावित होती है।

(3) बड़ी कक्षाओं तथा बड़ी आयु के छात्रों द्वारा रचित संगीत में मौलिकता होती है तथा वह लीक से हटकर हो सकता है जबकि छोटी कक्षाओं के

7-Back Side K

छात्रों द्वारा रचित संगीत रूढ़िबद्ध होता है।

(4) विशेषकर बड़ी कक्षाओं में संगीत कम्पोज करने का कार्य देने से पहले Preparation तथा Incubation की प्रक्रिया से गुजरा जाय जिससे कि छात्रों में अन्तर्दृष्टि की उत्पत्ति हो (Illumination); वे अच्छी रचनायें बना सकें।

(5) संगीत-सृजन की योग्यता की विकास करने तथा छात्रों की इस क्रिया में रूचि जाग्रत करने के लिये छात्रों को विशेष थीम दी जाय जैसे होली, सावन आदि। छात्रों को गीत व संगीत दोनों की साथ-साथ रचना करने को कहा जाय। लेकिन यह कार्य बड़ी कक्षाओं में ही सम्भव है। छोटी कक्षाओं में थीम नदी, पहाड़, चिडियाँ, इन्द्रधनुष, नाव व छात्रों को उपलब्ध कराने पड़ेंगे।

(6) प्रत्येक छात्र में सृजन करने की क्षमता होती है तथा प्रयास करके उसे प्रकाशित किया जा सकता है।

स्कूल के संगीत पाठ्यक्रम में, विशेषकर प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर, छात्र-छात्राओं में सृजनात्मकता का विकास करना, संगीत शिक्षण का एक मुख्य लक्ष्य होना चाहिये। लेकिन सृजनात्मकता की उत्पत्ति तथा विकास से सम्बन्धित घटकों के बारे में संगीत शिक्षकों को कोई ज्ञान नहीं है। पाश्चात्य देशों में संगीत लेखन का प्रशिक्षण, प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर के पाठ्यक्रमों का अन्तरंग भाग है लेकिन भारत में शिक्षकों व पाठ्यक्रम निर्माताओं के पास ऐसी कोई अवधारणा (Concept) नहीं है। संगीत सृजनात्मकता से सम्बन्धित परीक्षणों का पृथक् रूप से निर्माण नहीं हुआ है। लेकिन सांगीतिक गुणों, अभिरूचि तथा अभियोग्यताओं सम्बन्धी परीक्षण कुछ सीमा तक इस कार्य में संगीतिक शिक्षकों की सहायता कर सकते हैं।

हमारे देश में संगीत के मनोवैज्ञानिक पक्ष एवं आधार से सम्बन्धित क्षेत्रों में शोध व अनुसंधान के कोई प्रयास नहीं किये गये हैं जिसके फलस्वरूप शिक्षकों को विदेशी साहित्य में उपलब्ध तथ्यों पर ही संतोष करना पड़ता है। यदि हमारे देश में संगीत शिक्षक अनुसंधान के इस क्षेत्र में प्रवेश करें तो संगीत शिक्षण के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होंगे।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. संगीत शिक्षण - डॉ0 शोभना शाह
2. सौन्दर्य, रस एवं संगीत - डॉ0 स्वतन्त्र शर्मा
3. संगीत शिक्षण एवं मनोविज्ञान - सविता उपल्ल

वर्तमान में अप्रचलित तालों को प्रायोगिक बनाने के सुझाव

कुहू मालवीय

शोध छात्रा (संगीत)

नेट जे0 आर0 एफ0, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतीय संगीत का प्राण ताल है। आचार्य शार्ङ्गदेव ने संगीत रत्नाकर में, आधार या तल अर्थ वाली तल् धातु से ताल शब्द की व्युत्पत्ति मानी है। तल प्रतिष्ठायाम् अर्थात् प्रतिष्ठा (आधार) के अर्थ में ताल शब्द प्रयोग किया गया है। ताल पर गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों की प्रतिष्ठा होती है। ये तीनों चल होने के कारण कालाश्रित है और अखण्ड काल को खण्ड में विभाजित करने वाला ताल इनका सहज आधार है। अतः संगीत में समय नापने के साधन को ताल कहते हैं।

संगीत के दो आधार स्तम्भ हैं स्वर तथा लय। इनके आधार पर संगीत की रचना होती है। लय का निर्वाह करने के लिए भारतीय संगीत में तालों की कल्पना की गई। ताल भारतीय संगीत की मौलिक देन है। भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र में पाँच तालों का नाम प्राप्त होता है—चच्चतपुट, वापपुट, उदयघट्ट, समयकवेशटाक तथा षटपितापुत्रक। तालों का निर्माण संगीत में समय की गणना के लिए हुआ। इनका प्रयोग गायन, वादन और नृत्य में होता, है तथा विभिन्न गायन शैलियों के साथ अलग-अलग तालों का प्रयोग होता है।

दक्षिण भारतीय ताल पद्धति निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित है और तालों की संख्या भी निश्चित है, जिन्हें सप्ततालम् नाम से जाना जाता है। उत्तर भारतीय संगीत में तालों की संख्या निश्चित नहीं है। कुछ तालें बहुत प्रचलित हैं तो कुछ कम प्रचलित हैं। ऐसी तालें जिनका प्रयोग प्रायः संगत या स्वतंत्र वादन में कम होता है, उन्हें अप्रचलित ताल मानते हैं। ऐसी तालों की संख्या उत्तर भारतीय संगीत में अधिक है। इन तालों का प्रदर्शन नहीं किया जाता है। किन्तु कभी-कभी इन्हीं तालों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। जैसे—यदि गायक टप्पा गायन करें, तो उनके साथ 'कैद फरोदस्त' ताल का ही प्रयोग होगा, जो कि एक अप्रचलित ताल है। यह अप्रचलित तालें भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं, जितनी कि प्रचलित तालें हैं, किन्तु प्रयोग में न लाने के कारण अपना अस्तित्व खो रही है।

किसी भी प्रचलित ताल के समान सर्वप्रथम इन तालों में मात्राओं की संख्या निश्चित की गई। तत्पश्चात् यह निश्चित किया गया कि इसका प्रयोग किस गायकी के साथ होगा। गायन, वादन या नृत्य में प्रयोग किए जाने के आधार पर बोलों का निर्धारण किया गया। जैसे—ध्रुपद-धमार गायकी के साथ खुले-जोरदार बोल, ख्याल अंग की गायकी के लिए बन्द एवं मुलायम बोल, सितार, सरोद आदि वाद्यों के साथ मुलायम बोल, ठुमरी, गायन शैली के साथ बंद, मुलायम तथा सुन्दर बोलों का निर्माण किया गया। इस आधार पर ताल के ठेके का निर्माण हुआ।

अप्रचलित तालों के ठेके में आकर्षक बोलों को समाहित किया गया। ताकि यह श्रोता गण तथा विद्यार्थियों को अपने ओर आकृष्ट कर सकें। बोलों के निर्माण के बाद ताल की मात्राओं को विभिन्न भागों में विभाजित किया गया। इस विभागीकरण को विभाग

7-Front Side K

कहा गया है। इन विभागों के द्वारा ताल की गति, चाल या छन्द को प्रदर्शित किया गया। समान मात्रा की तालों में विभाग बदल दिये जाने पर उनके स्वरूप में अन्तर आ जाता है। ताल में सम का स्थान स्पष्ट दिखाने के लिए ताली और खाली की रचना हुई इस प्रकार ताल के ठेके का निर्माण हुआ।

जब कि ताल का प्रदर्शन होता है, तो ठेके के पश्चात् सबसे महत्वपूर्ण चीज उसका लहरा है। लहरे की चाल द्वारा ठेके के क्लिष्ट या आसान बनाया जा सकता है। यह लहरे सोहनी चन्द्रकौंस, यमन, बहार, भैरवी आदि श्रुति मधुर रागों में बजाए जाते हैं। लहरे से ताल और आकर्षक हो जाती है ताल की मात्रा को ध्यान में रखकर उतनी ही मात्रा का स्वर-समूह जो श्रुति मधुर हो, या किसी राग पर आधाारित हो किसी वाद्य पर अखण्ड रूप से बजाया जाता है। लहरे के लिए रागों का चयन समयानुकूल भी किया जा सकता है।

आज वह तालें जो अपना अस्तित्व खो रही है, उन्हें अप्रचलित कहते हैं। इन तालों को इनका अस्तित्व वापस दिलाने का एक महत्वपूर्ण प्रयास किया गया है। यह प्रयास है, इन तालों को विभिन्न पाठ्यक्रमों में प्रवेश। कुछ लोग यह मानते हैं कि ऐसी तालों का पाठ्यक्रम में प्रवेश व्यर्थ है। किन्तु यह गलत है, प्रयोग न होने के कारण यह तालें अप्रचलित हो गई। यदि इन तालों का प्रयोग किया जाए, तो यह भी प्रचलित तालों के ही समान है। अप्रचलित तालें भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी की प्रचलित तालें हैं। आज पाठ्यक्रम में होने के कारण विद्यार्थी इन तालों को बजाने का प्रयास करते हैं। पाठ्यक्रम में प्रचलित ताल के समान महत्व दिये जाने के कारण विद्यार्थी इन तालों में भी उतनी ही परिश्रम करते हैं जितनी कि प्रचलित तालों में करते हैं।

ठेका सरल और मोहक हो। क्योंकि वह बार-बार बजता है वह मधुर हो। अप्रचलित तालों को प्रचलित बनाने में सबसे बड़ा योगदान उनके ठेके का होगा। हम किसी भी ताल को उसके ठेके से जानते हैं यदि ठेका सरल है तो बार-बार प्रयोग में लाया जाता है और बार-बार प्रयोग में आने के कारण वह प्रचलित हो जाता है। जैसे तीनताल 16 मात्रा की ताल है जो अपने सरल ठेके के कारण ही कलाकारों, विद्यालय-शिक्षकों और श्रोताओं को प्रिय है। उसी जगह 16 मात्रे की बड़ी सवारी है जिसे कभी कोई नहीं बजाता।

अतः प्रचलित ताल को प्रचार में लाने के लिए उसके ठेके को सरल बनाना होगा। तालों की मात्राओं का विभाजन भी आसान हो झपताल-तीनताल में उसकी आधी मात्रा तक भरी तभी आधी तक खाली के बोल होते हैं जिसके कारण गायक वादन नर्तक को ताल समझने में आसानी तथा सहजता होती है।

ध्यानपूर्वक देखा जाए तो अप्रचलित तालों का विभाजन ठीक तरीके से नहीं होता, जिसके कारण विद्यार्थी उसे अच्छे ढंग से समझ नहीं पाते। कलाकार उसे अच्छी तरह समझते हैं, पर मंच पर उसे उठाने से हिचकते हैं। इसका यह कारण है, कि 9 मात्रा 13 मात्रा 11 मात्रा, एक आवर्तन के बाद दूसरे आवर्तन में सम्हालना कठिन है, भले ही बाद में जाकर यह बराबर आ जाएँ।

जैसे 9 मात्रा का ठेका।

धि तिरकिट धी नाना तू नात्रक धीधी नाकी धीना

9 मात्रा का ठेठा विषम पदी ताल है और उसमें भी बोलों की समानता नहीं है। प्रत्येक मात्रा में बोलों का वजन अलग-अलग है जिसमें कारण उसे सम्हालना कठिन है। यदि 9 मात्रा के ताल की लयकारी हुई तो ठाह के अतिरिक्त अन्य लयकारी करना बहुत मुश्किल है। इसमें सबसे विषम परिस्थिति विद्यार्थी की होती है क्योंकि कलाकार मंच पर हिम्मत कर के बिना लयकारी के कुछ भी बजा दे (जैसे कायदा, टुकड़ा आदि) विद्यार्थी जब परीक्षा देने बैठता है तो ऐसी तालों में परीक्षक यदि ठेके की लयकारी करने को कह दे और विद्यार्थी यदि उसे न कर पाए तो परीक्षा की घड़ी में विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों से बचने के लिए विद्यार्थी कभी भी ऐसी तालों का चुनाव नहीं करते उससे कतरा जाते हैं। पाठ्यक्रम में अनेक तालें हैं, ऐसी परिस्थिति में विद्यार्थी सरल-प्रचलित तालों का ही चुनाव करते हैं। अप्रचलित तालों को, प्रचलित बनाने के लिए पाठ्यक्रम में तो

रख दिया जाता है किन्तु विद्यार्थी उनकी क्लिष्टता के कारण न तो उसे सीखते हैं न ही उसका चुनाव करते हैं।

प्रदर्शन में अधिकतर तीनताल, आड़ाचारताल, रूपक, झपताल आदि सुनने को मिलती है। किन्तु पाठ्यक्रम में होने के कारण 9 मात्रा, 13 मात्रा आदि तालों का भी प्रयोग यदा कदा सुना जा सकता है। बहुत कम ऐसे कलाकार हैं जो अप्रचलित तालों में प्रदर्शन करते हों। इसकी वजह यह भी है कि यह तालें, प्रचलित तालों की अपेक्षा बहुत कठिन हैं, केवल विद्वान जन ही इन तालों में सहजता से प्रदर्शन कर पाते हैं। यदि पाठ्यक्रम में इन्हें स्थान न दिया जाए तो विद्यार्थी कभी इन तालों को बजाने का प्रयास भी नहीं करेगा।

अब जब पुनः अप्रचलित तालों की प्रचार में लाना होगा तो उसमें संगीत की तीनों विधाओं (गायन, वादन तथा नृत्य) के कलाकारों को भी योगदान देना पड़ेगा। सर्वप्रथम तबला वादकों को, उन पखावज की खुली तालों को बन्द बोलों के ठेकों में निर्माण करना होगा और उसे अपने वादन में समाहित करना होगा। इसके अतिरिक्त गायकों और नर्तकों को भी इन नवीन रचित तालों में बंदिशों का निर्माण करके अपनी कला का जनमानस के समक्ष प्रदर्शन करना होगा और उन्हें यह बतलाना होगा कि प्राचीन तालों के ठेकों को एक नचा रूप दे करके कला का प्रदर्शन किया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि कुछ तालें जो आम तालों से कठिन है, जिनकी रचना क्लिष्ट है, जिन पर आसानी से वर्चस्व नहीं कायम किया जा सकता वे अप्रचलित तालें कहलाती है, किन्तु आज प्रयास किया जा रहा है कि इन तालों को भी प्रचलित तालों के समान स्थान दिया जाए। आज विद्यार्थी ऐसी तालों को सीखने का प्रयास करते हैं इसीलिए पाठ्यक्रम में इन तालों को इनका अस्तित्व दिलाने का प्रयास चल सकता है।

Multicultural Approaches to Music Education : Teaching Perspectives and Benefits in context of India

Anuradha Rathuri

Research Scholar (J.R.F.),
Deptt. of Vocal Music Faculty of Performing Arts, B.H.U., Varanasi (U.P.)

A multicultural approach to learning necessities organizing educational experiences of students that develop sensitivity, understanding and respect for people from a broad spectrum of ethnic cultural backgrounds. If students are to learn from a multicultural perspective, teachers must develop an educational philosophy that recognizes many cultural contributions made by different people. Multicultural music education reflects the diversity of the world in general and in particular by promoting a music curriculum that includes different styles of singing, instrumentation, and listening experiences representatives of a wide array of ethnic-cultures. It also encourages the interdisciplinary study of different cultures through not only music but also art, dance, drama, literature, poetry and social studies. The ultimate challenge in multicultural music education is to provide avenues of exploration so that students can gain a better understanding of the world and of their Indian heritage.

In music, a multicultural approach to education is clearly in keeping with what is perhaps the most significant trend of the past half century: the growing understanding of music as a global phenomenon in which there are a number of highly sophisticated musical traditions based on different but equally logical principles. In essence, students must be taught the operative principles of each musical system in order to understand it. Clearly educational systems must ensure that music curricula contain balanced programs that are representative of the world and also of the multicultural nature of India itself. Such an approach is a fair and equitable practice, one that provides teachers with the wherewithal to provide occasions for their students to experience firsthand the principles of content integration, knowledge construction, prejudice reduction, equity pedagogy, and an empowering school culture and social structure.

Now if we think about the benefits from a multicultural approach to music education, we'll find a number of advantages. First, when students are introduced to a great variety of musical sounds from all over the world, their palette of musical experiences is expanded, as they come to realize the extraordinary variety of sonic events worldwide. It is particularly important to note that an early exposure to a large array of musical sounds is essential in helping students become receptive to all types of musical expression.

Second, student begin to understand that many areas of the world express music that is as sophisticated as their own. Third, students can discover many different but equally valid ways to construct music. For many students this may be one of the most important benefits derived from a study of music in its multicultural manifestations, Even young children can discover that music from a given culture may have principles that differ significantly from those of their own musical culture, and that one must learn the distinctive, inherent logic of each type of music. Fourth, by studying a variety of world music, students can develop greater musical flexibility termed by some as 'Polymusicality'. They can increase their ability to perform, listen intelligently to, and appreciate many types of music. Through their involvement with other music, students can develop a number of vocal and instrumental techniques. Their capacity for learning different music grows, and is able to study and perform new music with increased understanding and ease.

In essence, when students study a variety of music, they become more aware of aspects of their own music that they have previously taken for granted. A multicultural approach to music learning in Indian institutions is important for many reasons. For one thing, India is comprised of an extremely diverse population, with states of different cultures and foreigners residing here who admire Indian culture and are desirous of learning Indian Music. In addition, India has one of the world's oldest and most sophisticated musical traditions. Its history may be traced back at least 3,500 years. But in India we can see ignorance towards these kinds of burning issues. In west, students involved in musical studies encounter a wide range of alternative views during their education. They tend to be familiar with the characteristics and techniques of reasoned debate and the hallmarks of fallacious argument. Thus as professional, they expect to read and hear rigorous, ongoing, point-counterpoint dialogues about key concepts in their domains. In India at university level we can see a notable advancement in field of Music education but at low levels still Music is not included as a subject, while it should be studied as well as any other subject.

Music education is very essential from the elementary level. We can understand the need of Music education from the very beginning by the words of Canadian Music

Educator David Elliot. He suggests that we should consider music as behaviour. "Music Performance is the model for social life, the way the parts relate to the whole; the way the musical elements and processes balance; the way supporting roles and soloing interact to create effective dialogue." Music provides an excellent foundation to the whole building of education. Music education because of its particular language has the potential to reach and be a transforming power in different realities. Music education looks more closely at the links between culture and music, Music education serves to support culture, just as the reciprocal aim of culture is learning. In a very real sense, the most important content of multicultural music education is not that there many different ways to make music; it is that there are many different ways to make human, and all are worthy of careful thought, consideration and sympathy.

Multicultural music study can also be approached through various performance experiences. Concurrently with experiencing the fundamental structural principles of other music through performance, students are ready to listen perceptively to recorded performances of world music. Listening to examples of many different musical cultures is an important component of any instructional program. Developing a cultural context for featured musical pieces or styles is an important part of a multicultural music program. Although students can explore other music without investigating the cultures themselves, the most effective approach co ordinates a study of the people and their music. Through an interrelated study of many aspects of a culture, students develop new and important understandings of other people, and they begin to realize the inherent place of music and the arts in other culture.

References:

1. Anderson, W.M. & Campbell, P.S. (1991), "Teaching Music from a Multicultural Perspective," In *Multicultural Perspectives in Music Education, Vol.-1*, ed. W. M. Anderson & P. S. Campbell, 1-7.
2. Banks, James A., "Multicultural Education: Historical Development, Dimensions and Practice," in *handbook of research on Multicultural Education*, 2nd ed., ed. James A. Banks and Cheryl Mc Gee Banks (San Francisco: Jossey-Bass, 2004), 3-29.
3. Elliot, D. (1989), "Key Concepts in Multicultural Music Education," in *International Journal of Music Education 13*, 11-18.

भारतीय शास्त्रीय संगीत में इलेक्ट्रानिक वाद्य यंत्रों की उपयोगिता

डॉ. आनन्द कृष्ण ज्योतिषी

भारतीय शास्त्रीय संगीत में वाद्यों का क्या स्थान है अथवा महत्व है इससे सभी लोग भली भाँति परिचित हैं, संगीत की तीनों विधाओं गायन, वादन तथा नर्तन में वाद्यों का प्रयोग अति आवश्यक है। भरत के नाट्य-शास्त्र में 'आतोद्य' वाद्य की सामान्य संज्ञा है। आतोद्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'आ समन्तात् तुद्यते ताड्यते इति आतोद्यम्' जो चारों ओर से या पूर्ण रूप से प्रताड़ित किया जाये या ठोका जाये वह 'आतोद्य' कहलाता है। भरत नाट्य शास्त्र के 28वें अध्याय के पहले श्लोक में वाद्य के चार प्रकार बताए हैं जो इस प्रकार हैं—

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्तितम्।''[1]

(1) तत् (2) अवनद्ध (3) घन तथा (4) सुषिर! तंत्री के वाद्यों को ''तत्'', चमड़े से मढ़े हुए वाद्यों को अवनद्ध, धातु से निर्मित वाद्यों को 'घन' तथा छिद्र युक्त वाद्य को सुषिर कहते हैं।

संसार के सभी वाद्य भरतमुनि के द्वारा बताए हुए चार वाद्यों में आ जाते हैं। ऐसा हो सकता है कि किसी विशेष वाद्य में उपर्युक्त चार प्रकार में से दो का मेल हो, किन्तु नामकरण का नियम है—''प्रधान्येत व्यपदेशा भवन्ति'' अर्थात् प्राधान्य के आधार पर नाम रखा जाता है। भरतमुनि का यह वर्गीकरण कितना व्यवस्थित और महत्वपूर्ण है इसका ऐतिहासिक तथ्य डॉ0 ठाकुर जयदेव सिंह की पुस्तक ''भारतीय संगीत का इतिहास'' में दिया गया है।[2]

1877 ई0 में समस्त वाद्यों का यूरोप में ब्रूज़लस (Brussels) नामक स्थान में एक बहुत विशाल संग्रहालय बना। उस समय यह प्रश्न उठा कि इन सब वाद्यों का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाये। उस समय यूरोप के संगीत के विद्वान बहुत विचार-विमर्श करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भरत ने जो वाद्यों का वर्गीकरण किया है उससे अधिक व्यवस्थित वर्गीकरण सम्भव नहीं है। उसी को अपना लेना चाहिए। अतः भरतमुनि के ही वर्गीकरण के आधार पर यूरोप के समस्त वाद्यों का वर्गीकरण किया गया।

(1) 'तत्' वाद्य के लिए यूरोप के संगीतज्ञों ने Chordophonic instrument शब्द बनाया।

(2) 'अवनद्ध वाद्य' के लिए Membranophonic instrument शब्द बनाया।

(3) 'घन वाद्य' के लिए Idiophonic instrument शब्द बनाया।

(4) 'सुषिर वाद्य' के लिए Acrophonic instrument शब्द बनाया।

हम सर्वप्रथम गायन विद्या की बात करें तो हम जिस कंठ से गायन करते हैं उसे शास्त्रों में ''गात्र वीणा' का नाम दिया गया है लेकिन व्यवहारिक रूप में देखें तो गायन में प्रमुख वाद्य के रूप में ''तानपूरा' का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसे स्वर वाद्य के रूप में मान्यता प्राप्त है किन्तु विशिष्ट बात यह है कि तानपूरा न केवल गायन के साथ बल्कि संगीत की सभी विधाओं के साथ अनिवार्य रूप से प्रयुक्त होता

है। क्योंकि षड्ज की स्थापना के लिए किसी निश्चित स्वर को मापदण्ड के रूप में रखना होता है तानपूरे के चार तारों को समान्यतया अचल स्वरों पंचम तथा षड्ज में मिलाया जाता है, जिसमें प्रथम तार मंद्र-पंचम में परन्तु, रागों के अनुसार शुद्ध गांधार, शुद्ध मध्यम, शुद्ध धैवत एवं शुद्ध निषाद स्वरों का भी प्रयोग होता है।

इसके द्वितीय तथा तृतीय तारों को मध्य-षड्ज में मिलाते हैं तथा चतुर्थ तार को मंद्र-षड्ज में मिलाया जाता है।

किन्तु वर्तमान समय में इलेक्ट्रानिक तानपूरे का निर्माण किये जाने के कारण शास्त्रीय संगीत में इसकी उपयोगिता का क्रांतिकारी रूपान्तरण हुआ है प्रायः आजकल सभी बड़े कलाकार तथा संगीत शिक्षक इसका प्रयोग मंच प्रदर्शन के दौरान करते हैं तथा साथ में तानपूरे के परम्परागत स्वरूप को भी साथ में रखते हैं। इलेक्ट्रानिक तानपूरे को आवश्यकतानुसार कम या अधिक तेज आवाज में रखा जा सकता है जो लकड़ी के दो तानपूरे के बराबर बजाया जा सकता है।

लकड़ी के बने तानपूरे पर मौसम का प्रभाव पड़ता रहता है। गर्मी के समय तानपूरे की लकड़ी सूख जाती है तथ एअरकंडीशन कमरे से मंच पर लाने के दौरान तापमान में अंतर होने से तानपूरा अपने स्वर से ऊपर या नीचे हो जाता है जिसके कारण पुनः मिलाना पड़ता है। सर्दियों तथा बारिश के मौसम में लकड़ी फूल जाती है, जिसके कारण तारों को मिलाने के दौरान खूंटियाँ टूटने या जाम हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसके अलावा जब कोई कलाकार दूसरे शहरों में कार्यक्रम देने जाते हैं तो अपने पिच के तानपूरे नहीं मिल पाने के कारण उन्हें परेशानी का सामना करना पड़ता है, जिससे कार्यक्रम के बिगड़ने की पूरी सम्भावना रहती है। कभी-कभी तो तानपूरे इतनी खराब स्थिति में रहते हैं कि उनको मिलाना तक संभव नहीं हो पाता, किन्तु इलेक्ट्रानिक तानपूरे पर वातावरण का कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता।

जिसको गायक, वादक अपने षड्ज के अनुसार किसी भी स्केल में तुरन्त मिला सकते हैं। पंचम प्रधान राग को गाने के बाद यदि गायम मध्यम प्रधान राग या उपशास्त्रीय गायन करना चाहता है तो इसे बटन के द्वारा मध्यम प्रधान या निषाद प्रधान सहज ही बना लिया जाता है।

इसके अलावा इसको प्रतिदिन के अभ्यास में प्रयुक्त किया जा सकता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने पर इसको टूटने-फूटने की सम्भावना नगण्य होती है।

अवनद्ध वाद्यों में इलेक्ट्रानिक तबले का प्रयोग भी व्यापक रूप में स्थिापित कलाकार तथा छात्र भी अभ्यास के लिए करते हैं। क्योंकि प्रायः यह देखा जाता है कि संगति के लिए संगतकार उपलब्ध नहीं हो पाते अथवा उनकी फीस अधिक होने के कारण एक छात्र को मुश्किल का सामना करना पड़ता है, साथ ही समय की उपलब्धता या अनुपलब्धता इसमें बाधक बनती है।

वर्तमान समय में गायक कलाकार इलेक्ट्रानिक स्वर मंडल का प्रयोग बड़े पैमाने पर कर रहे हैं। इसकी विशेषता यह है कि किसी विशेष राग के गायन के पश्चात दूसरा राग जब कलाकार लेता है तो उसे तुरंत इलेक्ट्रानिक खूँटियों द्वारा राग में लगने वाले स्वरों के अनुसार परिवर्तन कर लेता है।

स्वर मंडल के परम्परागत स्वरूप में इस प्रकार का परिवर्तन तुरंत संभव नहीं होता। एक राग को गाने के प्रश्चात दूसरे राग के निर्धारित स्वरों को इसमें मिलाने के लिए कुछ समय की आवश्यकता पड़ती है। इस दौरान दर्शकों की अधीरता देखने लायक होती है। इसके अलावा आजकल के संगीत कार्यक्रम का निश्चित समय होता है, जिसे कलाकार को ध्यान में रखना पड़ता है।

नृत्य कला में नए वाद्य नहीं किन्तु पूर्व रिकार्डेड कैसिट अथवा सी.डी. का चलन अब काफी हो गया

है। इसमें कलाकार सी.डी. को बजाकर उसके अनुसार अपनी नृत्य कला का प्रदर्शन करते हैं।

इसमें भी मुख्य कारण यह है कि संगीत के आयोजक मुख्य कलाकार को वित्तीय सहायता अधिक देते हैं किन्तु संगत कलाकारों को उतना पैसा नहीं मिल पाता। इसमें संगतकार कलाकारों की संख्या भी अधिक होती है जिसके कारण मुख्य कलाकार को इन सभी को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना तथा सभी की मूलभूत आवश्यकताओं का समायोजन करना एक टेढ़ी-खीर बन जाता है। इसमें सी.डी. अथवा कैसिट सभी समस्याओं का सहज ही समाधान करती है।

अस्तु हम कह सकते हैं कि इलेक्ट्रानिक यंत्रों का प्रयोग संगीत जगत में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है तथा इसका प्रयोग दिनों-दिन बढ़ता ही जायेगा। नव साधक जिन्हें तानपूरा मिलाने का अभ्यास अति आवश्यक होता है वे यदि पारंपरिक तानपूरे के स्थान पर इलेक्ट्रानिक तानपूरा का ही प्रयोग करेंगे तो वे तानपूरा को खूँटी द्वारा मिलाना नहीं सीख पाएगें अतः जो कुशल साधक हैं उन्हें ही इन नये तानपूरा का प्रयोग करना चाहिए, प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने वालों को नहीं।

किन्तु संगीत के नव साधकों की स्वर ज्ञान की सूक्ष्मता उत्तरोत्तर जैसे-जैसे गहन होती जाएगी वह इन संगीत के उपकरणों का प्रयोग उतनी ही अधिक बुद्धिमत्ता पूर्वक कर सकेंगे।

संदर्भ

1. नाट्यशास्त्र-भरतमुनि, पृ. सं. 28/1
2. भारतीय संगीत का इतिहास—डॉ0 ठाकुर जयदेव सिंह, पृ0 सं. 303

कलाओं का अंतः धरातल

डॉ. जीवन शुक्ल

सेवानिवृत्त प्रवक्ता, कन्नौज

सघनता अर्थवान तभी होती है जब वह द्रवित होती है, उसमें विस्फोट होता है। विस्फोट कर्कस होता है, भयावह भी होता है किन्तु वही नाद का आदिम स्वरूप भी कहा जा सकता है। असंतुलित ध्वनि ही विस्फोट की संज्ञा होती है और उसके मूल को नाद का नाम दिया जा सकता। नाद संगीत का कारण शरीर है और संगीत साहित्य की आत्मा; कम-से-कम मैं तो ऐसा ही अनुभव करता हूँ। कविता में गति और लय, छंद के आधार भूत तत्व के रूप में विद्यमान रहते हैं। संगीत में भी इनका वही स्थान है। मेरी दृष्टि में नाद की गतिमय लयता ही संगीत का आरोह-अवरोह है और नाद की गत्यात्मक लयता ही कविता को प्राण-शक्ति। शायद यही कारण है कि निराला जब कविता में नये अवतार की कामना करते हैं तो काव्य की देवी से प्रार्थना करते हैं।

नव गति, नव लय, ताल-छंद नव
नवल कंठ, नव जलद-मन्द्ररव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर नव स्वर दे।

सृष्टि का सृजन, उसके विकास और उसके विनाश, अर्थात् प्रलय की पूरी परम्परा का गहन नाता गति, लय, के आबद्ध होने के कारण सृष्टा के अलाप रहित संगीत की तान है। नटराज की प्रतीकात्मक अवधारणा, उनके डमरू के नाद से वर्णों और स्वरों की व्युत्पत्ति तथा नृत्य के भास्य से उत्पन्न भंगिमाओं ने ही कला को जनम दिया, ऐसा भारतीय मनीषी मानते हैं। शिव निराकार परमात्मा की साकार अवधारणा की प्रतिमूर्ति हैं। मैं निराकार संगीत के साकार शब्दावतार के रूप में साहित्य अर्थात् काव्य को लेता हूँ। इतना ही नहीं संगीत की अभिव्यक्त में प्रयुक्त स्वरों की संज्ञा भी उन्हीं शब्दों (स रे ग म...) का आश्रय लेती है जिन्हें काव्य के साधक भी अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए प्रयोग में लाते हैं। अलंकारों में ध्वन्या अलंकार भी काव्य और संगीत के सगोत्री संस्कारों की पुष्टि करता प्रतीत होता है।

संगीत जब काव्य के साथ सहवास करता है तो वह दर्शन के अमूर्त रूप की भी अवतारणा करता प्रतीत होता है।

एक बार फिराक गोरखपुरी का मूड बिगड़ने पर रामबाबू ने वक्त की नज़ाकत देखते हुए फिराक साहब की ग़ज़ल को अपनी मधुर आवाज़ से महफिल के मिज़ाज को बदल दिया—

बिखरी हुई अशार्फियाँ
हैं जाम में साक़ी,
हम दौलते कोनैन को
ठुकराये हुए हैं।

और इसे सुनते ही फ़िराक़ साहब के मुँह से अचानक निकला—

Music is the philosophy of throat.

फ़िराक साहब के इस वाक्य ने मुझे यह सोचने पर विवश किया कि संगीत का एक सशक्त दर्शन भी होता है। राग को संगीत का दर्शन माना जा सकता है। साहित्य या काव्य का आधार शब्द होते हैं। शब्द ही वैचारिक पक्ष के गहन चिंतन को दर्शन का स्वरूप प्रदान करते हैं। उन्हें कोई भी शिक्षित व्यक्ति भाषा में प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से समझ सकता है; किन्तु संगीत के दार्शनिक पक्ष को बिना राग के ज्ञान के नहीं

समझा जा सकता। राग का तात्विक ज्ञान बिना गुरु की शरण में गये नहीं होता। शब्द का दर्शन प्रज्ञा के विश्लेषण से होता है पर संगीत का कंठ के माध्यम से उजागर होता है। राग जहाँ दर्शन की गरिमा को धारण करता है, वह कंठ ही उसका प्रतिरूप बन जाता है, ऐसा कहा जा सकता है। शायद यही कारण रहा होगा कि जब ग़ज़ल का भाव राग से जुड़ा तो उसकी व्याख्या में गायक रामबाबू का कंठ सहायक हुआ। श्रोता को एक साथ इस प्रकार काव्य के साथ राग का दार्शनिक पक्ष भी आनंदित करने में सहायक हुआ। फ़िराक साहब कह उठे श्लेष...संगीत कंठ का दर्शन है। यह वाक्य उसी तरह लगा जैसे बहेलिया के तीर से क्रौच-युग्म के एक साथी को धराशाही होते देख बाल्मीक के मुँह से अनायास, अप्रयास निकल पड़ा था—

माँ निषाद! प्रतिष्ठाम त्वमगमः

शाश्वतीह सामाः.....

ऐसा वाक्य परा शक्ति की प्रेरणा से ही प्रकट होते हैं और चिन्तन की दिशा को गति प्रदान करते हैं। काव्य, संगीत या कला की अवतारणा का सूत्र ऐसी स्थिति में सुमित्रा नंदन पंत के हाथ लगा और वो भी गुन गुना उठेः

वियोग होगा पहला कवि

आह से उपजा होगा गान।

वस्तुतः साहित्य, संगीत और अन्य ललित कलाओं का स्तर ही किसी समाज के वैभव, विकास और उसकी सभ्यता का परिचायक होता है। संगीत, साहित्य, नृत्य सभी का एक दूसरे से अमूर्त सम्बंध है। संगीत अमूर्त ही रहता है पर राग का आश्रय पाकर सगुण अवश्य हो उठता है। काव्य में अमूर्त को मूर्त और मूर्त को अमूर्त रूप देने की क्षमता है। नृत्य में वही भंगिमाओं के द्वारा और चित्रकला में रंगों के माध्यम से व्यक्त होता है। कलाओं का अंतः धरातल उसी तरह एक है जैसे हर की नसों में बहने वाले ख़ून का रंग। हर कला अपनी अभिव्यंजना के पृथक्-पृथक् उपकरणों के कारण ही अलग-अलग नामों से जानी जाती है जैसे चित्रकला तूलिका और रंगों से, गायन रागों से, वादन अपने यंत्रों से, नृत्य वायवी भंगिमाओं तथा कविता शब्दों से व्यक्ति की भावनाओं को व्यक्त करने का पुण्य अर्जित करती है। पर कल्पना तथा भावना का ही निरूपण समस्त कलायें करती हैं और सब का लक्ष भी एक ही है शिवत्व की अवतारणा। वह रेचक (Catharsis) के माध्यम से हो या सम्मोहन के द्वारा। नाटक त्रासदी, कामदी तथा रूमानियत की अभिव्यक्ति कर मानव की आंतरिक भावनाओं तथा उसकी, अभीप्साओं को व्यक्त कर अभिनय की कला रंगमंच पर प्रकट करता है। इसमें काव्य, संगीत, नृत्य आदि कलायें सहचरी बनती हैं। यह भी सृष्टा की अपनी अभिव्यक्ति का ललित पक्ष है जिसके द्वारा वह मानव को सृष्टा का अंशी ही नहीं स्वयं सृष्टा होने का गौरव प्रदान कर प्रकारन्तर से अपने को ही अविभूषित कर मनीषियों से उद्घोष कराता है :

कर्वि, मनीषी, परिभू, स्वयंभू।

कलाओं द्वारा रसानुभूति

प्रो. शारदा वेलंकर

विभागाध्यक्ष, गायन विभाग

संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

'कला' मनुष्य को ईश्वरप्रदत्त एक विशेष प्रतिभा है, जो सभी प्राणियों के रंजन, प्रेरणा और शिक्षण के स्त्रोत हैं। विरले ही उच्चकोटि के कलाकार तथा कलापारखी होते हैं। 'कला' जन्मों के संस्कार विशेष से प्राप्त एक अद्भुत, अलौकिक शक्ति है। वह तन्मयी अनुभूति, प्रतिभा, उच्च कल्पना आदि के सम्मिश्रण से निष्पन्न होने पर भी ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होती है।

'कला' तथा 'विद्या' दोनों ही ज्ञान प्रदान करती है, परन्तु दोनों में अन्तर है। 'विद्या' सृष्टि के विस्तार क्रम के वैज्ञानिक स्वरूप का निरूपण है। वहीं 'कला' मानवीय प्रतिभा की उपज का स्फुरण है। हम संगीत में दोनों का ही समन्वित रूप देख सकते हैं। संगीत के प्रस्तुतिकरण में कला का मुखर स्वरूप हम देख सकते हैं।

'कला' का प्रयोग संगीत विषयक महत्वपूर्ण प्रसंगों में देख सकते हैं। जैसे संगीत में संगत के सन्दर्भ में ताल के एक अंश के रूप में कला को देखा जा सकता है। 'कला' के संदर्भ में 'शिल्प' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। बंगाल में 'कला' अथवा 'कलाकार' को 'शिल्प' या 'शिल्पी' कहा जाता है।

'कलयति इति कला' जो नित्य नयी-नयी भावों को उत्पन्न करे, निरन्तर गतिशील हो, वह 'कला' है। 'कला' शब्द के अनेक अर्थ हैं। एक अंश था टुकड़े को भी 'कला' कहते हैं। इसके अतिरिक्त 'कला' शब्द का एक अन्य अर्थ है 'संख्या'। शास्त्रों में 'कला' के विभिन्न पक्षों की विस्तृत चर्चा हुई है। कला के प्रथम दो भेद- **1. उपयोगी कला तथा 2. ललित कला** है।

ललित कला के प्रमुख पाँच भेद हैं- **1. वास्तु, 2. मूर्ति, 3. चित्रकला, 4. काव्य कला, 5. संगीत कला।** ललित कला के अन्तिम तीन भेदों में प्रतिभा एवं कौशल की आवश्यकता है।

संगीत कला में गीत, वाद्य और नृत्य के रसाभिव्यक्ति के मूल माध्यम प्राण, वाक् तथा मन हैं। ये तीनों संगीत कला में सदा सक्रिय रहते हैं। पूर्व संस्कारों से अनुप्राणित मानवीय अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के साथ-साथ प्रत्येक कला में इन तीनों के साथ देश और काल का भी महत्व है।

कला में रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं-

1. प्रमुख रूप से दो ज्ञानेन्द्रियाँ- चक्षु और कर्ण। ये सभी कलाओं को दो विशिष्ट वर्गों में बाँट देती हैं- श्रव्य कला एवं दृश्य कला।

2. कला में क्षेत्रीय सीमाएँ अलग-अलग दीखती हैं।

3. देश तथा काल के आधार पर कलाओं का स्वरूप निर्धारित होता है। जैसे- काल प्रधान कलायें- संगीत, काव्य, नाट्य आदि। देश प्रधान कलाओं के

अन्तर्गत- मूर्ति, स्थापत्य, चित्रकला आदि आते हैं। विभिन्न कलाओं में ग्राहक इन्द्रियों तथा रस निष्पत्ति प्रक्रिया की विशेषताओं के कारण कलाओं से प्राप्त होने वाली रसानुभूति भी अलग-अलग होती है।

4. बाध्य साधन सामग्री का उपयोग जिस कला में जितना कम होता है वह उतना ही प्रभावशाली होता है।

5. कला व्यक्तिगत है अथवा वस्तुगत इसका भी प्रभाव रसानुभूति पर पड़ता है।

अचल कलाएँ जहाँ दर्शकों को मन्त्रमुग्ध करता है वहीं संगीत जैसी चल कलायें अपनी रसाभिव्यक्ति के क्षणों में श्रोता या दर्शक को मौन कर देती है। इन कलाओं का आनन्द हम स्थिर होकर लेते हैं।

अचल कलाओं के पास दर्शकों को चल कर जाना होता है जबकि चल कलाएं स्वयं श्रोता के पास चल कर आती हैं। सभी कलाओं में रस की अनुभूति तभी संभव है जहाँ तटस्थता का भाव है। तभी आनन्द की प्राप्ति संभव है। विभिन्न कलाओं में अलग-अलग माध्यमों के द्वारा कला साधक को परमानन्द की अनुभूति ही व्यक्त हुई। संगीत में स्वर-लय के आधार पर उनके विलक्षण प्रभाव से युक्त राग रागिणियों की सृष्टि हुई। शब्द के माध्यम से काव्यों की रचना हुई। रंग तूलिका के द्वारा अजन्ता जैसे विशाल भित्ति चित्रें अथवा छोटे-छोटे चित्रें के रूप में आनन्दानुभूति हुई। कलाओं के द्वारा परमानन्द की अनुभूति होने के कारण उनके विश्लेषण में शब्दब्रह्म, नादब्रह्म जैसे संज्ञाएँ प्रयुक्त हुई है।

किसी भी कला का प्रयोजन आनन्द की प्राप्ति में है। यही आनन्द मोक्ष की अवस्था भी है जो कला का प्रयोजन और उसकी सिद्धि है। यह आनन्द मनुष्य को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. भा. सं. कोष - विमलेन्द्र राय चौधरी
2. कलाओं का स्वरूप - रामदुलारे वाजपेयी

सौन्दर्य

जीवन में सौन्दर्य, कला में सौन्दर्य

वाज़दा ख़ान

प्रसिद्ध चित्रकार

जीवन में सौन्दर्य और कला में सौन्दर्य पर बोलना या लिखना जितना आसान हो सकता है, सहज हो सकता है उतना ही मुश्किल भी। क्योंकि कला और जीवन दोनों परिवर्तनशील, अनुसन्धानपरक और सतत चलने वाली प्रक्रिया है और सौन्दर्य दोनों में निहित होता है। सौन्दर्य मानव जीवन की अनुभूतियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सौन्दर्य के प्रति वह सदा से संवेदनशील रहा है। इस सृष्टि में शायद इंसान ही एक मात्र ऐसा प्राणी है जिसमें खाने पीने की भूख के अलावा एक मानसिक तृष्णा और है जो हमें बेचैन करती है। वह सौन्दर्य भाव हम गर अपना इतिहास उठाकर देखें तो पाएंगे की प्रारम्भ से ही मानव जीवन के साथ सौन्दर्य और कला की अनुभूतियां जुड़ी हुई हैं। यद्यपि हम इस जन्मजात सौन्दर्य बोध के प्रति चैतन्य नहीं होते या ये कह सकते हैं कि ये हमारे चैतन्य मस्तिष्क में विद्यमान नहीं होता लेकिन ये भावना हमारे अवचेतन (subcomcious) मन में ज़रूर दखल रखती है। तभी हमें अच्छी वस्तुओं को देखकर आनन्द की अनुभूति होती है। सौन्दर्य के क्या मायने हैं? पहले हमें ये जान लेना चाहिए। एस्थेटिक शब्द मूल ग्रीक शब्द 'एस्थेटिकोस' या 'एस्थेसिस' से निकला है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'इन्द्रियजनित अनुभूति', यानी जो हम अपनी इन्द्रियों द्वारा अनुभूत करते हैं। वैसे सौन्दर्य की कोई एक व्याख्या नहीं की जा सकती है। सबके लिए इसके मायने अलग-अलग हो सकते हैं। सौन्दर्य का भौतिक यथार्थ स्वरूप भी हो सकता है और आत्मिक भी। और दोनों का सम्मिलन रूप भी मानव जीवन के विभिन्न पायदानों पर इनका अपना अलग अलग महत्व है। परन्तु आत्मिक सौन्दर्य को अधिक गहरा और उच्च स्तर का माना जाता है जिसे महसूस करने के लिए और जीवन में उतारने के लिए सूक्ष्म दृष्टि होनी चाहिए।

वैसे ये सबका अपना अपना नज़रिया है कि अपने भीतर तमाम यात्राओं से गुज़रते हुए किस हद तक उनकी अन्तर्दृष्टि विकसित हो पाती है या वे सौन्दर्य के किन रूपों में सन्तुष्टि का एहसास करते हैं।

आखिर सौन्दर्य की मानव जीवन में क्या आवश्यकता है। क्योंकि ये जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से तो जुड़ी नहीं है फिर ये क्यों इतना खास है। मेरे ख्याल से सौन्दर्य एक सकारात्मक अनुभूति या भाव है क्योंकि सौन्दर्य को देखना, सुनना, गुनना मन पर अच्छा प्रभाव डालता है। इसलिए जब कोई वस्तु हमें खूबसूरत लगती है तो भीतर प्रसन्नता या आनन्द का भाव प्रस्फुटित होता है। जीवन में सौन्दर्य की उपस्थिति या सौन्दर्य अनुभूति करना हमें जीवन जीने का बेहतर सलीका देता है। एक लेवल पर ये हमारे भीतर एक सूक्ष्म दृष्टि का सृजन करता है। सौन्दर्य में हिंसा का स्थान नहीं है।

जीवन में सौन्दर्य भाव होना और कला में सौन्दर्य की उपस्थिति आपस में निबद्ध है। इन्हें अलग करके नहीं देखा जा सकता। हर किसी की जिन्दगी में सौन्दर्य तत्व प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान होता है, बस इसे समझने या एहसास करने की क्षमता होनी चाहिए जो धीरे-धीरे विकसित होती है। प्रकृति ने दुनिया को खूबसूरती और कुरुपता दोनों प्रदान की है यानी यदि तमाम नकारात्मक शेड्स बिखरे पड़े है तो सकारात्म शेड्स भी हमारे जीवन में

दखल रखते हैं। मेरे ख्याल से तमाम अनुभवों और जीवन के तमाम रास्तों, पड़ावों से गुज़रते हुए एक स्तर के बाद एक नज़रिया विकसित होने लगता है। तब तमाम वादों, बातों, तथ्यों, कथ्यों, मूल्यों को लेकर गहन और वास्तविक सौन्दर्य भाव जीवन में प्रस्फुटित होने लगता है। वैसे तो सौन्दर्य ऐसी अनुभूति है जिससे एक छोटा बच्चा भी रुबरू होता है। ये बात अलग है कि हम इसकी कितनी गहरायी में उतरकर सच्चे अर्थों में और परिष्कृत रूप में कितना महसूस कर पाते हैं, उतार पाते हैं अपने जीवन में। और ये निर्भर करता है कि हमारे चारों ओर किस तरह का वातावरण, सोच, चिन्तन और मनन उपलब्ध है।

हम अपने कला के पाठ्यक्रम में सौन्दर्य का पूरा सैद्धान्तिक कार्यक्रम पढ़ते हैं। पर सौन्दर्य का कॉन्सेप्ट क्या है। किताबी मायनों के अलावा जब इसके भीतरी तल तक डुबकी नहीं लगाएंगे, अपने भीतर अपनी आत्मा में जज्ब नहीं करेंगे तब तक खूबसूरती हमारे आचार-विचार, दृष्टिकोण, रहन-सहन पर परिलक्षित नहीं होगी।

फिर इसका कोई खास मतलब नहीं होगा। आमतौर पर हमारी जो परवरिश है या वातावरण है यानी हम छोटे से बड़े हो रहे होते हैं तो जो सोच अपने आसपास के दायरे से मिलती है वह ज्यादातर सतही या वाह्य सौन्दर्य पर टिकी होती है। चारों तरफ इसका आलम हम देख सकते हैं। चाहे टेलीविजन पर आप देखें, चाहे हमारे इर्द-गिर्द रहने वालों के विचार हों। चाहे हमारे अपने-अपने घरों में जो हमारी प्रथम पाठशाला होती है। सामान्यतया सौन्दर्य के यही मायने सिखाए-बताए या महसूस कराए जाते हैं। बाहरी काया को कैसे आकर्षक बनाना है, घर को कैसे बहुमूल्य वस्तुओं से सजाना है इत्यादि। ये अच्छी बात है। चूंकि हम इसी दुनिया के बाशिन्दे हैं तो दुनियावी सौन्दर्य का अपना महत्व है। लेकिन अगर साथ में अपने भीतर की दुनिया को भी उतना ही परिष्कृत, परिमार्जित किया जाए। वैचारिकता के धरातल पर अपनी रचनात्मक सोच को, अपनी कल्पना को, सौन्दर्य बोध को नए-नए आयाम दिए जाएं। गर भौतिक सौन्दर्य के साथ जीवन में मानसिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य का सन्तुलन हो तो कितनी सुन्दर बात होगी।

वैसे भी आन्तरिक सौन्दर्य की परिपक्व अनुभूति दुनियावी सौन्दर्य को जानने के बाद बननी प्रारम्भ होती है। जब हम बाहरी सतह, मोह-माया या काया से मुक्त होने लगते हैं। जब थोड़ा समझ बनने लगती है। थोड़ी ऑइडियोलॉजी, थोड़ी दार्शनिकता या आध्यात्मिकता को जानने समझने लगते हैं। जिनके मन मस्तिष्क के कपाट और ज्ञान चक्षु समय और अनुभव के साथ खुलते जाते हैं उनके भीतर एहसास के स्तर में परिपक्वता आती जाती है। उनके चिन्तन मनन में, उनकी सोच में, उनकी बातों में सौन्दर्य बोध परिलक्षित होने लगता है।

यद्यपि आमतौर पर सौन्दर्य को आंखों से देखने की वस्तु माना जाता है। इस बारे में शेक्सपियर अपनी राय जाहिर करते हैं। सोने की अपेक्षा चोर सौन्दर्य देखकर जल्दी भड़कते हैं। सीता, हेलन इत्यादि पौराणिक कथाओं से इसे समझा जा सकता। बहुत से लोग अपने आम जीवन में ही अनुभव और ज्ञान के साथ अंतश्चेतना विकसित होने पर बौद्धिक तल पर या अपनी आत्मा में सौन्दर्य की अनुभूति कर पाते हैं। फिर उन्हें ऊपरी सतह पर कोई खास आकर्षण नहीं दिखाई देता। वे यथार्थ का जो स्तर है उससे थोड़ा ऊपर उठ जाते हैं।

यूं तो सौन्दर्य सारे ज़माने में बिखरा पड़ा है। पेड़, पौधे, पक्षी, आसमान, झरना, समन्दर, सूरज, चांद और खुद इंसान में भी। कितना अद्भुत सौन्दर्य भरा है ईश्वर ने सबमें। बस उसका एहसास करने के लिए वो संवेदनशील दृष्टि और जज्बात होने चाहिए।

आखिर एक सच्चा कलाकार यही तो करता है। हमेशा से ही कलाकारों ने प्रकृति के निःशब्द सौन्दर्य से मुग्ध होकर एक से एक सर्वोत्तम कृतियों का सृजन किया है।

कई बार ऐसा होता है कि जीवन की तमाम परिस्थितियां अनुकूल नहीं होती हैं। खैर यह तो दुनियावी परिपाटी है जिसका सामना हर एक प्राणी को करना पड़ता है। तो मुझे लगता है कि निराशा, कुण्ठा या दुख में डूबने के बजाय उन परिस्थितियों में सकारात्मक, रचनात्मक और प्रेरणादायक पहलुओं को खोजना चाहिए। कहते हैं कि इंसान का बचपन

8-Front Side K

जैसे बीतता है उसी तरह उसका स्वभाव हो जाता है। मै भी ऐसा मानती हूं पर सौ फीसदी नहीं। ईश्वर ने हर किसी को विवेक, बुद्धि प्रदान की है, तमाम एहसासातों से अता किया है। फिर हर ज़माने में सब कुछ सर्वत्र सुलभ रहा है, तय तो हमें करना होता है कि जीवन को किस रूप में गढ़ना है। उदासी, दुख, बेचैनी (छटपटाहट) के भाव भी एक समय के बाद सौन्दर्य क्रिएट करने लगते है जीवन में भी और चित्रों में भी। निरपेक्षता का भाव या साक्षी भाव भी कुछ अंशों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने लगते है। सौन्दर्य जीवन को, विचारों को, आत्मा को परिमार्जित (filtered) तरीके से जीने का मशविरा देता है, नज़रिया देता है। माना कि इस तरह की दृष्टि एकदम से नहीं मिलती। परन्तु अनुभव, ज्ञान और परखने की क्षमता (observation power) बढ़ने के साथ-साथ हमारी समझ में आने लगती है विराट ब्रह्माण्ड की विराट माया। तब हम रच पाते है अपने भीतर एक मौलिक सौन्दर्यमयी दुनिया। अद्भुत अनिर्वचनीय आनन्द की दुनिया। उच्चतम स्तर का सौन्दर्य या आत्मिक सौन्दर्य को हम पढ़कर महसूस नहीं कर सकते है। हां, उसका सैद्धान्तिक पक्ष ज़रूर जान जाते है। विद्वानों ने इस अनुभूति को जिया और महसूस किया है, तब लिखा है। कुछ लोग नकारात्मकता में भी सौन्दर्य की अनुभूति करते है। यहां मै अपने छात्र जीवन के एक किस्से का उल्लेख करना चाहूंगी।

उस वक्त मै इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में स्नातक की छात्रा थी। यूनिवर्सिटी के सरोजिनी नायडू हॉस्टल में रहती थी। हम तमाम दोस्तों के बीच एक दोस्त थी सुकोमल सी, शान्त प्रकृति की। पर कई बार उसकी बातें या सोच ऐसी थी जो हम बाकी दोस्तों में सौन्दर्य या आनन्द की अनुभूति की बजाय डर उत्पन्न कर दिया करती थी। वह हम लोगों को खुश होकर बताती कि जब भी कोई अर्थी (शव) उसके घर के आसपास से गुज़रती है तो वो अपने सारे कामधाम छोड़कर भागकर उसे देखने पहुंच जाती थी, बड़ी ही उत्सुकता के साथ। उसे इस तरह डेड बॉडी को देखना अच्छा लगता था। उसे आनन्द की अनुभूति होती थी। उसी का एक दूसरा प्रसंग है, उस वक्त उसके पिता अस्पताल में भर्ती थे। वहां रात के समय एक भिखारी जो एक पैर से अपाहिज था और बैसाखी के सहारे चलता था, कुछ विक्षिप्त सा, बाहर निकली हुई आंखें, बिखरे बाल। अपनी डरावनी आवाज में पता नहीं क्या क्या बड़बड़ाता, पूरे अस्पताल का चक्कर लगाता। एक तो अस्पताल, फिर रात के मरघट का सन्नाटा किसी के भीतर खौफ पैदा कर सकता था। पर मेरी वो दोस्त रात के सन्नाटे में भी उसकी आवाज सुनते ही अस्पताल के वॉर्ड से बाहर आ जाती थी। उसे देखकर बहुत खुश होती थी। वो इस तरह की चीजों में खूबसूरती ढूंढती थी। हम बाकी दोस्त बहुत दिनों तक उसकी इन बातों से खौफ खाते रहे।

कई बार जो वस्तुएं असुन्दर या कुरूप लगती है वे भी चित्र के रूप में निर्मित होने पर सौन्दर्य बिखेरती है। कई नामचीन कलाकार ऐसे हुए जिन्होंने इस तरह की चीजों को अपने चित्रों में उतारा। विख्यात डच चित्रकार रैम्ब्रां को शवों को चीड़फाड़ के लिए लायी गई लाशों में। बैलों की उधड़ी हुई खाल में सौन्दर्य दिखाई देता था। वह उन्हीं को चित्रित करता था। इसे हम यह भी कह सकते है कि सुन्दरता केवल वस्तु में ही नहीं होती। चित्रकार अपने मनोभावों, निरपेक्ष दृष्टिकोण और शिल्प के बल पर चित्रों में सौन्दर्य भर देता है। एक तरह से कलाकार हमें यह विचार देता है कि कोई भी वस्तु सुन्दर या कुरूप नहीं होती। यह हमारे दृष्टिकोण का फर्क है और चित्रण ऐसी साधना है जिसमें दृष्टि निरपेक्ष हो आसानी से प्राप्त नहीं होती।

इसके लिए गहन भावनात्मक चिन्तन व निरन्तर साधना की आवश्यकता होती है। तभी चित्र में सौन्दर्य भाव चेतना की मौलिक अभिव्यक्ति हो पाती है। इसीलिए सच्चा कलाकार हर वस्तु में आन्तरिक सौन्दर्य ढूंढ ही लेता है। तब कालजयी कृतियों की रचना होती है। और कोई भी कालजयी कृति तब क्रिएट होती है जब उसमें भाव, शिल्प और आनन्द का उत्कृष्ट सन्तुलन हो यानी मनोभाव, विभिन्न प्रकार के आकार, रूप-रंग के साथ विलक्षण ढंग से एक स्थान पर (चित्रों में) संयोजित मिलते है। टैगोर का मानना है कि निरपेक्ष दृष्टि रखने वाला समन्दर में अठखेलियां करती मछली में सौन्दर्य ढूंढ लेता है जबकि मछुआरा उसको सिर्फ पकड़ना जानता है।

तब हमें सौन्दर्य का बोध की प्रतीति होने लगती है। सुन्दरता को जानने-समझने, महसूस करने में संयोजन एक मुख्य गुण की भूमिका निभाता है। इसीलिए ग्रीक के मूर्तिशिल्प आज भी उतने ही क्लासिक समझे जाते है जितना कि कल थे। इनमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों तत्वों का पूर्ण सन्तुलन मिलता है। यद्यपि ये कोई फॉर्मूला तो नहीं है फिर भी ये गुण सौन्दर्य की कसौटी तो बनते ही है।

यदि हम पाश्चात्य और पूर्वी विचारधाराओं में देखें तो कला चिन्तन का प्रमुख केन्द्र सौन्दर्य ही है। कला मे सौन्दर्य का होना आवश्यक समझा गया है। जिसमें सौन्दर्य तत्व विद्यमान न हो उसे कला नहीं माना गया। इसलिए यदि कला रूप है या शरीर है तो सौन्दर्य उसकी रूह या आत्मा की तरह है। सौन्दर्य और कला को एक दूसरे का पर्याय भी समझा जा सकता है।

अतः समस्त कलाओं में सौन्दर्य का, प्रेम का तत्व निश्चित रूप से समाहित होता है। टैगोर कहते है कि प्रेम से अधिक सुन्दर यहां कुछ भी नहीं है। वे सत्य और सौन्दर्य को एक ही वस्तु मानते है। जीवन के अभिन्न भाव सुख-दुख अपने सौन्दर्यमयी रूप से कला की विधाओं में आविर्भूत होते है। सौन्दर्य यानी प्रेम यानी सकारात्मक अनुभूति। कोई कलाकृति जितनी उदात्त या गंभीर होगी उसमें उतने ही गहन सौन्दर्य की प्रतीति होगी। वस्तुतः ये प्रतीति ध्यान की स्थिति के समीप पहुंच जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि सभी कलाएं ईश्वर तक पहुंचने का माध्यम है।

हम जब अपने भीतर कुलबुलाहट या बेचैनी का अनुभव करते है जो हमें परिवेश और वातावरण से मिलती है। सबब बनती है सृजनशीलता का। कोई कलाकार जब चित्रों का सृजन करता है तब उसके भीतर अनगिनत भाव, कल्पनाएं और संवेदनाएं जमा होती है। कला संसार के शुरुआती सृजन में चित्रकार पर निश्चित रूप से किसी चित्रकार की कला शैली का प्रभाव होता है। चूंकि उनकी स्टाइल उनकी कृतियों के तमाम गुण मन पर प्रभाव डालते है या हम बहुत पसन्द करते है तो उसका प्रभाव हमारे चित्रों पर भी दिखाई पड़ता है। तब तक शायद हमारे चित्रों की मौलिक दुनिया क्रिएट नहीं हो पाती पर धीरे-धीरे जब हम इस प्रभाव से मुक्त होने लगते है तब हमारी एक सोच, एक समझ बनने लगती है, रंग-रूप आकारों के प्रति, अभिव्यंजित भावों के प्रति। तब अपने भीतर की कलात्मक दुनिया में डूबकर सौन्दर्य का भाव उत्पन्न होने लगता है जिसकी अनुभूति चित्रों के रूप में प्रतिबिम्बित होती है।

मै मशहूर चित्रकार सिद्धार्थ जी का नाम लेना चाहूंगी। उनके चित्रों में जो उदात्तता का भाव है, जो निरपेक्ष दृष्टिकोण है जीवन को समझने, अनुभूत करने का, जो सादगी, जो आध्यात्मिकता और गहन भावों की अभिव्यक्ति, उनके चित्रों में रूप-रंग और आकारों में दिखाई देता है। जो शान्ति और पवित्रता महसूस होती है। उच्चस्तरीय सौन्दर्य की प्रतीति कराते है। मै जो सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण उनके चित्रों में पाती हूं वही सौन्दर्यात्मक या सकारात्मक नज़रिया उनके व्यक्तित्व में और उनके विचारों में भी झलकता है। वास्तव में वे सच्चे अर्थों में एक सिद्धहस्त कलाकार हैं।

जब हम अपने बनाए चित्रों को देखते हैं तो एक आंतरिक प्रसन्नता का अनुभव करते है। अपने नये क्रिएशन पर, सृजन पर या जो चित्र हमें अच्छे लगते है उसमें लय, संगीत की प्रतीति होती है। ये जो लय है जीवन की, कला की, वो हमारी सृजनशीलता को प्रोत्साहित करती है। आनन्द के साथ ये भाव रोमान्च की प्रतीति कराता है। एक सुन्दर क्रिएशन या कलाकृति जब आकार लेती है हमारे भीतर से, उस वक्त हम खुद को विश्व विजेता की तरह महसूस करते हैं। तो क्या ये सौन्दर्यमयी एहसास हमारे जीवन को प्रभावित नहीं करेगा? प्रयुक्त होने वाले रंग-रूप, आकारों, उनसे छलकते भावों में, उनके सुरूर में, चित्रों की कायनात में हम जीने लगते है। बेहद सौन्दर्यात्मक और काल्पनिक संसार चित्रों में ढलकर सजीव रूप ले लेता है। कला और सौन्दर्य इस कदर हमारे जीवन से जुड़ी है कि हमारे व्यक्तित्व, हमारी सोच का इम्प्रेशन बराबर चित्र सृजन में नज़र आता है। कई बार तो कलाकार वो रच डालता है जो उसकी भीतरी दुनिया के सातवें तल पर होता है और उसे खुद भी नहीं मालूम होता है। ऐसी कलाकृतियों का सृजन जो

सौन्दर्य और जीवन से भरी होती है और कई बार जब चित्र पूर्ण होता है तो वह हमारे मानस पटल पर हमारे व्यक्तित्व पर अपनी ही तरह से प्रभाव डालता है। जबरदस्त तारतम्यता है (कलाकार) या जीवन (चित्र) या कला और सौन्दर्य में।

कला का सौन्दर्य हमारे जीवन को दो तरह से प्रभावित करता है। जब हम चित्र निर्माण की प्रक्रिया में होते हैं तो हम एक काल्पनिक और सृजनशील संसार में होते हैं। हम सोचते है कि अमुक भाव या विषय को चित्र में क्रिएट करना है तो उस हिसाब से रेखाओं का रंगतों के स्ट्रोक लगाने की कोशिश करते हैं। उसमें कलाकार के व्यक्तित्व का उसके मनन-चिन्तन का दर्शन झलकता है। यानी हम अपने जहन में कई बार मौलिक रुपाकारों या रंगों-रेखाओं की कल्पना करते हैं और क्रिएट करते हैं।

इससे एक सुखद अनुभूति की प्रतीति होती है जो हमें प्रभावित करता है। और कई बार तो चित्र पूर्ण होते-होते किन्ही नये ढंग के रूपाकारों को, रंगों को आत्मसात कर लेता है।

हमारी सोची गई नीति से अलग दूसरा परिवर्तित रूप। वह चित्र मौलिक से भी अधिक मौलिक हो जाता है। उसमें उकेरी गई लय, भाव, रंग कलाकार के जीवन में, मनश्चेतना में, व्यवहार में गहराई भरते हैं, जो उनके सोचने-समझने, बातचीत करने के ढंग में झलकता है, मौलिक सौन्दर्य का फलसफ़ा रचता है। सबसे अहम बात ये है कि तब कलाकार निश्चित रूप से अपने चित्रों में विशुद्ध मौलिक आयाम गढ़ पाता है। तमाम दुनियावी जद्दोजहद और कठिनाइयों के बाद भी।

यहां हम यही कह सकते हैं कि इतनी कठिनाइयों में, हिंसा के समय में, सरवाइव करने की जद्दोजहद में है। हम तो ये सौन्दर्य, प्रेम या आनन्द का भाव अपने भीतर कैसे महसूस कर सकते हैं। पर ये निराशा और संघर्ष का सबब भी पृथ्वी पर उसी तरह विद्यमान है जैसे सौन्दर्य। इनसे कैसे पार पाना है, कैसे उन्हें सकारात्मक शेड्स, सुन्दर और सार्थक अनुभूतियों में ढालना है, ये जज्बा तो हमारे ही भीतर होता है।

मै मानती हूं अपनी (वाह्य और आन्तरिक यात्रा) के बाद जीवन होने का अर्थ कुछ-कुछ समझते, गुनते, तमाम चीजों से रुबरू होते, चिन्तन-मनन करते, धूपछांव में (संघर्षों में) डूबते-उतराते रचनात्मकता निश्चित रूप से सार्थक अर्थ ग्रहण करने लगती है। तब आविर्भूत होते चित्रों में सौन्दर्यभाव इसके तमाम मायने हमें खुद ही विकसित करने होते हैं, गढ़ने होते हैं या फिर हम कह सकते हैं कि जब कलाकार दुनियावी जंजालों से कुछ हद तक फतह पा जाता है तो सौन्दर्य में डूबता है, पूर्णतया क्रिएशन में डूबता है। जहां कोई पूर्वग्रह, कोई शिकवा-शिकायत नहीं होती। चित्र सेन्सुअलिटी से उठकर शुद्ध अवलोकन बन जाते हैं, तब उत्पन्न होता है विशुद्ध सच्चा सौन्दर्य जीवन में भी और कला में भी। कलाकार के भीतर सौन्दर्य का परमभाव विकसित होना प्रारम्भ होता है। तब सच्चा कलाकार होना ही अपने आप में सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति है।

वास्तव में सभी कलाएं जीवन में अनुशासन, धैर्य, एकाग्रता लाती हैं, जीने का सलीका देती हैं, प्रेम करना सिखाती हैं, रुहानियत के करीब ले जाती है और सौन्दर्य रस की प्रतीति करना सिखाता है। सौन्दर्य हमारे मनोभावों का परिमार्जन करता है। साथ ही हमारी प्रवृत्तियों को संयत करता है। सबसे बड़ी बात यह है कि भीतर की दुनिया में एक निरपेक्ष भाव या साक्षी भाव से हम रुबरू होने लगते हैं।

अतः यह कहने में कोई मुश्किल नहीं मुझे कि सौन्दर्य समस्त ब्रह्माण्ड में निसीम अन्तर का तत्व है। जो हर किसी में विद्यमान होता है, सिर्फ उसे बोध करना आना चाहिए।

'बोध होना या करना' इसमें पूरा जीवन लग जाता है। सतत चलने वाली साधना प्रक्रिया है ये। जिसकी अभिव्यक्ति कलाकृति के रूप में होती है और जीवन के विविध पक्षों के रूप में भी। सौन्दर्य शाश्वत सत्य है इसीलिए ग्रंथों में सम्भवतः सत्यम, शिवम और सुन्दरम की कल्पना एक साथ मिलती है। सौन्दर्य एक तरह से दुनिया और हमारे जीवन के मध्य समन्वय स्थापित करता है। ये समन्वय विभिन्न मायामोह के बन्धनों से मुक्त बनाता है। सूक्ष्म दृष्टि का सृजन करता है। तब हम सतही आवरण के भीतर गहराई में छुपे सौन्दर्य के मोती पाते हैं। जीवन में भी और चित्र में भी। क्योंकि कला और जीवन दोनों परिवर्तनशील, अनुसन्धानपरक और सतत चलने वाली प्रक्रिया है।

भारतीय संगीत कला में सौन्दर्यानुभूति

रितु सिंह

शोध छात्र

वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सौन्दर्य का तात्पर्य है-इन्द्रिय संवेदन। ऋषियों ने इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किए गए आनन्द की अनुभूति को सौन्दर्य की संज्ञा दी है। भारतीय शास्त्रों में सौन्दर्य शब्द का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है, तथापि सौन्दर्य की अवधारणा पर निश्चित रूप से विचार किया गया है। इस विषय पर अमरकोष का श्लोक द्रष्टव्य है-

"सुन्दर रूचिर वारू सुष्मय साधु सोभनम्
कान्त मनोरम सच्चम मनोजम मन्जु मन्जुलम्
अभियष्टे भिरसिलम हृदयम वल्लभम् प्रियम्।"[1]

मानव भावात्मक प्राणी है। वह भावनाओं और विचारों का पुंज है। संसार में वह अपनी इसी भावात्मक शक्ति के आधार पर अन्य प्राणियों के साथ रागात्मक, सम्बन्ध स्थापित करता है। अनेकों प्रकार की भावनाएं नित्य उसके हृदय में समाहित रहती हैं। वह अपने हृदय में उद्वेलित सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि नाना प्रकार की भावनाओं को व्यक्त करके संतोष प्राप्त करता है। मानव के हृदय में जो भाव और विचार अभिव्यक्त हैं, उन्हें वह साधनों द्वारा मूर्तरूप देता है। इन साधनों में लकड़ी, पत्थर, शब्द, स्वर आदि उल्लेखनीय है। जब मानव की भावनाओं एवं विचारों की सुन्दर अभिव्यक्ति होती हैं, तब वह कला कहलाती है। यह अनुभूति, किसी के अन्तः करण में स्थित होकर पद्यावरण धारण कर कविता के रूप में अवतरित होती है, तो यह अनुभूति या भाव कहीं चित्र, कहीं मूर्ति, कहीं वास्तु कला के रूप में प्रकट होती है। जब यही अनुभूति कंठ के माध्यम से नाद को गयात्मक स्वरूप देकर हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, तब हम उसे संगीत की संज्ञा देते हैं।[2]

कला व सौन्दर्य का परस्पर सम्बन्ध

सौन्दर्य का गुण आनन्द है और उसके आस्वादन की चरमोत्कर्ष परिणति ही रस है। सौन्दर्य का प्रकृति और प्रकृति से प्राप्त प्रेरणा के आधार पर मानव निर्मित कला से भी बहुत गहरा सम्बन्ध है। यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य में बिना कला का निर्माण सम्भव नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि कलागत सौन्दर्य ललित, कोमल, मधुर आदि तत्वों से युक्त ही हो, कलागत सौन्दर्य अपनी कुरूपता, घृणा, ग्लानि, दया तथा विभत्स में भी प्रकट होता है। अतः सौन्दर्य वस्तुतः कला का धर्म है जो सुखद या दुखद अनुभूति का कारण बनता है। प्राकृतिक दृश्य, प्राकृतिक अनुभव और मनुष्य के प्राकृतिक सौन्दर्य को कलागत सौन्दर्य का सोपान माना जा सकता है, प्रकृति से प्राप्त आनन्द को अपनी भावना व कल्पना के सहयोग से अभिव्यक्त करने को ही कला मानना असंगत नहीं कहा जा सकता।

कला सौन्दर्य एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं क्योंकि कला में सौन्दर्य, आनन्द और रस होता है। सामाजिक दृष्टि से वही सुन्दरता सौन्दर्य की परिधि में आ सकती है जो सामाजिकता, नैतिकता और मानव की चारित्रिक उत्थान से सम्बन्धित हो। कला में दिव्यता का समावेश होता है।

कला में सौन्दर्य के बाह्य स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कलाविदों ने अनेकता में एकता के लक्ष्य को महत्व दिया है। हर किसी कला में निरन्तरता, मधुरता, नैतिकता, अखण्डता स्पष्टता, नियमबद्धता, समानता, सुव्यवस्था, विविधता, एकरूपता जटिलता, प्रमाणबद्धता, समय तथा कोमलता सौन्दर्य तत्वों में एकता स्थापित हो जाने पर ही सौन्दर्य और रस की सत्ता को मान्यता दी है।[3]

संगीत एक ललित कला है, अर्थात् सुन्दर और मनोहर। **"संगीतकं न मोहयते"** अर्थात् संगीत से कौन मोहित नहीं होता। पाँचों कलाओं में से संगीत ही एक ऐसी कला है, जिसे किसी बाह्य साधनों या उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। संगीत का माध्यम नाद सर्वाधिक सुक्ष्म है, जिस कारण इससे प्राप्त आनन्द सबसे उच्चस्तरीय होता है। नाद वह आधारभूत तत्व है, जिससे संगीत का सम्पूर्ण ढाँचा बना है और मानव ने जिसे सृजन प्रेरणा से निर्मित किया है। नाद के प्रमुख तीन रूप हैं-

1. वैज्ञानिक तत्व
2. मनोवैज्ञानिक तत्व
3. सौन्दर्य मूलक तत्व

वैज्ञानिक तत्वों ने नियमों का निर्माण किया जिसे सत् कहा जा सकता है, मनोवैज्ञानिक तत्वों का सम्बन्ध मानव प्रतिक्रिया से है जिसे शिव, मंगल या चित्त कहा जा सकता है और सौन्दर्यमूलक तत्व का सम्बन्ध आनन्द से है।

भारतीय सौन्दर्य चिन्तन में इन्हीं तत्वों को सत्यम्, शिवम व सुन्दरम् से जोड़ा गया है। नाद का अस्तित्व ही इसके लिए प्रमुख विशेषता रखता है। अतः संगीत व सौन्दर्य अविभाज्य है। संगीत का सौन्दर्य दिव्य है। जहां संगीत है, वहाँ ईश्वर का वास है। श्रीकृष्ण ने कहा है-

"वेदानांसामवेदोऽस्मि"

अर्थात् "वेदों में सामवेद मैं ही हूँ।

संगीत की परम्परा वेदों से ही प्रारम्भ हो जाती है, शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर" में संगीत के सन्दर्भ में सौन्दर्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख तत्वों के विषय में सामान्य संकेत सूत्र मिलते हैं। संगीत कला का लक्षण करते हुए शारंगदेव ने लिखा है, **"गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते।"** संगीत का आधार है नाद और नाद में कला सौन्दर्य की सृष्टि का रहस्य है। विभिन्न स्वरों और श्रुतियों में अनुक्रम, तारतम्य तथा समन्वय स्थापित कर संगीतकार रागों की सृष्टि करता है। राग ही वास्तव में उसकी कलाकृति है। संगीत का उद्देश्य धार्मिक होने के साथ-साथ ऐहिक भी है। संगीत सौन्दर्य उस रस में निहित है, जो रजोगुण, तमोगण को उभारकर चेतना विशेष में परिवर्तित कर देता है और उन क्षणों में मनुष्य काम, क्रोध, शोक, लोभ तथा चिंता से मुक्त होकर ब्रह्मानंद सहोदर संगीत आनन्द में अवगाहन करने लगता है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार "नाद सौन्दर्य मनुष्य योनि के प्राणियों को प्रभावित करने के साथ-साथ जड़ प्रकृति को भी प्रभावित करता है। स्वर के उत्पन्न होते ही उससे सम्बन्धित भाव प्रकट होता है, स्वर की दीर्घता, सुरीलेपन, वादी-सम्वादी आदि सम्बन्धों के कारण नाद सौन्दर्य' की चरमावस्था आती रहती है। जब तक 'शब्द' की सत्ता रहती है, मौलिक आनन्द और जैसे ही 'स्वर' सत्ता आरम्भ होती है, तब आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति होती है। यह आध्यात्मिक आनन्द ही विशिष्ट आनन्द या सौन्दर्य है।

नाद सौन्दर्य जनित आनन्द है और उसकी अभिव्यक्ति के साधन अनन्त है। प्राचीन काल से लेकर आज तक संगीत के ग्रंथों में राग, स्वर और लय की जो परिभाषाएँ दी गयी हैं। उनसे स्पष्ट होता है कि इसका सम्बन्ध रंजकता, आकृष्टता, संवेदना, स्निग्धता से है और ये तत्व ही मिलकर सौन्दर्य तत्व को सार्थक करते हैं। संगीत मकरन्द में लिखा है-

"सर्वाश्रमाणां जातीन नृपाणां प्रतिवर्धनम्
धर्मार्थ काममोक्षाणामिद्धमेव हि साधनम्।"

अर्थात् संगीत सभी आश्रयों, जातियों और राजाओं के मध्य प्रीति वर्धन करने वाला है।

संगीत का सौन्दर्य राग, ताल, लय और गीत पर निर्भर तो होता ही है, काकु भेद भी उसका महत्वपूर्ण अंग है। सौन्दर्य बोध की दृष्टि से किसी श्रोता का संगीत मर्मज्ञ होना आवश्यक नहीं। संगीत समझने की नहीं अपितु अनुभव करने की वस्तु है। कलाजन्य रस की प्राप्ति के लिए व्यक्ति का सहृदय होना परम आवश्यक है, तभी वह कला और उससे

उत्पन्न रस पर विचार करने का अथवा उसके आस्वादन का अधिकारी माना जायेगा।[4]

संगीत कला दृश्य-अदृश्य सूक्ष्मताओं का निबन्धन ध्वनि या लय के सहारे करती है। संगीत कला मुख्यतः स्वर-योजना और भावाभिव्यक्ति है। कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने काव्य के साथ संगीत का बहुत ही घनिष्ट संबंध माना है, इनकी दृष्टि में संगीत, ललित कला का विशुद्धतम सर्वोच्च रूप है, क्योंकि संगीत में सौन्दर्य की सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है, इसलिए सच्चा कवि संगीत का आश्रय लेकर ही सृष्टि में व्याप्त सौन्दर्य का शब्दों के माध्यम से प्रेषण करता है।

"Music is the purest form of arts and therefore the most direct expression of Beauty. Therefore the true poets seek to express the universe in terms of music."

Rabindra Nath Tagore, Sadhana

भाव प्रदर्शन में सभी ललित कलाओं की अपेक्षा संगीत कला का क्षेत्र बहुत विस्तृत एवं विशाल है। संगीत का माध्यम है ध्वनि। ध्वनि पर ही सम्पूर्ण संसार की रचना हुई है। किसी कविता के अर्थ को समझने के लिए उस भाषा का ज्ञान होना आवश्यक है। किन्तु संगीत की भाषा प्रत्येक मानव समझ सकता है। प्रत्येक राष्ट्र की संस्कृति में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। संगीत द्वारा उन सभी भावों को प्रदर्शित किया जा सकता है, जो अन्य कलाओं के माध्यम से प्रदर्शित नहीं कर सकतें। संगीत कला मुख्यतः सौन्दर्यानुभूति ही करती है।[5]

कलाओं में संगीत ही एक ऐसी कला है, जिसका प्रभाव इतना व्यापक है। भाषा की अपेक्षा मधुर नाद के प्रभाव का क्षेत्र अधिक व्यापक है। नाद के इस प्रभाव के कारण ही भरतमुनि ने गीत को नाट्य की शय्या कहा है। संगीत के द्वारा असहृदय व्यक्तियों के हृदय पर पड़ी हुई राग-द्वेष की ग्रन्थियाँ भी घुल जाती हैं, उनके हृदय में सहृदयता होकर रसास्वादन होता है। नाद सौन्दर्य जनित आनन्द का अनुभव सब को होता है। संगीतात्मक सौन्दर्यशास्त्र का प्रधान और मौलिक कार्य है संगीत में सौन्दर्य को प्रतिष्ठापित करना। सभी कलाएँ हमारी भावनाओं को प्रभावित करने की शक्ति रखती हैं, किन्तु संगीत जिस रूप में, अपना प्रभाव प्रदर्शित करता है वह निःसन्देह विलक्षण है। संगीत अन्य किसी कलात्मक रचना की तुलना में हमारी संवेगात्मक शक्ति में अधिक तीव्रता और शीघ्रता से प्रभाव उत्पन्न करता है। इसका आनन्द अनिर्वचनीय है। डॉ0 प्रदीप कुमार दीक्षित जी ने अपनी पुस्तक स "रस" संगीत में कहा है कि-"गूँगे का सा ख्वाब है-बयां हो नहीं सकता।"

अर्थात् संगीत कला की रसानुभूति अलौकिक विलक्षण एवं विचक्षण होता है। जिसे महसूस तो किया जा सकता है किन्तु उसे शब्दों में बताया नहीं जा सकता है।[6]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संगीतायन-सीमा जौहरी, पृष्ठ संख्या 69
2. संगीतायन-सीमा जौहरी, पृष्ठ संख्या 84
3. संगीतायन-सीमा जौहरी, पृष्ठ संख्या 70
4. सौन्दर्य रस एवं संगीत-प्रो0 स्वतन्त्र शर्मा, पृष्ठ संख्या 57
5. सौन्दर्य रस एवं संगीत-प्रो0 स्वतन्त्र शर्मा, पृष्ठ संख्या 142
6. स "रस" संगीत-प्रदीप कुमार दीक्षित, पृ0 119

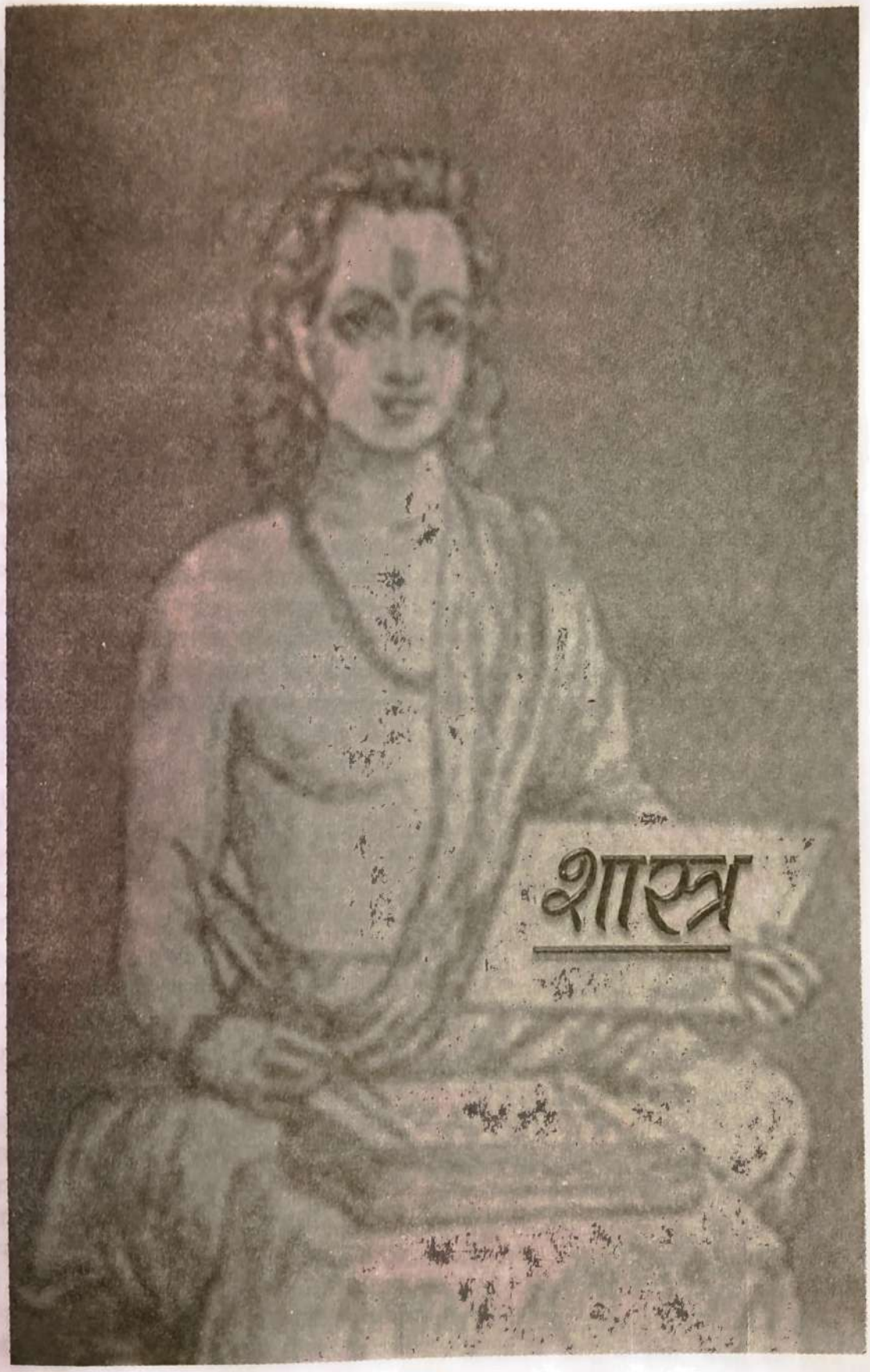
शास्त्र

नाट्य-शास्त्र एवं नाट्यशास्त्रीय संगीत-सिद्धान्तों की प्रासंगिकता

डॉ0 राजेन्द्रकृष्ण अग्रवाल

संगीत शिक्षक, संगीत सेवी, मथुरा

नाट्यशास्त्र भारतीय कला और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाला सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसकी विषय-वस्तु इतनी व्यापक है कि उसमें अध्यात्म, दर्शन, योग, ज्योतिष, गायन, बादन, नर्तन, अभिनय, चित्रकला, भाषा-शास्त्र, ध्वनि-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, छन्द-छात्र, व्याकरण-शास्त्र, कारूक-शिल्प, यान्त्रिकी, सौन्दर्य-शास्त्र, मल्लविद्या, धनुर्विद्या, मनोविज्ञान, इतिहास, भूगोल सहित अगणित विद्याओं और शिल्पों का समन्वय है। कला के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों की विराट् चेतना इसमें समाई हुई है। यही कारण है कि इसे समझने के लिए केवल संस्कृतज्ञ होना ही पर्याप्त नहीं है। 37 अध्यायों और लगभग 6000 श्लोकों में निबद्ध इस ग्रंथ को समझने में सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि इसमें त्रिविध संगीत, अभिनय, रंगकर्म तथा अनेकानेक शिल्पों एवं विधाओं से संबंधित इतने अधिक पाश्भिाषिक शब्द हैं कि उनके अर्थ भाषाई ज्ञान से ही नहीं समझे जा सकते। अनेकानेक शब्दों के अर्थ कोशगत अर्थों से पूर्णतः भिन्न एवं प्रसंगानुकूल हैं यदि अंग्रेजी अनुवाद से समझने की बात की जाय तो उससे तो भरत के मूलभाव को ही नहीं समझा जा सकता।

नाट्य-शास्त्र को समझने के लिए 'भरत' एवं 'नाट्य' शब्दों पर भी चिंतन आवश्यक है। शोधों द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है कि भरत किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है और न एक ही काल में नाट्य-शास्त्र की रचना हुई है। यह तो एक विकसनशील ग्रन्थ है जिसकी रचना अनेक कालों में अनेक भरतों के द्वारा हुई। वास्तव में उस समय भरत उसे कहा जाता था जो चतुर्विध वाद्य-यन्त्रों का ज्ञाता हो; सभी प्रकार की भूमिकाएँ अभिनीत करने में दक्ष हो एवं नाट्य की समस्त विधियों को जानता हो।

जहाँ तक नाट्य की बात है, नाट्य-शास्त्र में प्रयुक्त 'नाट्य' या 'नाटक' का अर्थ वर्तमान अर्थ से भिन्न है। 'नाट्य' शब्द के कारण ही बहुधा लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि नाट्य-शास्त्र नाटक का शास्त्र है। नाट्य तो अभिनय का एक अंग मात्र है। रसाभिव्यक्ति हेतु मुखज अभिनय द्वारा की जाने वाली अभिव्यक्ति 'नाट्य' कहलाती है। इस दृष्टि से 'नाट्य' का अर्थ तो अत्यन्त ही संकुचित भी हो जाता है। भरत ने नाट्य को 'प्रयोग' कहा है, अतः इसका नाम 'प्रयोगशास्त्र' अथवा पूर्व प्रचलित नाम 'भरत शास्त्र' होता तो यह भ्रान्ति नहीं होती। भरत ने गायन, वादन एवं विविध नाट्यांगों के सुन्दर समन्वय को 'प्रयोग' कहा है।.....इसके कर्ता को 'नर्तक', 'प्रयोगकर्ता या 'प्रयोगज्ञ' कहा है। यही नहीं, भरत ने प्रयोग को ग्यारह तत्वों का संग्रह बतलाते हुए कहा है—

रसा भावात्थभिनयाः धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्य गानं रंगश्च संग्रह :॥

जहाँ तक नाट्य-शास्त्र के संगीत सम्बन्धी विवेचन की बात है, इस ग्रन्थ के 28वें से लेकर 34वें तक के सातों अध्यायों में इस विषय पर सामग्री संग्रहीत है। चौथे व नवें अध्यायों में नृत्य सम्बन्धी सामग्री है। कारण ये भी संगीत की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। 17वें अध्याय में काकु-भेद समझाते हुए रसों में 7 स्वरों का प्रयोग समझाने के कारण यह अध्याय भी महत्वपूर्ण है। 6वें एवं 7वें अध्याय भी रस एवं भाव से सम्बन्धित होने क कारण महत्वपूर्ण हैं। रसाध्याय के पूर्व के पाँचों एवं ग्रन्थ के अंतिम दोनों अध्याय प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। सच तो यह है कि संगीत सम्बन्धी अब तक प्राप्त सभी ग्रन्थों में प्रथम, यथार्थ एवं समर्थ

विवेचन हमें नाट्य-शास्त्र में ही मिलता है।

भारत ने नाट्य में संगीत की महत्ता को स्वीकारते हुए कहा है—

गीते प्रयत्नः प्रथमस्तु कार्यः,
शय्यां हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम् ।
गीतेऽपि वाद्येऽपि च समप्रयुक्ते,
नाट्य प्रयोगो न विपत्तिमेति॥

अर्थात् नाट्य प्रयोक्ता को पहले गीत का अभ्यास करना चाहिए,....प्रयोग हो तो फिर नाट्य-प्रयोग में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती।

भरत का यह कथन संगीत की महत्ता के प्रतिपादन हेतु पर्याप्त है। अब हम भारत द्वारा वर्णित संगीत के शास्त्रीय सिद्धान्तों पर चर्चा करेंगे—

स्वर एवं श्रुतिः

भरत ने नाट्य-शास्त्र में सात स्वर षड़ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद-बतलाये हैं, जिनका संगीत में प्रयोग आज तक होता चला आ रहा है। आठवें स्वर की किसी ने भी चर्चा नहीं की है। भरत ने श्रुतिभेद से स्वर के विभेद किये, जिन्हें वादी, संवादी, अनुवादी एवं विवादी कहा, जिनकी उपयोगिता आजभी राग-गायन में ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। भरत द्वारा बतलाई गई 22 श्रुतियाँ आज के संगीत में भी मान्य हैं। हाँ, श्रुति-स्वर स्थापन में इतना अन्तर अवश्य आया है कि भरत ने षड़ज की स्थापना चौथी श्रुति पर की जबकि आज के शुद्ध सप्तक में षड़ज की स्थापना प्रथम श्रुति पर की गई है अर्थात् उस समय का शुद्ध सप्तक आधुनिक काफी पाट जैसा था जबकि आज का शुद्ध सप्तक बिलापल थाट कहलाता है।

जाति-गानः

जिसे आज हम राग-गायन कहते हैं, वह भरत के समय में प्रचलित जाति-गान का ही दूसरा कूप है। उस समय राग शब्द प्रचलित नहीं था। यही नहीं, उस समय तो संगीत शब्द का भी प्रचलन नहीं था। यही कारण है कि भरत ने संगीत के सन्दर्भ में 'गान्धर्व विद्या' शब्द का प्रयोग किया है। नारद ने प्रथम बार 20 पुरुष राग, 24 स्त्री राग एवं 13 नपुंसक रागों का वर्णन किया। संभवतया इनके ग्रंथ 'संगीत मकरन्द' के आधार पर बाद में राग-रागिनी वर्गीकरण, रागांग वर्गीकरण, मेल-राग वर्गीकरण और थाट-राग वर्गीकरण प्रचार में आये। भरत के समय में भी स्वर एवं वर्णयुक्त सुन्दर रचना को 'जाति' कहते थे। इस प्रकार समय-समय पर सुधार तो होते ही रहते हैं किन्तु भरत का जाति-गायन आज भी राग-गायन के रूप में विद्यमान तो है ही।

ग्रामः

भरत ने नाट्य-शास्त्र में दो ग्रामों का वर्णन किया है, जिन्हें उसने षड़ज ग्राम एवं मध्यम ग्राम कहा है। इन दोनों ग्रामों का प्रयोग भरत ने श्रुति-निदर्शन द्वारा बतलाया है। गंधार ग्राम का वर्णन भरत ने नहीं किया क्योंकि इसका प्रयोग मनुष्यों के लिए नहीं बतलाया गया है। इसकी स्थिति भी स्वर्ग-लोक में बतलाई गई है। कुछ विद्वानों के मतानुसार गंधार ग्राम वास्तव में निषाद ग्राम था, जो निषाद से प्रारम्भ होता था और बाद में जिसका लोप हो गया। इस प्रकार केवल दो ग्राम षड़ज एवं पंचम ही बचे। किसी भी ग्राम के स्वर। निश्चित श्रुत्यान्तरों पर स्थापित रहते हैं। किसी एक स्वर के स्थान को बदलते ही ग्राम का स्वरूप बदल जाता है। यदि षड़ज ग्राम के पंचम को एक श्रुति कम कर दिया जाए तो धैवल अपने पिछले स्वर पंचम से तीन के स्थान पर चार श्रुति ऊँचा हो जायेगा। इस प्रकार यही ग्राम मध्यम ग्राम हो जाएगा। जब एक स्वर पंचम को एक श्रुति नीचा करके आने में ही लोगों को कठिनाई होने लगी तो मध्यम ग्राम का प्रचार भी शनैः शनैः समाप्त हो गया। यही कारण है कि गंधार ग्राम के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह स्वर्ग लोक को गया।

मूर्च्छना :

भरत के अनुसार क्रमशः सातों स्वरों का आरोहावरोह करने से मूर्च्छना की रचना होती है। इस प्रकार षड़ज एवं मध्यम दोनों ग्रामों के सातों-सातों स्वरों से कुल सात-सात मूर्च्छनाएँ बनती हैं। भरत ने दोनों ग्रामों के शुद्ध स्वरों, सान्तरा, सकाकली, एवं साधारणीकृता स्वरों से 28-28 मूर्च्छनाएँ बतलाई हैं।

भले ही आज मूर्च्छना-पद्धति का कोई महत्त्व नहीं रह गया है किन्तु आजकल भी विद्वान गायक रागों में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए मूर्च्छनाओं का उपयोग कर ही लेते हैं। उदाहरण के तौर पर यमन के निषाद को षड़ज मानकर गाने पर सभी स्वर स्वतः ही भैखी के हो जाएंगे। इसी प्रकार इसी राग के धैवत व पंचम स्वरों को षड़ज मानने पर क्रमशः काफी एवं बिलावल के स्वर प्राप्त हो जाएंगे। यमन के ही ऋषभ एवं गंधार से क्रमशः रवमाज एवं आसावरी के स्वर प्राप्त हो जायेंगे। आज भी मूर्च्छना के आधार पर योग्य गुरुओं द्वारा अपने शिष्यों को अनेक थाटों का ज्ञान सगमतापूर्वक प्रदान किया जा रहा है। इस प्रकार

भरत मुनि की ग्राम मूर्च्छना पद्धति आज भी प्रासंगिक एवं अत्यन्त उपयोगी है।

आतोद्य-विधानः (कुतप)

भरत मुनि ने समस्त प्रकार के वाद्य-यन्त्रों को चार श्रेणियों में विभक्त किया जिन्हें तत्, अवनद्ध, घन और सुषिर कहा। भरत ने तार निर्मित वाद्यों को तत्, चर्माच्छादित ताल-वाद्यों को अवनद्ध, धातुनिर्मित लय-ताल वाद्यों को घन एवं फूँक भरकर बजाये जाने वाले वाद्यों को सुषिर कहा। आज भी भरत का यह वाद्य-वर्गीकरण ज्यों-की-त्यों चला आ रहा है। वाद्यों के नामों में तो स्थान-भेद से परिवर्तन देखने को मिल सकता है किन्तु संसार के सभी वाद्य इन्हीं चार श्रेणियों में आज भी रखे जाते हैं। जहाँ तक वर्तमान में प्रचलित इलैक्ट्रॉनिक वाद्य-यन्त्रों की बात है, तो भले ही वे वैज्ञानिक खोजों के परिणामस्वरूप बिना तार, खाल था धातु की मदद से बनाये जा रहे हैं किन्तु उनमें ध्वनियाँ इन्हीं चार प्रकार के वाद्यों की उपयोग में लाई जा रही है।

रस एवं भावः

संगीत का रस से संबंध कोई नई बात नहीं है। यह संबंध अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। चूँकि भरत ने नाट्य में संगीत को उसकी शय्या कहा है, यही कारण है कि षष्ठ अध्याय में रस संबंधी विस्तृत विवेचन के बाद भी 28वें और 29वें अध्यायों में संगीत संबंधी विषयों के साथ-साथ रसों का विवेचन भी किया गया है। विभिन्न रसों के अनुकूल वाद्य-यन्त्रों के प्रयोग के संबंध में भी भरत ने निर्देश दिया है। रस के संबंध में स्वर-निर्देश देते हुए भरत ने कहा है—

स री वीरेऽद् भुते रौद्रे धा बीभत्से भयानके।
कार्यों ग नी तु करुण हास्य श्रंगारयोर्मपौ।।

अर्थात् सा, रे वीर, अद्भुत और रौद्र, ध बीभत्स और भयानक, ग, नि करुण तथा म, प हास्य और श्रृंगार रसों के पोषक स्वर हैं।

भरत ने स्वरों के अतिरिक्त लयों का संबंध भी रसों से बताया है जैसे उन्होंने वीर रस के लिए 'उल्लसन' और करुण रस के लिए 'जम्भालिका' नामक लय प्रकार बतलाये हैं। रूदन और उत्पात आदि पर ध्रुवा गीत नहीं गाये जाने का उल्लेख मिलता है। भरत ने अंश स्वरों को प्रधानतया रस का आधार एवं अभिव्यंजक बताया है। संगीत का रस से संबंध शाङ्गदेव के बाद कुछ समय के लिए अवश्य विच्छिन्न हुआ किन्तु राजा मानसिंह तोमर के समय ध्रुवपद के प्रचलन में आने से रागों का रस एवं भावों के साथ संबंध पुनः स्थापित हो गया। रागों के विविध रूपों एवं ध्यान की कल्पना भी इन्हीं संबंधों का परिणाम थी। विभिन्न राग-चित्र भी निर्मित हुए। विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों से सम्बद्ध कवि-संगीतज्ञों की रचनाएँ एवं गायकी रसपूर्ण एवं भाव-प्रधान थी। हाँ, यह बात अलग है कि उस समय की रागों के रस आज की रागों से भिन्न हैं जिसका कारण रागों के स्वरों एवं स्वरों के रूपों की भिन्नता है। किन्तु रस-परिपाक की धारणा उस समय भी प्रधान थी और आज भी उसकी प्रधानता सर्वमान्य है। मेघाच्छादन अथवा वर्षा का होना, हरिणादि पशुओं का मुग्ध होकर आना, पत्थर पिघल जाना जैसे अनेकानेक उदाहरण संगीत की भाव-प्रवणता की ओर ही इंगित करते हैं। भरत तो नाट्य-शास्त्र में भावों की प्रस्तुति में संगीत को इतना अधिक महत्व देते हैं कि वे अनुकरण के लिए 'भावानुकीर्तनम्' शब्द का प्रयोग करते हैं। वर्तमान में भी संगीत का भाव एवं रसों के साथ अटूट संबंध माना जाता है। कौन-कौन से राग किन-किन भाव एवं रसों के पोषक हैं, इस विषय पर भले ही समस्त विद्वान् एकमत न हों किन्तु संगीत द्वारा भाव एवं रसों की सृष्टि होती है इस तथ्य को तो सभी निर्विवाद स्वीकारते ही हैं।

नाट्य-शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि नाट्य-शास्त्र में वर्णित षड़जादि सप्त हों या वादी-संवादी आदि स्वरों के विशेष रूप, ताल के त्र्यस्र-चतरस्र आदि रूप हों अथवा लय के विलम्बित, मश्य और द्रुत प्रकार, वाद्यों की किस्में हों अथवा वाद्य मिलाने की विधि, गायक-वादकों के गुण दोष हों अथवा उनके बैठने की विधि या फिर नृत्य के छः अंगों व छः उपांगों की संचालन विधियाँ, सभी को आज भी प्रयोग में लाया जा रहा है। देश की सभी शास्त्रीय नृत्य-शैलियों में आज भी पाद-संचालन, कटि-संचालन, हस्तक तथा कलात्मक मुद्राओं का प्रयोग भरत के नाट्य-शास्त्र के आधार पर ही किया जा रहा है। यही नहीं, विभिन्न प्रकार के भाव-नृत्यों और लोक-नृत्यों का नर्तन-विधान भी भरत के सिद्धान्तों पर ही आधारित है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भरत के संगीत-सिद्धान्तों को अस्पष्ट एवं श्रुति-विभाग सिद्धान्त को आडम्बर बताकर मखौल उड़ाया है। ऐसे विद्वान् निश्चय ही संस्कृत एवं ग्रीक भाषा से अनभिज्ञ रहे होंगे। सच तो यह है कि नाट्य-शास्त्र में वर्णित संगीत के अधिकांश शास्त्रीय सिद्धान्त सर्वकालिक है और हजारों सालों से उन्होंने विश्व-संगीत को अपने विस्तृत अंक में समेट रखा है।

आचार्य श्रीनिवासकृत रागतत्वविबोध

(अनुसरण, धारणाएं एवं सत्यापन)

डॉ. शैलेन्द्र गोस्वामी

एसोसियेट प्रो. दिल्ली विश्वविद्यालय

रागतत्वविबोध ग्रंथ, अहोबलकृत संगीत पारिजात के अनुकरण पर रचा गया, जिस पर संगीत समाज में अनेक धारणाएँ विद्यमान हैं। ग्रंथ पर सत्यापन हेतु कुछ तथ्य इस लेख में प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

रागतत्वविबोध आचार्य श्रीनिवास की संक्षिप्त, रोचक एवं अनुपम कृति है, जिसकी मूल पाण्डुलिपि बीकानेर पुस्तकालय, बीकानेर, राजस्थान में उपलब्ध है। इस पाण्डुलिपि के आधार पर सन् 1956 में ORIENTAL INSTITUTE, BARODA द्वारा इस ग्रंथ का प्रकाशन किया गया। ग्रंथ के अन्त में "इति श्रीनिवास-रागतत्वविबोधः समाप्तिमगमत्"[1] श्लोक के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर यह कहना सुगम हो कि इसके लेखन की तिथि क्या है, और यह किस आश्रयदाता के समय में रचा गया। प्रकाशित पुस्तक के आमुख में संपादक श्री विभुकुमार देसाई के अनुसार संगीत पारिजात का लेखन समय सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम अर्धभाग माना गया है और रागतत्वविबोध को इसी शताब्दी के द्वितीय अर्धभाग में लिखा गया। "पं. भातखंडे इसकी रचना 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अनुमानित कहते हैं।"[2] मूलतः इस ग्रंथ को कुल आठ अध्यायों में इस प्रकार परिणित किया गया है प्रस्ताविकम्, श्रुतिजाति विवेक प्रकरणम्, स्वर प्रकरणम् ग्राम मूर्छना प्रकरणम्, गमक प्रकरणम्, राग प्रकरणम्, श्रुति निर्णया।

संगीत पारिजात एवं रागतत्वविबोध पर यदि समान रूप से दृष्टि डाली जाय तो श्रीनिवास ने श्रुति, ध्वनि निर्मिति स्थान, वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी, स्वर, श्रुति-स्वर जाति सम्बन्ध, ग्राम, मूर्छना, गमक, मेल परिभाषा एवं राग प्रकरण को पारिजात से उद्धृत है। "उन्होंने संगीत पारिजात के प्रथम काण्ड में से निबद्ध-अनिबद्ध, प्रबन्ध एवं अनेक विभिन्न प्रकार एवं लक्षण गीत गुण-दोष, अष्टपदी, गीत प्रकरण, वाग्गेयकार लक्षण, गायन गुण-दोष आदि विषयों को ग्रंथ में स्थान नहीं दिया। संगीत परिजात का द्वितीय काण्ड वाद्य एवं ताल पक्ष को समर्पित है, जिसमें वीणा वादक के लक्षण, वादन प्रकार, विभिन्न प्रकार के वाद्यों का विवरण, ताल दस प्राण, विभिन्न तालों का वर्णन आदि विषय दिए गए।"[3] परन्तु इस द्वितीय अध्याय को श्रीनिवास ने कोई महत्व ना देते हुए छोड़ दिया, जिससे कि यह स्पष्ट है कि रागतत्वविबोध में पारिजात का अनुकरण शब्दशः ना हो कर सिर्पफ कुछ विशेष विषयों तक ही सीमित रहा।

श्रीनिवास अपने ग्रंथ का प्रारम्भ अराध्यदेव गणेश, लक्ष्मीपति अर्थात विष्णु एवं भरतादि संगीताचार्यों की चरणवंदना से करते हैं। गीत, वाद्य एवं नृत्य की त्रयी में से वे वाद्य एवं नृत्य को "अंग" अर्थात् बाह्य पक्ष मानते हैं तथा गायन को वे "अंगी" (आत्मा) अर्थात् अन्त पक्ष मानते हैं। तत्पश्चात् वे आचार्य सायण द्वारा विरचित

तैतिरीयब्राह्मणम् के अनुसार वेदमन्त्रों में निहित भावना को ही श्रुति मानते हैं, साथ ही याज्ञवल्क्यस्मृतिः एवं श्रीमदभागवत् गीता के श्लोकों के भी उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। संगीत सामग्री में प्रथमतः ध्वनि उत्पति हेतु नाभि, हृदय, कंठ एवं मूर्द्ध स्थान (मस्तक) को प्रमुख मानते हैं। (संगीत पारिजात में ध्वनि की उत्पति के लिए एक अन्य स्थान मुख भी कहा गया है) सुषुम्ना, इडा एवं पिंगला नाडियों से मिली 22 अन्य नाडियों मिलती हैं जो बाइस नाद-श्रुति के आघातों से विनिर्मित होती हैं। दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु एवं मध्या नामक पाँच जातियों में 22 श्रुतियों का समन्वित रूप पुस्तक में दिया गया है। बाइस श्रुतियों के आधार पर 7 स्वरों के स्थान वे पूर्व आचार्यों की भाति चतुश्चतुश्चतुश चैव...के आधार पर प्रस्तुत करते हैं। अपने ग्रंथ वे तीनों ग्रामों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं।

"तर्ह्येतल्लक्षणं प्रोक्तफमर्थाङ्गीकारमात्रतः
षडज्ग्रामान्यथासिद्धे फलाभावद्यतस्तयो।।
हनूमान् स्वयमप्याह न तौ ग्रामौ मताविति।
श्रुतयो द्वादशैवात्र स्वरस्थानतयो दिताः"।।[4]

अर्थात् वे लक्षण जिनका अंगीकार पूर्व विद्वज्जनों ने किया है वे हमें मान्य नहीं हैं षडज् ग्राम से अन्य किसी भी प्रकार के फल की प्राप्ति में अभाव है। हनूमान जी का स्वयं कथन है कि ये दोनों ग्राम (मध्यम एवं गांधार) नहीं माने जाते इसलिए यहाँ बारह श्रुतियाँ ही स्वर स्थान के रूप में बताई गयी हैं।

पं. अहोबल के अनुसरण पर श्रीनिवास 7 शुद्ध एवं 5 विकृत स्वरों की स्थापना के लिए वीणा दण की तन्त्री का आश्रय लेते हैं, और पं. अहोबल ही एकमात्र ऐसे ग्रंथकार हैं जिन्होंने सर्वप्रथम वीणा तन्त्री के आधार पर अपने बारह स्वरों (7 शुद्ध, 5 विकृत) की स्थापना की। इसमें विशेष तथ्य यह कि अहोबल कुल 29 स्वरों की एवं श्रीनिवास कुल 17 स्वरों की कल्पना करते हैं परन्तु इन दोनों शास्त्रकारों ने राग प्रयोग के लिए कुल बारह स्वरों का ही प्रयोग किया। स्वर स्थान स्थैर्य के लिए श्रीनिवास का कथन इस प्रकार है।

"स्वरस्य हेतुभूताया वीणायाश्चाक्षुषत्वतः
तत्र स्वरविबोधार्यं स्थानलक्षणमुच्यते"[5]

श्लोक के मर्म के अनुसार इस पद्धति में स्वर, श्रवण के साथ-साथ नेत्रों द्वारा भी दर्शनीय होगा। श्री निवास ने इस व्यवस्था में पं. अहोबल को समादृत किया है परन्तु जिस स्थल को उन्होंने कुछ संदिग्ध पाया वहाँ उन्होंने अपने विचार के अनुसार उस कथन को स्पष्ट करने का प्रयास किया।

जैसा कि सर्वविदित है कि वीणा या सितार के उपरी भाग पर तारों को आधार देने के लिए एक पट्टी स्थापित की जाती है जिसे मेरू कहा जाता है। तबली के उपरी भाग से नीचे की ओर तारों को व्यवस्थित करने के लिए एक घुडच होता है। मेरू और घुडच के बीच स्थापित खुले तार पर ही स्वर प्राप्ति की इस प्रणाली को दर्शाया जाता है और इस खुले पूरे तार पर सा स्वर ही विद्यमान रहता है। इस तार की लम्बाई, चौड़ाई एवं विशेष धातु से निर्मित तार आदि संकेतों के विषय में ये ग्रंथकार मौन ही रहें हैं। "36" लम्बे तार की कल्पना प्रमुख रूप से पं. भातखंडे की व्यवस्था जान पड़ती है जिन्होंने तन्त्री की लम्बाई के आधार पर प्रस्तुत 'प्रक्रिया को गणितिय, वैज्ञानिक एवं सरलतर प्रणाली के रूप में प्रस्तुत किया। भातखंडे की अंकिय व्यवस्था के अनुरूप 7 शुद्ध एवं 5 विकृत स्वरों की प्रक्रिया को निम्न चित्र से समझा जाना सरल होगा।"[6]

इस चित्र में शुद्ध एवं विकृत स्वरों की स्थापना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, एवं कुल 17 स्वरों के नाम भी दर्शनीय हैं इसका प्रमुख कारण यह है कि श्रीनिवास ने अपने पाँच स्वरों को अन्य नामों से भी दर्शाते हैं जैसे शुद्ध रे पूर्व ग, शुद्ध ग तीव्रतर रि, शुद्ध म अतितीव्रतम ग, शुद्ध ध पूर्व नि, शुद्ध नि, शुद्ध नि तीव्रतर ध। स्वर स्थापना के पश्चात् श्रीनिवास कहते हैं

"स्वरज्ञानविहीनेभ्यो मागोक्रयं दर्शितो मया।
स्वरसंवादिताज्ञानं स्वरस्थापनकारणम्।।"[7]

अर्थात् स्वर और ज्ञान से विहीन मनुष्यों के लिए मैंने ये मार्ग दर्शाया है परन्तु स्वर संवाद का ज्ञान भी स्थापना के लिए आवश्यक है इसलिए शुद्ध एवं विकृत स्वरों में संवाद हेतु वे आठ, ग्यारह, बारह

एवं तेरह श्रुतियों के अंतराल की संवाद पद्धतियाँ प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि कानों के ज्ञान-विवेक के आधार पर ही स्वरों का सवांदित्व मान लेना चाहिए "इस विचार से वे 24 श्रुतियों की एक नवीन व्यवस्था श्रुतिविनिर्णय के नाम से प्रस्तुत करते हैं "[8]

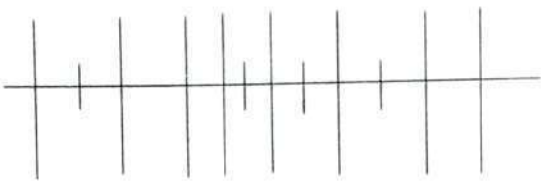

अतः कर्णज्ञान द्वारा स्वरों में संवाद की दृष्टि से श्रीनिवास रे, नि की दो-दो श्रुति तथा सा रे म प ध की चार-चार श्रुतियाँ दर्शाते हैं।

वीणा दण्ड की तन्त्री पर शुद्ध एवं विकृत स्वरों की स्थापना के अनुरूप श्रीनिवास अपने मेल-प्रकरण की प्रक्रिया को दर्शाते हैं। "मेल स्वरसमूहः स्याद्रागव्यञ्जन...समुदायः प्रकीर्तीत" श्लोक के आधर पर ही वे मेल की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं, अर्थात् ऐसा स्वर समूह जिसमें राग उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान हो। मेल प्रकारों की व्यवस्था में वे उसके तीन रूपों (सम्पूर्ण, षाड़व, औड़व) को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

(i) **शुद्ध मेल प्रकार** इसमें शुद्ध मेल का एक प्रकार, एक स्वर युक्त मेल भेदों के पाँच प्रकार, दो स्वर युक्त मेल भेदों के नौ प्रकार, तीन स्वर युक्त मेल भेदों के छह प्रकार, चार एवं पाँच स्वरों से युक्त मेल भेदों के कुल पाँच-पाँच प्रकार प्रस्तुत करते हैं। ये मेल सम्पूर्ण में 31, षाडव में 111 तथा औडव में 167 प्राप्त होते हैं जिनकी कुल संख्या 309 हैं।

(ii) **व्यावधान विकृत मेल** इसमें सम्पूर्ण जाति के दो स्वर युक्त मेल भेदों के छह प्रकार, तीन एवं चार स्वर युक्त मेल भेदों के तीन-तीन प्रकार प्राप्त होते हैं, जिनकी कुल संख्या पन्द्रह है। इन पन्द्रह मेलों के आधार पर षाडव मेलों के 48 और औडव मेलों के 57 प्रकार प्राप्त होते हैं जिनकी कुल संख्या 120 निर्धारित की गयी है। इस प्रकार श्रीनिवास मेलों (शु) एवं व्यावधान विकृत मेलों की कुल संख्या 429 (309 120) प्रस्तुत करते हैं। मेल प्रकरण का यह कार्य श्रीनिवास का एक मौलिक कार्य प्रतीत होता है जिसे निम्न चित्र से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

अन्य ग्रंथकारों की भाँति ही श्रीनिवास मेल पद्धति के आधार पर, रागों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं, मेल प्रकरण मे वे 429 मेलों के अन्तर्गत सम्पूर्ण, षाडव एवं औडव-प्रकार रागों की उत्पति बताते हैं। ग्रंथ में दी गयी क्रम संख्या के अनुसार श्रीनिवास कुल 101 रागों का परिचय प्रस्तुत करते हैं, परन्तु राग छायातोड़ी, दक्षिण-गुर्जरी, मालव-गौड़ तथा चक्रधर को क्रम संख्या के अन्तर्गत नहीं रखते। इस प्रकार ग्रंथ में रागों की कुल संख्या 105 प्राप्त होती है (संगीत पारिजात में 122 रागों का परिचय देखने को मिलता है) जैसा कि स्पष्ट है कि श्रीनिवास कुल 429 मेल भेदों की संख्या प्रस्तुत करते हैं, परन्तु संकेत रूप में वे किसी भी मेल के नाम की चर्चा नहीं करते। समय वे कुल चौदह मेलों के नाम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। 105 रागों का परिचय देते समय वे कुल चौदह मेलों के नाम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं शुद्ध मेल, गौरी, मालव, वेलावली, सामन्तः, शंङ्कराभरण् आभीरी, कल्याण, नाट, भैरवी, श्री, मुखारी, वराटी एवं सारंग। मेलों के ये नाम कुल 62 रागों में ही प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त 43 ऐसे राग हैं जिनमें मेलों के नाम नहीं दिए गए।

विभिन्न रागों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मूर्छनाओं से राग प्राप्ति इस समय में विशेष थी, यहाँ तक कि मेल में बिना किसी परिवर्तन के, मूर्छनाओं के किंचित परिवर्तन से नवीन राग की संभावनाएँ परिलक्षित होती थीं। षडज् स्वरपूर्वा, रिषभ स्वरपूर्वा, गांधार स्वरपूर्वा, मध्यमादि स्वरोद्ग्रह एवं धैवतादिक मूर्छनाओं के आधार पर राग उत्पति के संकेत, रागों के परिचय में देखे जा सकते हैं।

9-Back Side K

रजनी, कुकुभा, अभिरूदगता, आभीरी, कलोपनता, सौवीरी, उत्तरमंद्रा, शुद्धमध्या, आदि मूर्छनाओं के नाम, राग परिचय में दिए गए हैं। विभिन्न गमकों के प्रयोग, उद्ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, राग, जाति, मींड आदि संकेत भी रागों की स्पष्टता के लिए प्रस्तुत किए गए हैं। संगीत पारिजात से गृहित लगभग सभी रागों को श्रीनिवास ने अपने ग्रंथ में स्थान दिया। संगीत पारिजात से लिए गए लगभग 20 रागों के नामकरण में परस्पर भेद प्राप्त होता है, उदाहरणस्वरूप, मालवी-मालव, कुकुभा-कुकुभ, शुद्ध वराली-शुद्ध वराटी, गुणक्रिया-गुणकरी, सावरी सौवीरी-आसावरी इत्यादि।

अतएव उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि निश्चित रूप से श्रीनिवास अपने ग्रंथ में पं. अहोबल का अनुसरण करते हैं परन्तु कितनी मात्रा में? अनुसरण करते समय अनेक स्थलों पर उन्होंने अहोबल से अपने मत को निर्भयता से भिन्न रूप से प्रस्तुत किया एवं अनेक नवीन तथ्यों को भी प्रस्तुत किया। आचार्य श्रीनिवास की इस लेखनी को मैं अपने शब्दों के रूप में संगीत जगत को सादर समर्पित करता हूँ।

संदर्भ

1. रागतत्वविबोध, श्रीनिवास, पृ. 62
2. संगीत पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन, पं. भातखंडे, पृ. 40
3. संगीत पारिजात (मूल संस्कृत ग्रंथ), पं. अहोबल
4. रागतत्वविबोध, श्रीनिवास, पृ. 61
5. उपरिवत् श्लोक संख्या 35-36 पृ. 4-5
6. श्रीमल्लक्षय संगीतमू, पं. भातखंडे-पृ. 90
7. रागतत्वविबोध, श्रीनिवास, श्लोक सं. 50, पृ. 6
8. उपरिवत्, पृ. 62

सोमेश्वरदेव के 'राग' : 'मानसोल्लास' के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

अध्यक्ष,

विश्वविद्यालय संगीत एंव नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार)

सोमेश्वरदेव ने राजविद्या के विश्वकोष के रूप में 'मानसोल्लास' की रचना की। कल्याण (हैदराबाद) नामक स्थान इनकी राजधानी थी और इनका राज्य-काल 1127-1134 ई0 था। विक्रमादित्य के पुत्र सोमेश्वरदेव रचित 'मानसोल्लास' यद्यपि पूर्णरूपेण संगीत-ग्रन्थ नहीं है, पुनरपि इसमें तत्कालीन समाज में प्रचलित संगीत विषयक तत्वों का निरूपण हुआ है। यह ग्रन्थ 'अभिलाषितार्थ चिन्तामणि' नाम से भी प्रसिद्ध है। ग्रन्थ में प्रत्येक विषय का प्रयोजन राजा को ही केन्द्र में रखकर किया गया है।

'मानसोल्लास' के 100 अध्यायों को 'विंशति' नामक पाँच वृहत प्रकरणों में समाहित किया गया है। प्रत्येक अध्याय में 20-20 उप-अध्याय हैं। चतुर्थ अध्याय 'विनोद विंशति' है जिसमें संगीत वर्ण्य-विषय है। इसके 16 वें, 17 वें एवं 18 वें उप-अध्यायों में क्रमशः गीत, वाद्य एवं नृत्य-निरूपण हुआ है। 'गीत विनोद' में 567 श्लोक है।

संगीत-विषय के प्रथम अध्याय 'गीत विनोद' का आरंभ राजा के गुणों से हुआ है। तत्पश्चात् राजा के लक्षण, स्थान, सभ्य के स्थान एवं लक्षण, उनकी भार्या, पुत्र-लक्षण का निरूपण हुआ है जिसमें राजा को संगीत-नृत्य निपुण होना आवश्यक कहा गया है। वाग्गेयकार के गुण-दोष, तीन प्रकार के गाायक, वादकों का सभा में स्थान, पुनः पाँच प्रकार के अन्य गायक आदि के वर्णन के बाद कुशल गायकों के मोक्ष-प्राप्ति एवं इसके साधन भी वर्णित है। सात प्रकार के गमक, पुनः गायक-गुण वर्णन के बाद गायक के सात महागुण भी ग्रन्थ में निहित है। उत्तम और मध्यम वादकों के लक्षण के बाद सभा में गायक, वादक एवं वाग्गेयकार के साथ उत्तम गायक वृन्द, गायिकाएँ एवं वांशिक तथा पाणविक के स्थान भी निर्दिष्ट हैं। गीतारम्भ की विधि भी कही गई है जिसमें श्रोता के अनुकूल गीतों का भी वर्णन है।

ग्रन्थ में, अपने राजा को प्रबन्ध सुनाने का आग्रह है। साथ ही, राजा को स्वयं संतुष्टि अथवा प्रेयसीजन तृष्टि के लिए गायन करना चाहिए, ऐसा निर्देश है। रागों के सन्दर्भ का आरम्भ औड़व-षाडव-सम्पूर्ण रागों में काकु-भेद, ग्रह-अंश-न्यास-वर्ज्य स्वर, राग-भाषा-विभाषा- क्रियांग आदि के वर्णन के बाद ग्रन्थकार ने लिखा है कि सामवेद से स्वरों की उत्पत्ति हुई है। स्वरों से ग्राम, ग्राम से जाति, जातियों से रागों की उत्पत्ति हुई। विभिन्न प्रदेशों (देशनाम) में समुत्पन्न ये सांगीतिक मधुर ध्वनियाँ देशी राग हैं जो आज जगप्रसिद्ध हैं। ये राग श्रुतियों की आकर्षक ध्वनियों से प्रवर्द्धित हैं और अपने नामों से जाने जाते हैं-

समा (साम) वेदात्स्वरा जाताः स्वरेम्यो ग्रामसम्भवः।
या (ग्रा) मेभ्यो जातयो जाता जातिभ्यो रागनिर्णयः
।।120।।

रागेम्यश्च तथा भाषा भाषाम्यश विभाषकाः।
विभाषाभ्योडपि सज्जातास्वतथैवान्तर भाषिकः
।।121।।

देशी रागास्त एवात्र देशनाम समुद्भवाः।
प्रवर्तन्ते विनोदेषु साम्प्रंत सुमनोहराः।।122।।

9-Front Side K

रागः प्रवर्द्धत(ती) ते श्रुत्या रज्यते मानसं सदा।
तेन रागाः समाख्याता नामतस्तान्ब्रवीम्यहम्
।।123।।

सोमेश्वरदेव ने भरत के अनुसार पाँच गीतियों के आधार पर ग्राम-रागों को विभक्त किया है, यथा-

शुद्ध (राग) - शुद्ध षाडव, शुद्ध पंचम, शुद्ध साधारित, शुद्ध कैशिक मध्यम

तथा शुद्ध कैशिकी = 5

भिन्न (राग) - भिन्न षड्ज, भिन्न ताल, भिन्न कैशिक मध्यम, भिन्न पंचम

तथा भिन्न कैशिकी = 5

गौड़ (राग) - गौड़ पंचम, गौड़ कैशिक मध्यम तथा गौड़ कैशिकी = 3

राग - षाडव, वोट्ट, मालवपंचम, टक्ककैशिक, सौवीरा, मालवकैशिक,

हिन्दोल तथा टक्क = 8

साधारण (राग) - नट, शक, कोह, भम्भाणपंचम, रूपसाधारित, गान्धारपंचम

तथा षड्जकैशिक = 7

भरतोक्त पूर्वोक्त रागों को ग्रन्थकार ने अपने काल में अप्रसिद्ध कहा है। इसलिए इन रागों के लक्षण नहीं दिए जा रहे हैं, ऐसा लिखा है -

नी (ना) मतो गदिताः सर्वे रागा मुनिसमीरिताः
विनादे नोपयुज्यन्ते तस्माल्लक्ष्म न लक्ष्यते।

आगे, ग्रन्थकार ने उन रागों का वर्णन किया है जो उक्त काल में विनोदार्थ प्रचलित थे -

विनोदे ये प्रचुज्यन्ते तेषां लक्षण.मुच्यते।।132।।

इन रागों के अन्तर्गत सर्वप्रथम 'श्री' राग का विश्लेषण किया गया है। इसके बाद गौड़, सोम, मालवकैशिक, हर्षपरी, हिण्डोलिका, देशी, हिण्डोल, भैरवी, मल्लार, मल्लारी, सौवीरी, आन्धाली, बंगाल, देवाल, कर्णाट, बंगाल, गुर्जरी देशी, सौराष्ट्री, काम्बोजी, पुन्नाटक, नागध्वनि, गुर्जर, कौशिकी, शुद्धवराटी, कर्णाटवराटी, द्रविडवराटी, शुद्ध नाटी, पौरा, मेघ (त्रावणी), अहिरी, छायानटी, तोड़ी, तुरूष्कतोडी, दुल्ली तोड़ी, वल्लाना, बहुरी, बेलाडल्ली (बेलावली), छायावेलावली, चड्.धी, रक्तहंस, खम्भारी, कामोदा, सिंहली कामोदा, देशांका, नन्दासी (धनाश्री), ललित, कोलाहल, सैन्धवी, डोम्बकृति, रामकृति और तुण्डकृति रागों का लक्षण, स्वर, औड़व-षाडव, ग्रह, अंश, न्यास, गमक आदि सहित वर्णन किया गया है, यथा -

श्री - सप्त स्वर युक्त, गान्धार दुर्बल, अवरोह में गांधार का कम प्रयोग षड्ज - अंश न्यास

गौड़ - ऋषभ स्वस्थान में नही, त.डित गमक

सोम - निषाद वर्ज्य, छः स्वर युक्त, षड्ज-ग्रह

मालवकैशिक - सप्त स्वर युक्त, षड्ज-अंश-न्यास (निषाद-ऋषभ युक्त),

मन्द्र-तार में शोभित, गान्धार पर कम्पन हर्षपरी - षड्ज, अंश, न्यास

हिण्डोल - सभी स्वर, ऋषभ-निषाद युक्त षड्ज

देशी हिण्डोल - छः स्वर युक्त, ऋषभ वर्ज्य, षड्ज-अंश, तडित गमक

भैरवी - धैवत-अंश-ग्रह-न्यास, सम्पूर्ण जाति, स्वस्थान पंचम मिश्रित, मन्द्र में गान्धार कम्पित, ऋषभ भी कम्पित, निषाद-षड्ज बहुल

मल्लार - धैवत अंश न्यास, षड्ज पंचम वर्जित, तडित गमक

मल्लारी - षड्ज पंचम दुर्बल, सम्पूर्ण, कम्पित गमक

सौवीरी - धैवत-अंश न्यास, तिरिप गमक, तार-मध्य में षड्ज-प्रयोग,

पंचम विवर्जित

आन्धाली - आन्ध्र प्रदेशोद्भव राग, पंचम-अंश न्यास, स्वल्प गान्धार, तिरिप गमक, सम्पूर्ण, षड्ज का मन्द्र में प्रयोग

बंगाल - पंचम-अंशः, न्यास, मन्द्र में ऋषभ, सम्पूर्ण

देवाल - पंचम-अंश, ग्रह, न्यास, षड्ज-गान्धार दुर्बल, सम्पूर्ण, निषाद-ऋषभ कम्पित

कर्णाट बंगाल - करूण, कम्पित गमक, सम्पूर्ण, तार सप्तक में शोभित, दुर्बल

मध्यम, मन्द्र में गान्धार, निषाद-षड्ज बहुल, पीड़ित गमक के साथ ऋषभ

गुर्जरी - ऋषभ अंश-न्यास, गान्धार धैवतहीन, निषाद कम्पित

देशी - पंचम वर्जित, छः स्वर युक्त षाडव जाति, धैवत अंश-ग्रह-न्यास

सौराष्ट्री - अंश-ग्रह-न्यास षड्ज, निषाद मध्यम वर्जित

काम्बोजी - तार मन्द्र में पंचम-निषाद सौन्दर्यपरक, धैवत ऋषभवर्जित

पुन्नाटक - स्फुरित गमक युक्त मध्यम, सम्पूर्ण जाति,

नागध्वनि - षड्ज अंश, पंचम-ऋषभ वर्जित, गान्धार-मध्यम का आधिक्य

गुर्जर- अंश-ग्रह न्यास पंचम, ऋषभ वर्जित, षाडव जाति, गान्धार मध्यम का आधिक्य

कौशिकी - पंचम-अंश, सम्पूर्ण, तार गान्धार शोभित, साथ ही मन्द्र षड्ज एवं मध्य ऋषभ भी

शुद्धवराटी - षड्जादिक कम्पित स्थान, मन्द्र धैवत कम्पित, गान्धार बहुल, सम्पूर्ण, निषाद दुर्बल, तार सप्तक में षड्ज गान्धार

कर्णाटवराटी - सम्पूर्ण, पंचम दुर्बल

द्रविडवराटी - षड्ज-अंश-न्यास, स्वल्प पंचम, निषाद बहुल, तडित गमकयुक्त मध्यगान्धार

शुद्ध नाटी - मध्यम-अंश, ग्रह और न्यास

तड़ित गमक, निषाद्-षड्ज बहुल

पौरा - औड़व जाति, पंचम-ऋषभ वर्जित, षड्ज मन्द्र तार शोभित धैवत-अंश, ग्रह और न्यास

मेघ - इसे विद्वानों द्वारा 'त्रावणी' भी कहा गया है। स्वस्थान में प्रकम्पित

अहिरी - पंचम-अंश, ग्रह और न्यास, स्थान में आन्दोलित तिरिप गमक युक्त निषाद

छायानाटी - धैवत-अंश और न्यास, पंचम कम्पित, षड्ज-ऋषभ भूयिष्ठ, तार सप्तक में गान्धार शोभित, ऋषभ पीडित गमक युक्त

तोड़ी - मध्यम-अंश, ग्रह और न्यास, पंचम कम्पित, सम्पूर्ण जाति, मन्द्र गान्धार भूषित, मन्द्र गान्धार और निषाद के साथ तार षड्ज, भूयिष्ठ ऋषभ

तुरूष्क तोड़ी - मध्यम अंश, सम्पूर्ण, उत्कट निषाद-ऋषभ, गान्धार दुर्बल

दुल्ली तोड़ी - मध्यम अंश-न्यास, मन्द्र शोभित षड्ज, सभी सम स्वर, सौन्दर्ययुक्त

वल्लाना - षाडव जाति, मध्यम ग्रह और न्यास, पंचम वर्जित, मधुर धैवत

वेलाडल्ली (वेलावली) - धैवत-अंश, ग्रह तथा न्यास, कम्पित षड्ज, मनु गान्धारयुक्त, निषाद बहुल, सम्पूर्ण जाति, तार पंचम पीडित गमक युक्त

छायावेलावली - सप्त स्वर युक्त परन्तु कम्पित गमकयुक्त धैवत और पंचम शेष सब वेलावली के समान

चुड्.धी - धैवत-ग्रह, अंश और न्यास, मध्यम वर्जित षड्ज-पंचम कम्पित

रक्तहंस - धैवत-अंश, ग्रह और न्यास, पंचम दुर्बल, धैवत-ऋषभ कम्पित तार सप्तक में निषाद

खम्भारी - षड्ज-अंश, धैवत-न्यास, पंचम दुर्बल धैवत-ऋषभ कम्पित

कामोदा - धैवत-ग्रह और न्यास, सम्पूर्ण जाति, तार-मन्द्र में गान्धार शोभित

सिंहली कामोदा- धैवत-अंश, ग्रह और न्यास, पंचम कम्पित, सप्त स्वर युक्त

देशाड्का - गान्धार-ग्रह, अंश और न्यास, ग्रह-स्थान में षड्ज कम्पित, अति तार में ऋषभ शोभित

नन्दासी (धनाश्री) - षड्ज अंश, ग्रह और न्यास, ऋषभ धैवत वर्जित, मन्द्र तार में निषाद शोभित

ललित - औडव जाति, मन्द्र में धैवत-अंश, पंचम का स्पर्श, निषाद गान्धारहीन

कोलाहल - मधुर मध्यम, मध्यम ही न्यास, पंचम वर्जित

सैन्धवी - धैवत-अंश, ग्रह और न्यास, पंचम-ऋषभ वर्जित उदार गान्धार मध्यम

होम्बक्री - धैवत-अंश, ग्रह और न्यास, निजस्थान में प्रकम्पित, पंचम-ऋषभ वर्जित

रामकृति - षड्ज-अंश और न्यास, पंचम वर्जित, मन्द्र षड्ज, मन्द्र सज्जित, ऋषभ उत्कृष्ट

तुण्डकृति - षड्ज-अंश, सुमधुर ऋषभ, धैवत वर्जित, निज स्थान में प्रकम्पित

इस प्रकार, ग्रन्थकार सोमेश्वरदेव ने अपने ग्रन्थ 'मानसोल्लास' में कुल पचास रागों का संक्षिप्त परिचयात्मक विश्लेषण किया है -

रागाणां लक्षणं प्रोक्तं समासेन मयाधुना।

सन्दर्भ

1. सोमेश्वरदेव कृत 'मानसोल्लास', 16वॉ अध्याय, चतुर्थ विंशति, सम्पादक - जी0 श्रीगोण्डेकर, ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, 1961.

पुराणों में संगीत विषयक उल्लेख एक अवलोकन

डा0 नमिता यादव

ऐसोसियेट प्रोफेसर, राजर्षि टण्डन महिला महाविद्यालय, इलाहाबाद

'पुराण' शब्द पुरावृत्त का द्योतक है तथा प्राचीन इतिहास का संकेत करता है। तथा प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में पुराण साहित्य का विशिष्ट स्थान है। भानुजी दीक्षित ने अपने अमरकोश की टीका में इसकी तीन प्रकार से व्युत्पत्ति कही।, 'पुराभवम'- अर्थात पूर्वकाल में होने वाले को पुराण कहते हैं। 'पुरा नवम्' इति पुराणम्- अर्थात प्राचीन काल में नया ही रहने वाला 'पुराण है। 'पुरा' अतीतानागतौ अणति इति पुराणम्। 'पुरा' शब्द का अर्थ है 'अतीत और अनागत' आण शब्द का अर्थ है 'कहना' (अणोट शब्दे) - अर्थात अतीत और अनागत बातों को जो बतलावे वह 'पुराण' है।[1] वायुपुराण में पुराण को परिभाषित करने के लिये निम्नलिखित श्लोक मिलता है

यस्मात्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन हि स्मृतम्।
निरूक्तमस्य यो वेद सव्रपापैः प्रमुच्येत (1, 203)

अर्थात् प्राचीन काल से यह जीवित है, अर्थात चला आ रहा है, इसलिये इसे पुराण कहते है। इसके निरूक्त को जो जानता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है

प्राचीन काल से जिन आख्यानों का प्रचलन मौखिक रूप से प्रवर्तित रहा, उन्हीं का संकलन पुराण वाङ्मय में किया जाता रहा है। प्राचीन वाङ्मय में कथक अथवा कथावाचक नामक विशिष्ट वर्ग का उल्लेख मिलता है जिनका कार्य इन्हीं पुराण कथाओं का प्रवचन करना था। महाभाष्य काल (ई0पू0 1) में यह कार्य ग्रन्थिक अथवा ग्रन्थिन् नामक लोगों के द्वारा किया जाता रहा। इनके द्वारा जनता के समक्ष ग्रंथवत उपाख्यानों का आद्यन्त प्रवचन किया जाता था, जो कभी-कभी संगीत तथा अभिनय से समन्वित रहता था। ऐसे ही कथाकार 'कथक' कहलाते थे।[2]

अमरकोष के अनुसार पुराण 'पञ्चलक्षणम्' अर्थात पुराणं पांच लक्षण वाला वाङ्मय था। ये पांच लक्षण निमनिलिखित है।

सर्गश्च प्रति सर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पच्चलक्षणम्।।
सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित।।

महापुराणों की संख्या 18 और उपपुराणों की भी संख्या 18 मानी जाती है। प्रायः प्रत्येक में 88 पुराणों की संख्या गिनाई गयी है।

हमें यह ज्ञात करना है कि किन पुराणों में संगीत का वर्णन हुआ है और उस वर्णन से हमें संगीत के विषय में क्या जानकारी प्राप्त होती है। संगीत के इतिहास की दृष्टि से यहां केवल उन्हीं पुराणों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है जिनका काल गुप्त काल तक स्थिर किया जा चुका है।[3]

ये पुराण क्रमशः निम्नानुसार है-

(1) हरिवंश (ई02), (2) वायुपुराण (ई0 3-5), (3) मार्कण्डेयपुराण (ई0 3-5) जयदेव कृत, भारतीय संगीत का इतिहास पुस्तक में संगीत विषयक उल्लेख निम्नलिखित पुराणों में बतलाया गया है (1) वायुपुराण, मार्कण्डेय पुराण और विष्णुधर्मोत्तर उप पुराण में मिलती है।

हरिवंश में संगीत- हरिवंश का विशिष्ट स्थान महाभारत के परिशिष्ट ग्रंथ के रूप में प्राप्त होता है। संगीत की एक विशिष्ट परम्परा के प्रतिष्ठापक के रूप में श्री कृष्ण का स्वरूप सर्वप्रथम इसी पुराण में उद्घाटित हो उठा है इसमें कोई संदेह नहीं है।[4]

हरिवंश के श्री कृष्ण केवल सफल वंशी वादक ही नहीं, वरन एक विशिष्ट गीत शैली तथा नृत्य प्रणाली के प्रवर्तक है। स्त्री-पुरूषों का संयुक्त मण्डलाकार नृत्य, जो कि रास के नाम से विख्यात है। और आज भी लोक नृत्य की परम्परा में प्रचलित है, कृष्ण परम्परा की परम देन माना जा सकता है।[5] इस परम्परा की परिकल्पना हरिवंश में पाई जाती है। हरिवंश का संकलन ई02 तक हो चुका था। अतः संगीत में कृष्ण परम्परा का प्रवर्तन ईसवीं शताब्दि से पूर्व सम्पन्न हो चुका था यह कथन आपत्तिजनक न होगा। हरिवंश से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक तथा लौकिक संगीत की द्विविध धारा इस समय समानान्तर रूप से प्रचलित थी। वैदिक के अन्तर्गत सामगान का अन्तर्भाव है तथा लौकिक के अन्तर्गत गान्धर्व का समावेश होता है। यज्ञयाग के अवसर पर लोगों के मनोरंजन के लिये गाथा नामक गीतों का गान तथा नाट्य का प्रदर्शन किय जाता था।[6]

हरिवश में गान्धर्व का विवरण विशेष रूप से मिलता है। गान्धर्व के अन्तर्गत गीत वाद्य तथा नृत्य तीनों कलाओं का समावेश है। गान्धर्व का व्यवसाय करने वाले लोग गन्धर्व तथा किन्नर है। गन्धर्व तथा अप्सरा आमोद प्रिय व्यक्ति है तथा सदैव नृत्य, गीत तथा वादित्त में तत्पर बतलाये गये है। चित्ररथ एवं विश्वासु ये दोनों इस गन्धर्वगण के नेता है।[7] नारद तथा तुम्बुरू का देवन्धर्वों में श्रेष्ठ स्थान है।[8] हरिवंश में नारद संगीत की वैदिक तथा गान्धर्व दोनों प्रणालियों में निपुण बतलाये गये है।

हरिवंश में लोकोत्सवों के अन्तर्गत संगीत के सामूहिक पक्ष का सुन्दर चित्रण हुआ है। ऐसे प्रसंगों पर पुरूष तथा महिला दोनों निरपेक्ष भाव से गीत तथा नृत्य में सम्मलित होते थे। गीत के साथ हाथ से ताल देने की प्रथा थी[9] ऐसे ही किसी उत्सव पर यादवों के द्वारा लोक-गीतों के गाये जाने का उल्लेख हरिवंश में दिया गया है।

गीतानि वद्देशमनोहराणि स्वरोपपन्नान्यथ गायमानाः।।89, 43।। इस प्रसंग में हरिवंशकार ने गान्धर्व का उल्लेख किया है। भगवान श्रीकृष्ण द्वारा इसका अविष्कार किया गया तथा यह तत्कालीन लोकगायकों में लोकप्रिय थी।[10] इस समूह गीत में विविध वाद्यों की संगति की जाती थी। नारद के हाथ में वीणा थी, जिस पर लट् ग्रामराग बजाये जा सकते थे। स्वयं श्री कृष्ण वंश वाद्य के साथ हल्लीसक नृत्य कर रहे थे, अर्जुन मृदंग बजा रहे थे तथा अन्य वाद्यों का वादन अप्सराओं द्वारा किया जा रहा था। विविध ग्राम रागों के अन्तर्गत विविध स्थान तथा मूर्च्छनाओं के साथ गाया जाता था।

छालिक्य-गान के साथ हल्लीसक का भी उल्लेख प्राप्त होता है श्रीकृष्ण ने छालिक्य के साथ हल्लीसक आरम्भ किया। हल्लीसंक तु स्वयमेव कृष्णः संवंशघोषं नरदेव पार्थः

अभिनव गुप्त के अनुसार हल्लीसक एक नृत्य प्रकार है जिस में नर्तकगण मण्डलाकार में नृत्य करते है जिसमें एक पुरूष नर्तक स्त्री मण्डल के मध्य में नृत्य करता है।[11]

जल क्रीड़ा के अवसर पर किए जाने वाले संगीत योजन का उल्लेख हरिवंश में पाया जाता है। हरिवंश में नाट्य कला के सम्बन्ध में पूर्ण सामग्री प्राप्त होती है नाटक के लिए 'प्रेक्षा' संज्ञा थी।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि हरिवंश की रचना से पूर्व संगीत का प्रयोगात्मक पक्ष अत्यधिक विकसित हो चुका था, साम संगीत के अतिरिक्त गान्धर्व संगीत भी प्रचलित था। साम व गाथाओं का गायन यज्ञ अवसरों पर किया जाता था। स्वर, ग्राम, स्थान मूर्च्छना, ग्रामराग आदि अंगों का प्रयोग गान्धर्व में किया जाता था। गान्धार ग्राम का प्रचलन इस युग में दिखाई देता है छालिक्य व आसारित गीत प्रचलित थे। वाद्यों के लिए तूर्य सामान्य संज्ञा थी। नाट्य, रस, हल्लीसक, जल क्रीड़ा आदि तत्कालीन जनता के मनोविनोदन के साधन थे। पुरातन कथाओं के आधार पर नाटकों को खेला जाता था। नट तथा नटी के साथ परिवारिक विदूषक आदि पात्रों की योजना नाटकों में की जाती थी।

वायु पुराण में संगीत-

मनीषियों के मतानुसार वायुपुराण भारत के प्राचीनतम पुराणों में से एक है। डॉ0 हाजरा के अनुसार वायु पुराण का संकलन ईस्वी तृतीय शती से लेकर पंचम शती तक हो चुका था। वायुपुराण के 86 व 87 दो अध्यायों में संगीत विषयक उल्लेख प्राप्त होता है।[12] संगीत के लिए वायुपुराण में प्रायः गान्धर्व शब्द प्रयुक्त होता है। 'गान्धर्व' शब्द की व्युत्पत्ति 'धयन्तो गाः इस प्रकार है 'धा धातु पानार्थक है। पुराण के अनुसार गान्धर्व का स्थान आयुर्वेद तथा धनुर्वेद आदि उपवेदों के सदृश 18 विधाओं में है। गान्धर्व का प्रयोग नित्यशः करने वाले व्यक्ति

गन्धर्व कहलाते है। देव तथा यक्षों की सभा में गन्धवों का महत्वपूर्ण स्थान हैं गान्धर्व गानाविधा में तथा किन्नर नृत्य विधा में कुशल है।[13] विश्वावसु, तुम्बरू तथा देवर्षि नारद का स्थान देवगन्धर्वों में प्रमुख है और इनका कार्य गान्धर्वकला से देवताओं का मनोरंजन करना है। गायक जातियों में गन्धर्वों के साथ मागध, चारण तथा अप्सराओं की गणना की गई है।

वायु पुराण में गान्धर्व के लिये कहा गया है सूत पहले स्वरमण्डल के विषय में बतलाते है। सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना, उन्चास तान की सामुदायिक संज्ञा स्वरमण्डल है। नारदीय शिक्षा और पुराणों की 49 ताने यज्ञ तानें है, लौकिक तानें नहीं है।

सामगान की विशिष्ट महिमा इस पुराण में बतलाई गई है। पुराण के अनुसार ऋग्वेद जानने वाला समस्त वेदों को जान लेता है यजु का ज्ञाता समग्र यज्ञ विधि को जानता है। परन्तु साम में निपुण व्यक्ति ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

इस पुराण में शिव की संगीत प्रियता का बहुशः उल्लेख हआ है। शिव संगीत प्रिय है तथा उनकी आराधना में वैदिक तथा लौकिक गीतियों का प्रयोग किया जाता है सप्त स्वरों की गणना के बाद मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाओं का जो परिगणन इस पुराण में हुआ है प्रायः अशुद्ध तथा अपूर्ण है। षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाओं में से सिर्फ चार का परिगणन हुआ है। ग्रामों की मूर्च्छनाओं के परिगणन के पश्चात मूर्च्छनाओं का उत्पत्ति स्थल उनको देवताओं का निर्देश पुराण में हुआ है।

वायु पुराण के अध्याय 87 में वर्ण, अलंकार तथा गीतों का विवरण इस प्रकार है पुराणकार के अनुसार अलंकार तीन सौ है। अलंकारों की रचना वर्णो की आधार शिला पर आधारित है। अलंकार अथवा आभरण के प्रयोग के लिये जैसे शरीर की आवश्यकता है वैसे ही गीतालंकारों के लिये वाक्य तथा अर्थयुक्त पदो का होना आवश्यक है। पद किसी गीत के आवश्यक अख हुआ करते हैं तथा अलंकारों का प्रयोग इन्ही पदों की शोभावृद्धि के लिये किया जाना उचित है। गुरू लघु, अक्षरों और तालों के आधार पर भिन्न प्रकार के रचित गीत गीतक कहलाते हैं। ये गीत भेद थे। वायुपुराण में मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक, प्रकरी रोविन्द तथा रोविन्दक और औवेणक तथा उत्तर इन सात प्रकार के गीतिकों का उल्लेख हुआ है। मन्द्रक तथा अपरान्तक गीतों में गान्धार स्वर की प्रधानता बतलाई गई है।

वर्ण मुख्यतः चार बतलाये गये हैं। स्थायी, संचारी, अवरोही तथा आरोही अलंकार मुख्यतः चार बतलाये गये हैं। स्थापनी, क्रमरंजिनू प्रसाद तथा अप्रमाद वायु पुराण में उपलब्ध संगीत विषयक उल्लेख से स्पष्ट होता है। कि ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दियों तक संगीत शास्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था। संगीत शास्त्र के अन्तर्गत स्वर, ग्राम, मूर्च्छना तान राग वर्ण, अलंकार, गीत तथा वृत्तियों का विवेचन किया जाने लगा था। संगीत का प्रयोग आराधना तथा लौकिक कार्यों में किया जाता था। सूत मागथ तथा चारणों का समावेश लौकिक कलाकारों में किया जाता था। साम तथा गाथादि गीतों का स्थान उच्च संगीत में था। गान्धर्वों की गणना दिव्य गायकों में थी। मुखद्याद्य, मर्दल, दुन्दुभि, घण्टा, झर्झर, शंख, पटूह भेरी, डिण्डिम, गोमुख तथा तुम्बवीणा वाद्यों का उल्लेख वायु पुराण में किया गया है।[14]

मार्कण्डेय पुराणः-

मार्कण्डेयपुराण में संगीत सम्बन्धी उल्लेख 23 वें अध्याय में प्राप्त होता है। सरस्वती और नागराज अश्वतर के बीच में संवाद के रूप में संगीत विषयक बातें कहीं गई हैं। अश्वतर के साथ कम्बल का भी उल्लेख है। संगीत रत्नाकर तथा अन्य संगीत-ग्रन्थों में अश्वतर और कम्बल दोनों प्राचीन संगीत के आचार्य माने गये हैं। सरस्वती कम्बल और अश्वतर को समस्त स्वर के सम्बन्ध में बतलाती है- कि सात स्वर है सात ग्राम राग है 49 तानें है और तीन ग्राम है चार प्रकार के पद और ताल हैं तीन प्रकार की लय हैं चार प्रकार के आतोद्य (वाद्य) हैं सरस्वती ने इन्हें जो कुछ बतलाया वह संगीत का आधार है। सात स्वर-षड्ज ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम धैवत निषाद सर्वविदित है।[15] कम्बल तथा अश्वतर की कथा दामोदर के संगीत दर्पण में निम्न शब्दों में उल्लिखित है "नाद विद्यां परांलब्ध्वा सरस्वत्याः प्रसादतः। कम्बलाश्वतरौ नागौ शम्भोः कुण्डलता गतौ।।

इस पुराण में ग्राम रागों के अतिरिक्त जातिगान का संकेत हुआ है गन्धर्व के अन्तर्गत सप्त गीतिकों का सम्बन्ध मुख्यतः पद रचना से है। तन्त्री लय से सम्बन्धित इन्हीं सप्त गीतों के द्वारा कम्बल तथा

अश्वतर नामक नागकुलीन भ्राताओं ने महेश्वर को प्रसन्न कर लिया था यह कथा इस पुराण में उल्लिखित है।

नृत्यकला के लिये अंग सौष्ठव से सम्बन्धित वक्तव्य इस पुराण में पाया जाता है। गान्धर्व की संगति में प्रयुक्त किये जाने वाले वाद्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख पाया जाता है। वीणा, वेणु दर्दुर, पणव, पुष्कर, मृदंग पटह आनक, दुन्दुभि तथा नानाविध शंखों का वादन गन्धर्व तथा अप्सराओं के गान नृत्य के साथ किया जाता था। युद्ध के अवसर पर वीरों के उत्साह वर्धन के हेतु पटह, मृदंग, शंख तथा घण्टा का प्रयोग किया जाता था। विवाह एवं संगीत अनुष्ठान के अवसर पर विलासिनों के लास्य नृत्य का योगदान अवश्य रहता था। भवन में होने वाले संगीतायोजन में गीत की संगति में वीणा, वेणु, मृदंग तथा पणव वाद्यों का वादन किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्नरों के गीतों के साथ वीणा तथा वेणु से संगत किये जाने का उल्लेख है।

निष्कर्ष रूप में यह प्रमाणित होता है कि साम तथा गान्धर्व दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व इस पुराण में व्यक्त हुआ है। गान्धर्व का सम्बन्ध प्रायः लौकिक प्रसंगों पर आयोजित गीत, वाद्य नृत्य से रहा है। गान्धर्व के अन्तर्गत जाति तथा राग दोनों का प्रचलन इस पुराण से प्रमाणित होता है। वाद्यों के अन्तर्गत वीणा तथा वेणु का प्रमुख स्थान है इनका वादन लौकिक तथा पारमार्थिक दोनों कार्यों के लिये होता रहा है। ग्राम, मुर्च्छना तान आदि के साथ, मुद्रक, उल्लोप्यक, आदि सप्त गीतों का विकास इस समय हो चुका था। इन गीतों में स्वर, पद लय तीनों का समान महत्व था। रूप सम्पद तथा गुण वैभव से युक्त नृत्य ही यथार्थतः नृत्य कहलाता था।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संगीत का इतिहास- ठाकुर जयदेव सिंह पृ0 215
2. भारतीय संगीत का इतिहास- शरद चंद्र श्रीधर परांजये- पृ0 198
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास 'बलदेव उपाध्याय कृत पृ0 53-55, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग 1, पृ0 521 एवम् हाजरा कृत स्टडीज इन पुराणिक रेकार्डस- पृ0 2-3।
4. आधुनिक शास्त्रीय संगीत का श्री कृष्ण तथा गोपिकाओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। होरी, धमार आदि गीत कृष्ण-गोपियों की रास क्रीडा के चारों ओर केन्द्रित हैं ही।
5. हर्षचरित के टीकाकार शंकर के अनुसार, आठ, सोलह या बत्तीस व्यक्ति जब विविध आकृतियों से नृत्य करते हैं तब वह रास, नृत्य कहलाता है- "अण्टौ षोडश द्वात्रिशद यत्र नृत्यन्ति नायकाः। पिडविंधानुसारेण तन्नृतं रासकं स्मृतम।।" हर्षचरित सांस्कृतिक अध्ययन, अग्रवाल पृ0 33।
6. विष्णु पर्व- 92, 26
7. विष्णु पर्व- 92, 38, 39, 4, 10 भविष्य पर्व- 36, 45, 49
8. विष्णु पर्व- 54, 8, 10, 11 भविष्य पर्व 20, 8
9. विष्णु पर्व 89, 8-28।
10. विष्णु पर्व- 75, 77, 83, 85
11. तुलनार्थ द्र0 भोजकृत सरस्वतीकण्ठा- भरण
12. भारतीय संगीत का इतिहास, ठाकुर जयदेव सिंह पृ0 218
13. भारतीय संगीत का इतिहास- डा0 शरद चन्द्र श्रीधर परांजपे पृ0 213
14. भारतीय संगीत का इतिहास डा0 शरदचन्द्र श्रीधर परांजपे पृ0 223
15. भारतीय संगीत का इतिहास-ठाकुर जयदेव सिंह पृ0 226

जैन वाङ्.मय (ग्रन्थों) में संगीत

डॉ. संजय कुमार सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर,

(एच.ओ.डी. संगीत संकाय) रा.मा.तो.सं.एवं क.वि.वि, ग्वा.(म.प्र.)

प्राचीन भारतीय कला-परम्परा अथवा जैन ग्रन्थों में संगीत सम्बन्धी तथ्य जानने के लिये संस्कृत के अतिरिक्त पाली तथा अपभ्रन्श साहित्य का पर्यालोचन अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय संस्कृति तथा जन-जीवन का जैसा जीवन्त चित्र प्राकृत तथा अपभ्रन्श साहित्य (वाङ्.मय) में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। जैनियों के इस विपुल साहित्य में तत्कालीन संगीत विषयक परिस्थिति का भी सम्यक दिग्दर्शन प्राप्त होता है। इस साहित्य के अन्तर्गत जैन आगमों का प्राचीनता तथा मौलिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। जैन आगमों का आरम्भ महावीर के निर्वाणकाल से अर्थात् ईसवी पूर्व 4 से लेकर सहस्त्रब्दि तक अर्थात् ई0 आरम्भिक शताब्दियों तक परम्परागत रूप से पल्लवित होता रहा तथा ईसवीं 6 तक वर्तमान रूप को प्राप्त हुआ। अतः मूल आगम तथा टीका ग्रन्थों के माध्यम से प्राचीन भारत का संगीत विषयक मानचित्र प्रस्तुत करने का प्रयास यहाँ किया जा रहा है।

जैन ग्रन्थों में संगीत-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध है वे निम्नलिखित है- स्थानांगसूत्र (थानागंसुत्त), रायपसेणइयसुत्त, वसुदेवहिंडी, आयार, सूयनडंग, निसीह, अणुओगदार, कम्प, जीवजीवाभिगम, अंगविज्जा ये सब इसी काल के ग्रन्थ हैं। जैनियों में संगीत का पर्याप्त प्रचार रहा है। इस युग में संगीत आनन्द एवं प्रसन्नता का द्योतक भी समझा गया था क्योंकि जब कोई व्यक्ति जिनत्व प्राप्त कर लेता था तो इस समय वातावरण संगीत से भर जाता था एवं देवतागण भी प्रसन्न होकर संगीत मग्न हो जाते थे। इसके अतिरिक्त कुछ जैन संगीतज्ञों ने ग्रन्थ भी लिखे हैं जैसे-'सुधाकलश' कृत ''संगीतोपनिषदसारोद्धार'', 'पार्श्वदेव' कृत संगीत समयसार तथा 'मण्डनकृत', ''संगीतमण्डल'' ग्रन्थ लिखा गया है जो अभी तक अप्रकाशित है। बौद्ध अथवा जैन संगीत कोई विशेष प्रकार का पृथक संगीत नहीं है बल्कि यह सब भारतीय संगीत से ही सम्बद्ध हैं जो देश भर में व्यापक रहा है।

अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि संगीत को केवल वैदिक धर्मावलम्बियों ने ही नही अपनाया था, उसे बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों ने भी अपनाया और उनमें उनका पर्याप्त प्रचार रहा। बौद्ध और जैन संस्कृतियाँ परस्पर समसामायिक रहीं, बौद्ध ग्रन्थों के समान ही जैन ग्रन्थों में भी संगीत का यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है।

स्थानांग (थानांगसुत्त) इत्यादि जैन सूत्रें में वेदत्रयी के अन्तर्गत सामवेय (सामवेद) का निर्देश पाया जाता है। वैदिक अध्ययनक्रम के अन्तर्गत सामवेद तथा उसकी शिक्षाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जिसमें सामवेद का अध्ययन ब्राम्हण वर्ग के द्वारा किया जाता था। अनुयोगद्वार तथा नन्दी सुत्रें में वेद, पुराण, शिक्षादि षडंग, वेशिय तथा गान्धर्व (संगीत) आदि कलाओं को लौकिक ज्ञान के अन्तर्गत माना है। वैदिक-साहित्य (वाङ्.मय) की उदात्त, अनुदात्त, स्वरित वाली स्वरोच्चरण-प्रणाली जैन सूत्रों के पठन-पाठन में भी प्रचलित दिखाई देती है। वहाँ स्वर के लिये 'घोष' शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

जैनियों के थानांगसुत्त, रायापसेणीय तथा कल्पसूत्र में संगीत सम्बन्धी प्रचुर सामग्री पायी

जाती है। थानांगसुत्त तथा अनुयोगद्वार सूत इस दृष्टि से विशेष अवलोकनीय है। अनुयोगद्वार सूत्त में जैन परम्परा से सम्बन्धित स्वर, गीत, वाद्य, मूर्च्छना आदि गान्धर्व के विषयों का सूत्रबद्ध विवरण पाया जाता है। जैन परम्परा के अनुसार संगीत अथवा गान्धर्व इन विषयों में से है जिनका प्रवर्तन महावीर के द्वारा हुआ है तथा इन विषयों का सैद्धान्तिक विवेचन पूर्व ग्रन्थों में निहित है। जैन सिद्धान्त ग्रन्थों में प्राचीन ललित-कलाओं के अन्तर्गत 72 अथवा 64 कलाओं की गणना पायी जाती है जिसमें संगीत को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गान्धर्व अथवा संगीत का अर्न्तभाव इन्हीं सिप्पों अर्थात् शिल्पों में किया गया है। जैन धर्म में संगीत के अन्तर्गत गीय अर्थात् 'गेय', वैय अर्थात् 'वाद्य', सरगय अर्थात् 'स्वरगेय', नट्ट अर्थात् 'नृत्य', पुष्करगेय तथा समताल का अन्तर्भाव है। लौकिक कलाओं तथा विधाओं के अन्तर्गत गाथा, चलित नामक गीत, आख्यान, तथा कथाओं की शिक्षा इस युग में पारम्परिक रूप से प्रदान की जाती थी। आचार्यों को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। रायपसेणीय सूत्र के अनुसार आचार्यों के मुख्य तीन वर्ग थे-कलाचार्य, शिल्पाचार्य तथा धर्माचार्य। गुरू-शुश्रूषा तथा धन-दान से विद्या ग्रहण की जा सकती थी।

बौद्ध युग की भाँति इस युग में भी संगीतकला को राजाश्रय प्राप्त था कुछ राजा-जन अच्छे संगीतकार थे जिनमें से "राजा उदयन" को महान संगीतज्ञ होने का गौरव प्राप्त था। राजा उदयन अपनी पत्नी के नृत्य के साथ वीणा-वादन की संगति किया करते थे। संगीत कुशल गणिकाओं को राज्य सभा में आमंत्रित किया जाता था तथा इन्हें सम्मानित भी किया जाता था। चम्पा नगरी की गणिका संगीत तथा वेशिकी कलाओं में पारंगत बतायी गयी है। गण्किाओं के अतिरिक्त नृत्य का व्यवसाय करने वाली नर्तकियों का एक विशिष्ट वर्ग था। विभिन्न उत्सवों के अवसर पर नागरिक तथा ग्रामीण जनता में गीतनृत्यादि कार्यक्रमों का प्रचुर आयोजन किया जाता था। जनता का मनोरंजन करने वाले व्यवसायिक वर्गों में गान्धर्व नट, नर्तक, रासगायक, तूण-वादक, तुम्बवीणावादक, मागध आदि जन थे। डोम्ब जाति के लोग अपनी संगीत प्रियता के लिये प्रसिद्ध थे। किणिक जाति के लोग वाद्यों के लिये चर्म की थैलियाँ बनाते थे तथा दंड-दण्ड वाले अपराधियों को वाद्य बजाने का कार्य सौंपा गया था। इस प्रकार जैन धर्म में होली इत्यादि उत्सवों पर गीत-नृत्यादि कार्यक्रम हेतु मनोरंजन के लिये भिन्न-भिन्न जाति के वर्गों के लिये पृथक-पृथक कार्य सौंपे गये थे।

जैन धर्म में 'संगीत' विलास सामग्री का अभिन्न अंग रहा है। उन दिनों श्रीमान् व्यक्तियों का काल संगीत के राग-रंग में व्यतीत होता था तथा नाटकों में भी महिलाओं के द्वारा गीत-गान, तथा वाद्य-वादन किया जाता था। वहाँ विवाह के अवसरों पर प्रीतिदान अर्थात् दहेज के रूप में नर्तकियों एवं नटों वाली नाट्य मण्डलियाँ प्रदान की जाती थीं। इसके अतिरिक्त जैन आगमों (धर्मों) का जन-जन में प्रचार करने के लिये 'चलित' नामक गीतों का अत्यन्त प्रचलन था। जिसमें महावीर के जीवन-दर्शन सम्वन्धी नाटकों का प्रदर्शन था तथा उसमें जैन मुनि भी भूमिका-अभिनय करते थे 'रायापसेणीय' में 32 प्रकार के नाट्यों का वर्णन है जिनमें पाठ्य गान तथा नृत्याभिनय तीनों का समुचित योग है। जैन परम्परा के अनुसार "आदिम" नृत्य-नाट्य महावीर की जीवनी पर आधारित है जिसमें पुरूष व महिला दोनों की भागीदारी होती थी। वाद्यवृन्द अर्थात् कुतप तथा नृत्य का प्रदर्शन कलात्मक आकृतियों के माध्यम से दिखाया जाता था।

इस प्रकार जैन धर्मों में संगीत का प्रचार उसके महत्व का आभास कराती है।

उपरोक्त संक्षिप्त विवरण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि जैन ग्रन्थों में संगीत का निरन्तर विकास हो रहा था उन दिनों संगीत का समाज के विभिन्न क्षेत्रें में प्रचार था। किन्तु उच्च वर्ग के ब्राहमणों ने संगीत को बहुत श्रेष्ठ स्थान प्रदान नहीं किया था क्योंकि कौटिल्य ने उसे गणिकाओं से सम्बद्ध करके कुछ हेयता प्रदान कर दी और मनुस्मृति ने तो स्पष्ट ही संगीत को वह स्थान नहीं दिया जो 'साम' संगीत में संगीत को प्राप्त है।

कुछ जैन सूत्रें में संगीत विषयक ग्रन्थ

जैनियों के प्राचीन पूर्व ग्रन्थों में संगीत सम्बन्धी

प्रचुर विवरण पाया जाता है। जैन परम्परा के अनुसार संगीत के प्राचीन आचार्यों में भरत तथा विशाखिल का स्थान प्रमुख है। थानांगसुत्र के संस्कृत टीकाकार अभयदेव के अनुसार ऐसे 14 पूर्व ग्रन्थों में से "पूर्व-गतस्वरप्राभृत" नामक था जिसमें स्वरों से उद्भूत होने वाली इक्कीस मुर्च्छनाओं तथा एकादश अलंकारों का विवरण था। यहाँ स्थानांग (थानांगसुत्त) उपलब्ध संगीत विषयक सिद्धान्तों का निरूपण निम्न किया जा रहा है।

गायन :- संगीत के लिये यहाँ गान्धर्व की संज्ञा प्राप्त होती है।

स्थानांगसूत्र (थानांगसुत्त) में स्वरों की उत्पत्ति, सप्तस्वरों का प्राणियों की ध्वनि से सम्बंध, स्वरों का मानव स्वभाव से सम्बन्ध ग्राम तथा मुर्च्छनायें तथा गायक के गुण दोष दिये हुये हैं, जो नारदीप शिक्षा में दिये हुये गुण-दोष से प्रायः मिलते हैं। इसमें गायन के लिये 8गुण तथा 6दोषों का निरूपण किया गया है जो इस प्रकार हैं-

गायन के 8 गुण :-

1. पुन्नं = पूर्ण - स्वर इत्यादि पूर्ण रूप से लगना चाहिये।
2. रत्तं = रक्त - अर्थात् गान में रिक्ति या अनुरजंकता का गुण होना चाहिये।
3. अंलकिय = अंलंकृत - गान में भिन्न-भिन्न स्वर युक्त अलंकारों का प्रयोग।
4. वृत्तं = व्यक्तं - स्वर और पद स्पष्ट हो।
5. अविघुट्ठं - जो चिल्लाहट जैसा बुरा या बेसुरा न हो।
6. मधुरं - जो सुनने में मधुर हों।
7. समं - जिसमें स्वर ताल का साम्य हों।
8. सुकुमारं - जो ललित हों।

गान के 6 दोष :-

1. भीयं - अर्थात् डरते हुये गाना।
2. द्रुतं - जल्दी लय में अर्थात् शीघ्र गाना।
3. रहस्सं - स्वर को दबाकर या छिपाकर गाना।
4. उत्तालं - ताल रहित गाना।
5. काकस्सरं - कौवे जैसा ककर्श स्वर लगाना।
6. अणुनासं - नाक से गाना।

इसके अतिरिक्त कुछ जैसा सूत्र हैं जिनमें पृथक रूप से गान के गुण-दोषों का उल्लेख प्राप्त होता है।

सप्त स्वर :- षड्ज ऋषभ आदि सप्त स्वरों का उनके सात स्थानों सहित उल्लेख प्राप्त होता है। इन्हो जीव से निःसृत कहकर प्रत्येक स्वर का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न जीवों के साथ जोड़ा गया है जैसे - षड्ज स्वर का मयूर से, ऋषभ को कुक्कुट से, गान्धार का हंस से, मध्यम का गौओ से, पंचम की कोकिल से, धवैत का क्रौंच से तथा निषाद का सारस पक्षी से तुलना की गयी है।

ग्राम तथा मूर्च्छना के अन्तर्गत तीन ग्राम-षड्ज, मध्यम, गान्धर बताये गये हैं तथा इनके सात-सात मुर्च्छनाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

वादन :- जैन सूत्रें में संगीत के कुछ अत्यधिक रोचक प्रसंग प्राप्त होते हैं। इनमें विशेषकर वाद्यों के कुछ ऐसे नाम प्राप्त होते हैं जिनका अत्यन्त उल्लेख नहीं मिलता है। जैन सूत्रें में कई प्रकार के नवीन वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जो समकालीन ग्रन्थों में नही प्राप्त होते वाद्यों के लिये संस्कृत ग्रन्थों में आतोघ, तूर, तूर्य, वादित्र और वाद्य शब्द मिलते हैं तथा चार प्रकार के वाद्यों तत्, वितत्, धन, सुषिर के लिये जैन-ग्रन्थों में प्राकृत नाम मिलते हैं। इसके अतिरिक्त तत् तथा सुषिर वाद्यों के लिये भी तुर्य संज्ञा दी गयी है। जैन सूत्रों में वाद्यों के अन्तर्गत शंख, कच्छपि, नकुल, कंसताल, खरमुही, वीणा, विपंची, कच्छपी, चित्रवीणा, सुघोषा, तुम्बवीणा, हुडुक्का, भेरी, पीरिपिरिया, गोमुखी इत्यादि वाद्यों का विवेचन किया गया है। इन सभी वाद्यों से यह ज्ञात होता है कि उन दिनों में भी तत् वितत्, घन सुषिर वाद्यों का प्रयोग होता था। जिसमें शखं का प्रयोग पर्यटक साधु, महात्माओं के द्वारा, भेरी वाद्यका प्रयोग जनता को किसी घटना की सूचना या युद्ध के अवसर के लिये किया जाता था तथा बालकों के खिलौने के रूप में छोटे-छोटे नगाड़े बनाये जाते थे।

उपर्युक्त विवेचन से नितान्त स्पष्ट है कि जैन ग्रन्थों में निबद्ध संगीत विषयक परम्परा प्रामुख्य से संस्कृत ग्रन्थों की अनुगामिनी रही है।

सन्दर्भित ग्रन्थ :-

1. भारतीय संगीत का इतिहास - डॉ0 जयेदव सिंह
2. भारतीय संगीत का इतिहास - डॉ0 शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे
3. भारतीय संगीत का इतिहास - उमेश जोशी

अभिनव भारती का ध्रुवागान

निधि श्रीवास्तव

(जे0आर0एफ0),

शोध छात्र

संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आचार्य अभिनव गुप्त द्वारा 10वीं शताब्दी में इस ग्रंथ की रचना की गई। इस ग्रंथ की मूल पाण्डुलिपि सबसे पहले केरल में 1900से 1926 के बीच प्राप्त होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 6000 श्लोकों वाले नाट्यशास्त्र पर वृत्ति अभिनव भारती लिखी है। आचार्य अभिनवगुप्त ने बत्तीसवें अध्याय अर्थात् ध्रुवाविधान अध्याय में अपनी वृत्ति को मुख्यतः गीतिचतुष्टय पर केन्द्रित रखा है। गीति का आधारभूत नियत पद समुह ध्रुवा कहलाता है। नारद इत्यादि द्विजों ने अनेक प्रकार से जिन गीतांगों का विनियोग किया है उन सबकी संज्ञा ध्रुवा है। इनमें जो ऋचाएं, गाथाएं, पाणिका है उन सबकी संज्ञा ध्रुवा है। इनमें वाक्य, वर्ण, यति, पाणि और लय के अविरल रूप में सम्बद्ध रहने के कारण इन्हें ध्रुवा कहा गया है।

नाट्य की विभिन्न परिस्थियों में रसानुभूति कराकर उन परिस्थितियों को तीव्र बनाने तथा पात्रों के चरित्र को उभारने के लिए जिन छन्दोंबद्ध गीतों का प्रयोग नाट्य के भीतर किया जाता, वे ध्रुवा कहलाती हैं तथा व्यापक रूप में विधि को विधान कहते हैं अर्थात यही ध्रुवाविधान है।[1]

बृहद्देशी के अनुसार नाद ही जगत में व्याप्त है, वही परायोनि है। नाद के दो भेद हैं, आहत तथा अनाहत। आहत नाद के व्यवहार्य दो रूप हैं, भाषा और गीत। रंजक स्वर गीत कहलाता है। उसके दो भेद गान्धर्व और गान हैं। सात प्रकरण गीतों तथा सात प्रकरण गीतक की तथा अन्य ध्रुवा प्रयोग की संज्ञा गान्धर्व है। गान का दूसरा नाम देशी है।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि गीति का आधार नियत पदसमुह ध्रुवा कहलाता है। आचार्य भरत का कथन है कि सप्तरूप के प्रमाण और अंग भी ध्रुवा कहलाते हैं और ऋक्, गाथा तथा पाणि भी ध्रुवा के ही अन्तर्गत है।

ध्रुव का अर्थ है स्थिर। ध्रुवा का प्रयोग नाट्य में करने का मूल कारण यह है कि जो तत्व स्थिर हों तथा जिन तत्वों में परिवर्तन नहीं किया जा सके। जैसे शिव तत्व जगत में ध्रुव है वह अचल है स्थिर है। मनःस्थिति तथा प्रकृति में परिवर्तन हो सकता है परन्तु शिव तत्व में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। अर्थात आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में ध्रुवा का विधान प्रस्तुत कर यह स्पष्ट किया है कि रंगमंच पर यदि किसी क्रिया का प्रारम्भ किया जाए तथा रंगमंच पर जब नायक का प्रवेश हो तो वहां पर प्रावेशिकी ध्रुवा का ही गान किया जाए ना कि किसी अन्य ध्रुवा प्रकार का। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को स्वयं के शिवतत्व का बोध कराने हेतु ध्रुवा प्रयोग किए गए जिससे चंचल मन को स्थिरता प्रदान की जा सके तथा यह स्थिरता युग युगान्तर तक परिवर्तित ना की जा सके।

ध्रुवागीत वे गान हैं जो रस भाव के परिपोषक हैं व विशिष्टतः नाट्यों के मुख्य पात्रें के द्वारा गाए जाते हैं। इनका उद्देश्य नाटक को रंजकता प्रदान करना है। आचार्य भरत के अनुसार नाट्यशास्त्र

पंचम वेद है जो जनसाधारण का दैविक, धार्मिक व सामाजिक चरित्रें की कथाओं द्वारा मनोरंजन करता है। वस्तुतः नाट्य सांसारिक व दैविक जीवन के विभिन्न पहलुओं का रस युक्त एवं भावपूर्ण चित्रण है। नाटक एक ऐसी कला है जिसके अन्तर्गत संगीत, अभिनय, नृत्य तथा काव्य का समावेश है। नाटक का उद्देश्य दर्शकों के सुप्त उच्च मनोभावों को अनायास ही मनोरंजन द्वारा जागृत करना है।[3] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाटक में कथानक पात्रें का भावपूर्ण अभिनय, हृदयग्राही कथोपकथन के साथ नृत्य व गान का भी प्रयोग वांछनीय है।

गायन मनोरंजन की साधन होने पर भी नाटक के कथानक व पात्रें के अभिनय को अर्थपूर्ण तथा भावपूर्ण बनाता है एवं अकस्मात् उत्पन्न दोषों का आच्छादन करता है। नाटक कई अंकों या दृश्यों से निर्मित हो कर दर्शकों के सम्मुख क्रमशः विकसित होकर सम्पूर्णता को प्राप्त होता है तथा इन दृश्यों के मध्य के अवकाश को गान के द्वारा पूरित किया जाता है। पात्रें का परिचय स्वयं अथवा अन्य पात्रें द्वारा प्रवेश के समक्ष नेपथ्य से या रंगमंच पर गान के पदो के माध्यम से कराया जाता है। शोक, वीर, अद्भुत या हर्ष आदि भावों का मंचन भी गीतों के सार्थक पदो के द्वारा किया जाता है।

इस प्रकार नाटक में गीतों को प्रमुख स्थान दिया जाता है। इन गीतों का स्थान विशेष में प्रयोग पात्र, रस व भावों के अनुरूप विनियोग नाटक को अत्यंत सफल बनाता है। भरत काल में संगीत शब्द के लिए गान्धर्व शब्द का प्रयोग है। आचार्य भरत ने गान्धर्व के अन्तर्गत स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, जाति, अलंकार, ताल आदि का उल्लेख किया है।[4] यह सर्वमान्य तथ्य है कि नाट्यशास्त्र में गान्धर्व शब्द की विवेचना नाट्य में प्रयुक्त होने वाले गीतों के सन्दर्भ में ही की गई है। नाट्य में प्रयुक्त गान में शास्त्रेक्त नियमों का विधि पूर्वक पालन करने की अनिवार्यता को दर्शाते हुए आचार्य ने गान्धर्व के तत्वों का उल्लेख किया है।

इनके मत में गान्धर्व वह है जिसमें स्वर ताल तथा पद का समावेश है। नाट्यशास्त्र में वादन का विशिष्ट स्थान होने पर भी नाट्य में गायन को प्रधान माना गया है क्योंकि शब्दों का प्रयोग नाट्य के दृश्यों को सार्थक बनाने के लिए अनिवार्य है।

ध्रुवागीत नाट्य में प्रयोग किए जाने वाले अर्थपूर्ण गीत हैं। ध्रुवा गीत नाट्यशास्त्र से पूर्व भी प्रचलित थे यह आचार्य भरत के निम्नोक्त कथन से स्पष्ट होता है-

ध्रुवासंज्ञानि यानि स्युर्नारद प्रमुखैर्द्विजैः।
गीतांगानि तु नीह सर्वाणि विनियुक्तान्यने- कशः।।
या ऋचः पाणिका गाथा सप्त रूपांग एव च।
सप्तरूपं प्रमाणं हि तद् ध्रुवेत्यभिसंज्ञितम्।।

अर्थात् ध्रुवा नाम के गीतों की रचना नारदादि प्रमुख ब्राम्हणों द्वारा सप्तरूप गीतों के अंगों से की गई। ऋचा, पाणिका आदि सप्त गीतों के प्रमाणभूत अंगों को ध्रुवा नाम से जाना जाता है। उन ध्रुव प्रमाण के अंगों से निर्मित होने के कारण इनका नाम ध्रुवा गान है। तात्पर्य यह है कि सप्तरूप गीतों के सदा स्थिर रहने वाले नियमित अंगों के प्रमाण को उनके सदैव अपरिवर्तनीय स्थिति के कारण ध्रुवा नाम से जाना जाता हैं। उन्हीं ध्रुव अंग प्रमाण से रचे हुए गीत ध्रुवा गीत हैं।

ध्रुवा का प्रयोग पात्रों के प्रवेश के समय, निष्क्रमण के समय, रसान्तर के आक्षेप में, प्रविष्ट पात्र की चित्तवृत्ति को प्रकट करने, दोषों को ढकने और पात्रें की गति आदि पांच प्रकार की विशेष स्थितियों में होता है। इन पांच स्थितियों के कारण ध्रुवा पांच प्रकार का होता है-

प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयश्क्षेपिकी स्मृता।
प्रासादिकी तृतीया च चतुर्थीचान्तरा ध्रुवा।।
निष्क्रामिकी च विज्ञेया पंचमी वृत्तकर्मणि।

ना0शा032/27

1. प्रावेशिकी 2. आक्षेपिकी 3. प्रासादिकी 4. अन्तरा 5. नैष्क्रामिकी

ध्रुवागीतों द्वारा मनःस्थिति, पात्र परिचय आदि को सूचित करना सुलभ हो जाता है। नाट्य में अन्य गीत आसारित, वर्धमान आदि का भी प्रयोग विहित

है परन्तु ध्रुवा गान अपेक्षाकृत सरल, अर्थपूर्ण पद, प्राकृत भाषा तथा आकर्षक भावपुर्ण स्वरों में किए जाने के कारण अपने उद्देश्य की पूर्ति में अधिक सफल होते हैं। ध्रुवा गीतों का प्रयोग नाट्य से पूर्व पूजन विधि में भी निर्दिष्ट किया गया है।[5]

आचार्य ने गान्धर्व के स्वतंत्र अस्तित्व की अपेक्षा नाट्य के अन्तर्गत प्रयुक्त गान्धर्व को अधिक मान्यता दी है। गीतों में गान्धर्व के नियमों का पालन नाटक को सफल बनाने में मुख्य साधन माना गया है। गीतों का अति तीव्र प्रयोग उनमें अलंकार, गमक या अनावश्यक विस्तार उनके अर्थ तथा नाटक की गतिशीलता में बाधक सिद्ध हो सकते हैं।

अतएव यथास्थान गीतों का प्रयोग तथा उचित मात्र में अलंकार कर्षण आदि का प्रयोग नाट्य में उचित माना गया है। गीतों का प्रयोजन नाट्य की परिस्थितियों को यथावत् प्रस्तुत करना तथा दर्शकों के हृदय में संदर्भ के अनुरूप भावों का संचार करवाना है।

नाट्य की विभिन्न परिस्थितियों में रसानुभूति कराकर उन परिस्थितियों को तीव्र बनाने तथा पात्रें के चरित्र को उभारने के लिए जिन छन्दों बद्ध गीतों का प्रयोग नाट्य के भीतर किया जाता है वे ध्रुवा कहलाती हैं। ध्रुवा गीत गान का वह प्रकार है जो रस भाव के परिपोषक है तथा इसे नाट्य के मुख्य पात्रें द्वारा नाटक को रंजकता और आकर्षण प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया गया। ध्रुवा विषय गीत की रचना की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। नाट्य के अंग के रूप में प्रयुक्त संगीत में तो यह प्राणस्वरूपा है।

संदर्भ ग्रंथ

1. भारतीय संगीत में निबद्ध, सुभद्रा चौधरी
2. धुपद और उसका विकास, आचार्य बृहस्पति
3. नाट्यशास्त्र भाग-1 , पारसनाथ द्विवेदी
4. नाट्यशास्त्र भाग-4 , बाबूलाल शुक्ला शास्त्री
5. संगीत निबन्ध माला, डॉ0 एम0 विजयलक्ष्मी

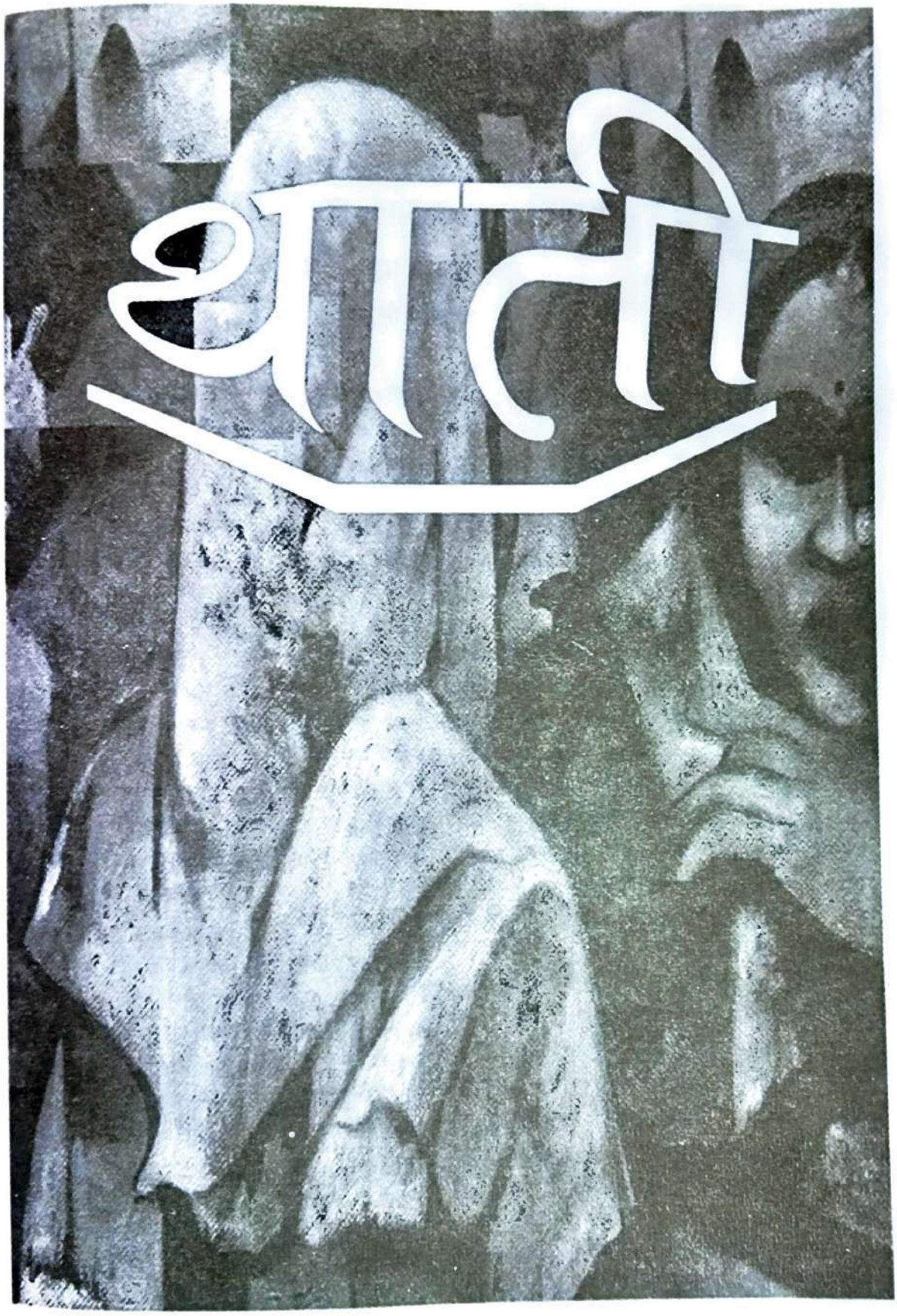
शादी

लोक गाथा आल्हा-एक विवेचन

डॉ0 राम भजन सिंह

बुन्देली लोक विद

लोक साहित्य समाज की अन्तः क्रिया से विकसित होते हैं। इन लोक गाथाओं को लोक सांस्कृति का आइना कहा जाता है। इन लोक गाथाओं से लोक मानस को अनुप्रणित ही नहीं किया, यह लोक गाथाएं जन-जन तक संस्कार तथा जन्मभूमि की मर्यादा की रक्षा के लिए उत्प्रेरित करती रही है। प्राचीन लोक काव्यों यथा, रामायण, महाभारत आदि पिछली कई शताब्दियों से चली आ रही हैं, जिनको साल में एक बार होने वाले अश्वमेघ यज्ञों में कुशीलवों, सूत्रों, सूत्रधारों के द्वारा आख्यानों उपाख्यानों में मिथक कल्पना और स्वप्न की सारी संरचना के भीतर लोक जीवन और सामाजिक यथार्थ को वाणी द्वारा कहा गया तथा गाया जाता रहा है। महाकवि कालीदास ने अपने महाकाव्यों में मालवा के राजा उदयन व भृतहरी का उल्लेख किया है। इन लोक गाथाओं को आज भी लोक गायक अपनी-अपनी धुन में गाते हैं।

आल्हा लोकगाथा बुन्देलखण्ड के धरती की उपज है तथा तब इस पूज्य भूमि का नाम जेजाक भुक्ति था तथा इसका कार्यकाल सन् 1135 से 12वीं शताब्दी के अन्त तक माना जाता है। यहाँ के लोकप्रिय शासक परिमार्दिदेव के वीर सेनापति आल्हा-ऊदल की वीरता तथा उनके अपनी जन्मभूमि के त्याग और बलिदान की अमर गाथा है। इसकी प्रसिद्धि जन-जन में पूरे भारत में फैली इसका उदाहरण सिर्फ इससे समझा जा सकता है कि 15वीं शताब्दी के सरस मैथिल भाषा में काव्य रचना करने वाले "विद्यापति" ने अपने कथाग्रन्थ "पुरुष परीक्षा" में इस लोक गाथा का वर्णन किया है। यदि तीन शताब्दियों के अन्तराल के बाद मिथला के कवि विद्यापति की दृष्टि इस लोक गाथा पर गई तो इस लोककवि जगनिक कृत 'परिमाल रासौ" व आल्हखण्ड की प्रसिद्धी कितनी थी इसको समझा जा सकता है। इसी तरह भविष्य पुराण में भी पृथ्वीराज चौहान, राजा जयचन्द्र, परिमाल देव तथा आल्हा-ऊदल से जुड़े कथानक को पुराणकार ने मुख्य घटनाओं का वर्णन किया है। यह सब कथानक जो इन राजाओं तथा आल्हा-ऊदल से जुड़े हैं यह सब रासौ ग्रन्थ परिमाल रासौ तथा पृथ्वीराज रासौ व आल्हाखण्ड से प्रभावित होकर लिखी गयी हैं। पर इन सभी काव्यों के रचनाकारों ने मूल घटनाओं को अपने-अपने कथा नायकों के पक्षों का अपने-अपने नजरिये से प्रस्तुतीकरण किया है। इन रासौ ग्रन्थों का रचनाकार 11वीं और 12वीं शताब्दी के, लगभग माना जाता है। आल्हाखण्ड के रचनाकार ने लोकनायक आल्हा-ऊदल की सूरवीरता का वर्णन किया है क्योंकि उस समय "शिव काली की उपासना यहाँ के जन-जन में प्रचलित रही है इसलिए तंत्र-मंत्र, टोना जादू आदि चमत्कारी घटनाओं का वर्णन इस कथानक में समाहित है। आल्हा-ऊदल को महानायक व महापुरुष की तरह प्रतिष्ठित करके यह लोकगायक इस लोकगाथा का गायन करते हैं। इस पूरे आल्हा गायन में 52 गढ़ों की लड़ाई का वर्णन है। परन्तु कथाक्रम में मुख्य लड़ाई पृथ्वीराज की परिमाल देव की सेनापति आल्हा तथा ऊदल से युद्ध का वर्णन ज्यादा होता है। इस पूरे काव्य में माहिल जो उरई का परिहार क्षत्रिय राजा था, षडयन्त्रकारी कूटनीतिज्ञ के रूप में बताया गया है। आज भी इस क्षेत्र विशेष में कोई भी परिवार का

सदस्य इस नाम को धारण नहीं करता है। इसने हमेशा परिमाल देव के खिलाफ अपनी बुद्धि, चातुर्य का इस्तेमाल किया तथा पृथ्वीराज को महोबा में आक्रमण करने की प्रेरणा दी। इसने ही महोत्सव नगर (महोबा) के प्रसिद्ध कजरी उत्सव के समय आक्रमण करने के लिए दिल्ली जाकर पृथ्वीराज को प्रेरणा दी तथा योजना बताई। आल्हा-ऊदल द्वारा पृथ्वीराज की बेटी, "बेला" का ब्याह परिमाल देव के बड़े पुत्र ब्रह्मा के साथ शर्तों को पूरा करके करवाना दिल्ली नरेश पृथ्वीराज को बहुत दुःखी किये था कि एक छोटे से राज्य के सेनापति ऐसा दुस्साहस करके दिल्ली की आन-बान-शान को इतनी भीषण क्षति पहुँचा गये। इससे पृथ्वीराज के अन्दर कुंठा, क्रोध, क्षोभ, ईर्ष्या घर कर गई थी। बुन्देली आल्हा गायक माहिल द्वारा सुझाई गई युक्तियाँ तथा बदले की भावना का गायन जो पृथ्वीराज को समझाकर कही गयी हैं। कुंडलियों में निम्नलिखित है :—

बदले को अवसर भलो, अब न लगावऊ देर।
सेनसाज घेरो नगर, कैद करौ चंदेल॥
कैद करौ चंदेल, खेल खड़गन को खेलो।
पारसमणि गज बाज, राज सम्पत्ति सब लैलो॥
ब्रह्मौ बाँध जितेन्द्र, जीत महुबे को हल दो।
नगर लूट कर लेहु गुनागर को अब बदलो॥

इसी तरह माहिल की बात सम्राट पृथ्वीराज को कैसी हृदय में घर कर जाती है। इसका वर्णन दोहे में विर्णत हैः—

नसगत इन्जेक्शन यथा, विषधर के विषदंत। चतुर
चुगल की बात इमि कर गई काम तुरन्त॥
पृथ्वीपति की सुमति में, कुमति विराजि आन।
नगर महोबा विजय की, मन में ठानी ठान॥

इसी तरह माहिल के लिए यह आल्हा गायक, अपनी सूरशेनी भाषाशैली में गाते हैं,

गाँव विगारे हैं रंडिन ने,
अरु काई ने बिगारे ताल।
परिहार माहिल की चुगली से,
राजा बिगर गये परिमाल॥

इतिहासकारों के अनुसार ननिहाल में मिली पूरी सम्पत्ति को पृथ्वीराज चौहान ने हड़प लिया था, जबकि जयचन्द्र का भी उसमें हिस्सा होता था। मौसेरे भाई होने के कारण जब जयचन्द्र ने अपना हिस्सा माँगा और उसने इंकार किया। इससे कन्नौज नरेश जयचन्द्र खार-खाये बैठा था। इधर पृथ्वीराज ने दिल्ली पर कब्जा करने के बाद जयचन्द्र को फरमान भेजा कि सब भारत के राजा मुझे कर देते हैं, तुम भी मुझे कर भेजो। क्योंकि तुम्हारी सेना 15 लाख है तथा मेरे पास 20 लाख सेना है इसलिए तुम मेरी आधीनता भी स्वीकार करो। पृथ्वीराज के इस संदेश से इन दोनों सगे रिश्तेदारों में ठन गई। दोनों राजा बहुत ही बहादुर व सूरवीर थे। इसके बावजूद यह एक दूसरे से अन्दर-अन्दर ही डरते रहते थे। इतिहासकार बताते हैं कि उस समय भारत के आधे भाग पर जयचन्द्र तथा आधे भाग पर पृथ्वीराज का राज था। इस तरह इन दोनों रिश्तेदारों में बैर की ऐसी गांठ पड़ी की जिससे इनके सारे खानदान को ही भस्म कर दिया। इसको "भविष्य पुराण" में भी वर्णित करते हुए रचनाकार ने लिखा है :—

भूमिराजश्च बलवान् जयचन्द भयार्तिः।
जयचन्द्रश्च बलवान् पृथ्वीराज भीरूकः॥
जयचन्द्रश्चार्य देश धर्म राज्यमकलपयत् ।
पृथ्वीराज एवासौ तदार्थ राष्ट्रमानयत् ॥
एवं जातं तथोर्वरयाग्नि वंश प्रणाशनम् ।

(भविष्य पुराण पृ0-435)

सब मिलाकर परिमार्दिदेव (महोबा), पृथ्वीराज (दिल्ली, जयचन्द्र (कन्नौज) तीनों राजा सगे सम्बन्धी होने के बाद भी आपस में प्रेम से न रह सके तथा अपने-अपने स्वार्थ व अहंकार में उन्होंने आपस में लड़कर राष्ट्र का अहित किया तथा भारत की सीमा के बाहर के आक्रान्ताओं को हमला करने हेतु मौका दिया।

इस लोकगाथा के रचनाकारों ने वीर आल्हा-ऊदल, लाखन को महान वीर बताते हुए एवं साम्प्रदायिक सौहार्द की मिशाल ताला-सैयद आदि को महान वीर बताते हुए उरई के परिहार राजा माहिल को एक दूसरे से लड़वाने तथा दुश्मनियों को बढ़ावा देने वाला कहा है। इन सम्पूर्ण रचनाकारों ने माहिल को महान चुगलखोर

10-Front Side K

तथा उपरोक्त वीरों से अकारण वैरभाव मानने वाला बताया है। इसकी षडयंत्रकारी योजनाओं की वजह से उपरोक्त वीरों को महोबा को छोड़कर कन्नौज के राजा जयचन्द्र के पास आल्हा-ऊदल चले जाते हैं परन्तु जब पृथ्वीराज महोबा में कजली महोत्सव में आक्रमण करने तथा महोबा नगर को लूटने के लिए आता है तब मलखान जो सिरसागढ़ का राजा था, आल्हा-ऊदल को जन्मभूमि की रक्षा तथा सांस्कृति एवं आन-बान व शान बचाने हेतु महोबा आने को आल्हा को पत्र लिखता है,

सोरठा

पत्र लिखो मलखान, झपट हाथ मूछन गयो।
बोल लियो अलखान, लिखपत्री कनवज को॥
कहौ बेग संदेश, आल्हा-ऊदल आवहि तुरत।
लेत सम्भरी देश, लै आवहि दल साल कै।

इस पत्र को पढ़कर आल्हा कहता है कि उस समय जब माहिल के कहने से मेरे परिवार को परिमाल देव ने हमारा परित्याग करके महोबा से निकाल दिया था अब क्या मुख लेकर मैं अपनी जन्मभूमि महोबा जाऊँ। तब उस महान वीर को समझाते हुए जयचन्द्र ने कहा—

छप्पै

कर बैश्या से प्रीत रीति निज कुल की त्यागै।
परधन पर तिय दीठ-पीठ दे रण से भागै॥
कुटिल कुकर्मी क्रूर बड़ों की सीख न मानै।
निज स्वारथ के हेत द्रोह मित्रों से ठानै॥
गुरु स्वामी-मित्र अपघात कर, पर दुख देखत सुख लहे।
कहै कवि जितेन्द्र रौरव नरक, कल्प-कल्प-कलपत रहे॥

सब बातों को सोच-विचार कर आल्हा-ऊदल सदल-बल पृथ्वीराज चौहान से युद्ध करने हेतु तत्पर होकर महोबा को प्रस्थान कर देते हैं तथा अपने वीर साथियों के प्राणोत्सर्ग के साथ अपनी जन्मभूमि महोबा की रक्षा करते हैं। यह लड़ाई आल्हा ने किसी राजा के लिए नहीं लड़ी यह कोई अहंकारियों, राजनीति या स्वार्थ की लड़ाई नहीं थी। आल्हा-ऊदल ने यह युद्ध हमसब आम लोगों के स्वाभिमान की रक्षा के लिए लड़ी थी। जगनिक कवि ने परिमाल रासौ तथा आल्हाखण्ड दोनों काव्यों में आल्हा के सौर्य, पराक्रम, अपनी संस्कृति तथा माटी की रक्षा के संघर्ष की कहानी है।

यह गुण आल्हा के मानवीय गुणों, राष्ट्र के प्रति समर्पण तथा अपनी मूल संस्कृति को बचाने की चिन्ता का संघर्ष चित्रित करता है। आल्हा ने हमेशा परिमाल देव को स्वार्थ चिन्तन तथा माहिल की कुटिल राजनीति का विरोध ही किया, अपितु हमेशा युद्धों से विरत रहने की सलाह भी दी। अगर वह महोबा लौटकर आये भी तो अपने किसी स्वार्थवश ही नहीं, अपितु जेजाक भुक्ति (बुन्देलखण्ड) के जन-जन की पुकार उनको सत्य की इस लड़ाई हेतु उन्हें प्रेरित करती है। क्योंकि निम्न छप्पै में पृथ्वीराज ने जो मांगे रखी वह आज भी बुन्देली स्मिता के मूल तत्व हैं—

छप्पै

लिखो नौ लखा हार और घोड़ा हर नागर।
नगर महोबा पान खान, अरू कीरत सागर।
कालीजर को किला, सु बैठक खजुराहो की।
पन्ना रतन खदान व चौकी जिवराहे की॥
चन्द्रावलि डोला लिखो, आभूषण पारस मणि।
कहै कवि जितेन्द्र, सब वस्तुएं लिखि दीन्ही सम्भर धनी॥

अगर यह सब पृथ्वीराज को युद्ध न करने के प्रस्ताव में दे दिया जाता तो बुन्देली कहावत के अनुसार "धन व धरम" दोनों चला जाता क्योंकि धन के साथ बुन्देली स्मिता की प्रतीक हमारी बेटी चन्द्रावली की मांग भी सम्मिलित थी जो आल्हा-ऊदल को भाई मानकर राखी बांधती थी। आल्हा लोकगाथा गायक मल्हना रानी द्वारा भी संदेश आल्हा-ऊदल को भेजने का गायन करते हैं—

पाती लिख दई मल्हनारानी,
नैनन बहै नीर के धार।
शुभश्री आल्हा को लिख दई,
लिखी बात सब ब्यौरेवार॥
दसलाख दल लेकै महोबा घेरो,
हयां पर आय पिथौरा राय।

तुम बिन विपति हम सब का परगै,
बेटा हमका लेव बचाय॥
विलख-विलख चन्द्रावली लिखती,
बीरन बेंदुला के असवार।
इज्जत राखौ मल्हना माता कै,
और राखियो धरम हमार॥
इज्जत गये पानी ढ़र जैहै,
बिना पानी जीवन को धिक्कार।

आल्हा की जन-जन तक पहुँच व लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण है कि यह सूरवीर के पराक्रम की लोकगाथा है जो वीररस से तथा बहुत ही ओजस्वी शब्दों में गायी जाती है। इसमें वीरता ही नहीं आल्हा-ऊदल के रूप में उस समय के आम आदमी के राजा के प्रति विद्रोह की स्वर भी स्फटित होते हैं। आम आदमी के शौर्य व मर्यादा के रक्षा हेतु त्याग, बलिदान, न्याय आदि की स्थापना की गाथा का भी प्रस्तुतीकरण इसमें होता है। इसलिए पुरुष समाज इस लोक गाथा को बहुत ही पसन्द करता है। आल्हा लोक गायक जब वीररस के इन छंदों से इन युद्धों का वर्णन करता है तो भुजाएं फड़कने लगती हैं, तथा लोकहित धर्म का वर्णन सुनकर वाह-वाह कह उठते हैं। ऊदल अपने बड़े भाई आल्हा से कहते हैं:—

छप्पै

तात कहत हौ बात प्रात पित्थल मद खण्डौ।
ये उदण्ड भुजदंड तौल मुन्डन महि मण्डौ॥
झुण्डन झुंड, वितुण्ड सुण्ड असि रूण्ड बिदौण्डौ।
छल छण्डौ छल छण्डि कुण्ड श्रोणित भरभण्डौ॥
यह पुण्यं लहौं भूखण्ड में
खण्ड-खण्ड अरि दल दलौ।
कहै कवि जितेन्द्र कोदण्ड गहि
खड्ग लिए रण का चलौ॥

इसी लेखन के प्रसंग में अगर बुन्देलखण्ड में जन्में महाकवि तुलसी जिन्होंने अपना पूरा जीवन अवध की तपोभूमि वाराणसी में रहकर राम को समर्पित कर दिया, देश ही नहीं विदेश में उनकी ख्याति "रामचरित मानस" की गाथा से फैली। इनका भी जन्म पुण्य भूमि बुन्देलखण्ड में हुआ था। भाषा सौन्दर्य जो अवधी में हैं तथा 14वीं, 15वीं शताब्दी की यह रचना अद्वितीय है परन्तु आल्हाखण्ड की भाषा पूर्ण इस क्षेत्र की विशेष भाषा है जो सूरशेनी कही जाती है तथा आज भी बाँदा, हमीरपुर, चित्रकूट, महोबा जनपद में जन-जन की भाषा है। आज भी लोक गायक इस लोक गाथा को बाचिक परम्परा के अन्तर्गत संजोये हुए हैं। आल्हाखण्ड की पूरी प्रतियाँ आज भी भारतीय संगीत नाटक ऐकेडमी दिल्ली में सुरक्षित हैं।

सब मिलाकर जो कुछ लोग आल्हाखण्ड को परवर्ती कविता के संकीर्ण दायरे में मानते हैं। यह पूरा शिष्ट काव्य है, जिसमें पूरा उदान्त मूल्यबोध इस काव्य में है। कुल मिलाकर आल्हा काव्य कथा गायन की शैली का उत्तम लोकप्रिय गाथा काव्य है तथा जन-जन की समग्र विरासत और लोक संस्कृति व अस्मिता का प्रतिनिधि काव्य ग्रन्थ है।

केरल का लोक संगीत-पुल्लुवन पाट्टु

डॉ0 के0 शशि कुमार

एसोसिएट प्रोफेसर,

कर्नाटक गायन, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारत के केरल प्रान्त के पुल्लुवन नामक अनुसूचित जाति के पुरूष वर्ग को पुल्लुवर नाम से जानते हैं। वे हिन्दू धर्म को मानते हैं। पुल्लुवा जाति में अनेक उप जातियाँ है। जिनमें मुख्य रूप से पाई जाने वाली जाति को नागमपाटिकल (जो सर्प गीत गाते हैं) के नाम से जाना जाता हैं। नागमपाटिकल के अतिरिक्त कुछ और पुल्लुवर हैं जो प्रेतमपरिकल (जो भूत-प्रेत के गीत गाते हैं) के नाम से जाने जाते हैं।[1] पुल्लुवर के अधिकांश शैलियां धार्मिक कर्म - काण्डो से पोषित है। उनके अधिकांश गीत पूजा, कर्म-काण्ड, परम्परा व प्रार्थना (बुरी आत्माओं को दूर करने के लिए की जाने वाली प्रार्थना) पर आधारित होता है। पुल्लुवा कला सर्प-पूजा, प्रेत-पूजा तथा जादू-टोना पर विषयाधारित होता है।

केरल प्रान्त की पुल्लुवर सर्प पूजा के अधिक निकट होती है। इनमें एक वर्ग के लोग सर्प के देवता को अपना प्रधान देव मानते हैं तथा उनके लिए बलिदान व अनेक गीत गाते हैं। जिन्हें पुल्लुवन पाट्टु के नाम से जाना जाता है, जो अनुसूचित जाति के लोगों के साथ ही उच्च जाति के लोगों के घरों तथा सर्प मन्दिरों में गाये जाते है।

सर्प मन्दिरों एवं सर्प वृक्षों में पुल्लुवर द्वारा गाये जाने वाले गीतों को सर्पपाट्टू, नागम्, पाट्टू, सर्पम् थुल्लल, सर्पोत्सवम्, पामबाटम थुल्लल या पाबाटम् कालम् के नाम से जाना जाता है। इसका प्रमुख पक्ष मुल्लुथरा देवी मन्दिर का कलमेज़हूथ (कालम् का चित्र, कर्म-काण्ड), गीत और नृत्य होता है।

उस घर की औरतें जहाँ ये धार्मिक कर्म-काण्ड सम्पन्न किये जाते हैं, वे सर्प नृत्य (सर्पम् थुल्लल) करती हैं। नृत्य के सात या नौ दिन पूर्व ही वे व्रत - पूजन प्रारम्भ कर देते है। अशुद्ध वस्तुओं का सेवन वर्जित कर देते हैं।

पन्डाल जहाँ नृत्य किया जाना होता है उसे वे केले के पत्ते, गुड़हल के फूल, चमेली के फूल, कमल के फूल, चम्पा के फूल, नारियल के फूल,बरगद के पेड़ की पत्तियों व सुपारी के वृक्ष की पत्तियों से सुसज्जित करते हैं। सर्प चित्र को वे सफेद चावल के चूर्ण तथा रंगीन चूर्ण (काला, लाल, हरा, पीला) से बनाते हैं।

पुल्लुवर, सर्प चित्र के पास धार्मिक कर्म-काण्ड आदि क्रियाएँ एक निश्चित क्रम में सम्पन्न करते हैं। नाग देवताओं के अलग-अलग नाम होते हैं जैसे - नागराजवु, नागयक्षी, सर्पयक्षी, मनीनागम, ईरी नागम्, करी नागम्, परानागम् और कन्यावु। दो महिलाएँ जो नाग का प्रतिनिधित्व करती हैं, वे कालम् के पास हाथों में ऐरिका का फूल लेकर फर्श पर बैठती हैं।

कालम के समक्ष सर्प पूजा की जाती है तथा नूरम पालूम अर्थात् चूने का घोल (मुल्ला धारा देवी मन्दिर में) अर्पित किया जाता है। पूजा के बाद घर

1. Sreedhara Menon, A. Kerala Charithram. Kottayam, Kerala: D.C. Books. p. 494

का मुखिया जो सर्पम् थुल्लल संचालित करता है, कलाकारों को ऐरिका के फूलों का गुच्छा प्रदान करता है, तत्पश्चात वे नृत्य प्रारम्भ करते है। ऐसा माना जाता है कि वे सर्प देवता को नैवेद्य अर्पित करते है जिन्हे वे स्वीकार कर भक्तों को आर्शीवाद देते है। धीरे-धीरे नृत्य की तीव्रता बढ़ती जाती है। ऐसा लगता है कि मानो भक्त लोग जिस उद्देश्य को लेकर नृत्य करते है वह पूरा हो जाता है। वे इतने आनन्दमय हो जाते है कि स्वयं को भूलकर फर्श पर गिर जाते है तथा कालम् को मिटा देते हैं। मुल्लुथरा देवी मन्दिर सर्पम् थुल्लल मन्दिरों में गायी जाने वाली पारम्परिक पुल्लुवरी गीत अईलिम (अशलेष नक्षत्र) पूजा पर भी गाया जाता है, जो बहुत ही शुभ दिन के रूप में माना जाता है। अशलेष नक्षत्र के देवता भी सर्प होते हैं।

पुल्लुवर द्वारा प्रयुक्त सांगीतिक वाद्य पुल्लुवन वीना (एक तन्त्री वायलीन), पुल्लुवन कुडम् और थालम् है। ये वाद्य पुल्लुवर द्वारा स्वयं बजाये जाते हैं। वीना खोखले बांस की लकड़ी, लकड़ी की छाल, और तांबे के तार से बनाये जाते हैं। वीना बांस की ही लकड़ी के छोटे से छड़ीनुमा डण्डी से बजायी जाती है। तथा कुटम् घड़े के आकृति का होता है जिसमे लकड़ी की छड़ी लगाकर तार से बांध दिया जाता है।

केरल के प्रमुख मन्दिर जहाँ सर्प पूजा की जाती है - मन्नारशाला (अल्पुजा जिला), वेट्टिकोड (अल्प्पुजा जिला), कन्नान्नूर देवी मन्दिर (चेन्नईधला, भावेलीकर, अल्प्पुजा जिला), पाम्बूमेकाट (त्रिचूर जिला), त्रिप्पारा मन्दिर (कोल्लम जिला) और पेरलाशेरी मन्दिर (कन्नूर जिला) अत्यन्त प्राचीन मन्दिर है। जहाँ सर्प पूजा की जाती है। वल्लूवनाड के दौरान कर्म-काण्ड बहुत ही विस्तृत रूप से की जाती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. श्रीधर मेनन, ए केरला चेरीथरम् कोट्टयम, केरला : डी0सी0 बुक्स, पृष्ठ - 494
2. रिचुअल म्यूज़िक एण्ड हिन्दू रिचुअल्स ऑफ केरला, नई दिल्ली : बी0आर0 रिदम्स।
3. ''म्यूज़िक'' : Keral.com& आर्चिव्ड फ्रॉम द ओरिजिनल ऑन 2 अगस्त 2008. रिट्राइव्ड 2 जनवरी 2009।
4. ''म्यूज़िक'' : Keral.com& आर्चिव्ड फ्रॉम द ओरिजिनल ऑन 2 अगस्त 2008. रिट्राइव्ड 2 जनवरी 2009।
5. के0 प्रदीप (25 अप्रैल 2008), ''फैमिली अफेयर'' चेन्नई, इण्डिया : द हिन्दू. रिट्राइव्ड 2 जनवरी।
6. एल0एस0 राजगोपालन, ''द पुल्लुवन्स एण्ड देअर म्यूज़िक'' द जर्नल ऑफ द मद्रास म्यूज़िक अकेडमी 51 : 72-80, 1980।

बुन्देलखण्ड का सांगीतिक परिचय

डॉ. बीना श्रीवास्तव

एसोसिएट प्रोफेसर, डी.पी.पी.जी.,कॉलेज उरई

संगीत तथा मानवजीवन का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। संगीत एक ऐसी नैसर्गिक ललित कला है, जिसमें स्वर तथा लय के माध्यम से मनुष्य अपने अन्तर्निहित भावों को अभिव्यक्त करता है। सामान्यतः संगीत' शब्द से केवल गाने का बोध होता है। किन्तु वास्तव में संगीत, स्वरों की माधुर्यपूर्ण तथा अमृत सदृश्य मीठी रचना को कहते हैं जिसने, मन, चित्त, आत्मा को क्रमशः असीम आनन्द, अमित सुख तथा परम शान्ति की अनुभूति होती है। संगीत शब्द की निष्पत्ति गीत' शब्द में 'सम' उपसर्ग लगने से हुई है जिसका अर्थ है, गायन के सहित। अर्थात् अंगभूत क्रियाओं के साथ हुआ कार्य (गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते) संगीत कहलाता है।

लोक तथा वेद से अनुस्यूत सामाजिक धरातल पर संगीत के दो रूप-लोक संगीत तथा शिष्ट या शास्त्रीय संगीत हैं। शास्त्रीय संगीत जहाँ संगीताचार्यों द्वारा स्थापित संगीत शास्त्र के कठिन नियमों तथा मानदण्डों से अनुशासित होता है वहीं लोकसंगीत अपने प्रकृतितः स्फूर्त स्वर-लहरियों में उच्चरित। एतद्विषयक् पंडित कुमार गन्धर्व का विचार अपेक्षणीय है, "शास्त्रोक्त' संगीत में भावना को स्वरों में व्यक्त करने के लिए सम्पूर्ण शक्ति खर्च करनी पड़ती है, परन्तु बहुत कम गायकों को भिन्न-भिन्न स्वरूपों को व्यक्त करने की कला हस्तगत हुई है, जबकि लोक गायक उसे सहज ही व्यक्त कर देते हैं।

लोक संगीत के नैसर्गिक प्रवाह तथा समष्टि में इसकी परिव्याप्ति को रेखांकित करते हुए राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने लिखा है—लोकगीतों में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियाँ गाती हैं, फसलें गाती हैं, उत्सव और मेले, ऋतुएं और परम्पराएँ गाती हैं। बुन्देली लोक संगीत भी इस परिभाषा के आलोक में खरा उतरता है। बुन्देली धरती पर यह प्रकृत संगीत सहज ही बिखरा है। बुन्देली माँटी की निजी सुगन्ध से सुवासित इन गीतों की जड़ें सुदूर अतीत तक जाती हैं।

देशी संगीत के विकास की पृष्ठभूमि लोकसंगीत है। शास्त्रोक्त संगीत को शास्त्रकारों ने 'देशी संगीत' कहा। 'मतंग' विरचित 'वृहद्देशी' ग्रन्थ देशी संगीत का प्रामाणिक तथा प्राचीन ग्रन्थ है। पं० कुमार गन्धर्व के शब्दों में "यदि शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति लोक-संगीत से हुई है, तो निश्चय ही लोक-संगीत अपने आप में पूर्ण होना चाहिए। लोक-संगीत का निर्माण स्वाभाविक है! इसको समझकर जब हम विश्लेषण करके नियमबद्ध करते हैं, तब वह लोक से हटकर 'शास्त्रीय' रूप धारण करता है।"

उपर्युक्त धारणा लोकसंगीत मात्र के लिए ही नहीं वरन् बुन्देली लोकसंगीत भी इससे अनुस्यूत है।

बुन्देलखण्ड की संगीत-परम्परा अत्यधिक पुरातन है। विश्वविश्रुत संगीतज्ञ, राग-रागिनयों के सर्जक तानसेन तथा बैजू बावरा की जन्म तथा साधनास्थली होने का गौरव इस भूमि को सहज ही प्राप्त है। इसी से यहाँ की संगीत परम्परा की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है।

बुन्देलखण्ड के जिला टीकमगढ़ की वयोवृद्ध संगीत साधिका, श्रीमती असगरी बाई ध्रुपद-गायिका, जो लोकसंगीत में भी गहरी पैठ रखती हैं, का कहना

था कि, "संगीत जब स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरा तो सबसे पहले बुन्देलखण्ड में उतरा होगा। पारम्परिक लोकगीतों को गाते व सुनाते समय वे यह भी बताती थी कि अमुक लोकगीत में अमुक राग की छाया है। अर्थात् बुन्देलखण्ड का कोई भी पारम्परिक लोकगीत हो, उसकी धुन को ध्यान से सुनने पर हमें किसी न किसी राग का जड़-बीज मिल ही जायगा। बुन्देली लोकगीतों के गाने-बजाने के लिए ऋतुएं, अवसर, समय आदि ठीक उसी प्रकार निर्धारित है, जिस प्रकार-राग-रागिनियों के गाने-बजाने का समय, काल। और वह समयानुसार ही अच्छी लगेंगी। एतद्विषयक् लोककवि ईसुरी का दृष्टिकोण है—

"भौतई बुरो लगत हैं 'ईसुर' बे अवसर को बाजौ।

वस्तुतः होली के अवसर पर या फागुन मास में ही फाग गाई जाए तो उसका प्रभाव अधिक पड़ेगा अपेक्षाकृत अन्य अवसर से। 'गोटें' (गायकी का एक प्रकार) हर समय, हर जगह नहीं गाई जातीं। भादों की चौथ पर, देव चबूतरे पर, पूजा के अवसर पर ही ढॉक के साथ गाई जाती है। बुन्देलखण्ड के कई गाँवों में जहाँ बलि का आयोजन किया जाता है उस समय जो धुन गाई जाती है उसकी स्वर-रचना में वीभत्स भावों का संचार होता है। जब उसमें ऋषभ का चमत्कारिक प्रयोग होता है तब व्यक्ति रोमांचित हो उठता है। ठीक इसी प्रकार झूले की धुनों में झूले के दोलन बहुत स्पष्ट और मार्मिक प्रतीत होते हैं। पं0 कुमार गन्धर्व ने लिखा है, "लोकधुनों के स्वर समय के अनुरूप होते हैं। प्रातःकाल मध्याह्न, सायंकाल और रात्रि के अनुसार, स्वर-साम्य लोकधुनों में स्वाभाविक हैं। शास्त्रोक्त संगीत में यह अत्यन्त महत्व का विषय समझा गया और रागों का समय विभाजन इनके स्वरों के अनुसार किया गया।

यदि हम काव्य को संगीत का ही रूप मानकर चलें, तब तो प्राचीनकाल में भक्ति-भुक्ति के नाम से प्रसिद्ध बुन्देलखण्ड में चन्देलकालीन जनकवि 'जगनिक' को लोकगीतकार के रूप में सदैव याद कियां जाता रहेगा। जगनिक का 'आल्हखण्ड' अब भी बरसात के दिनों में चौपालों से लेकर शहरों के गलियारों तक बड़ी मस्ती में गाया तथा सुना जाता है।

मुगल सम्राट अकबर के दरबारी संगीतज्ञ तानसेन को संगीत-सम्राट के रूप में याद आते ही बुन्देलखण्ड का मस्तक गर्व से ऊँचा उठ जाता है। चन्देलकालीन महाप्रतापी राजा 'धंग' के शासनकाल में भिलसद (भेलसा-विदिशा) से लेकर गोपगिरि (ग्वालियर) को तानसेन की साधना स्थली होने का गौरव प्राप्त है। उन्होंने अनेक राग-रागिनियों का निर्माण किया। तानसेन घराने की अविछिन्न परम्परा-प्रवाह आज भी दिखाई देता है। प्रसिद्ध सितारवादक विलायत खाँ तथा गायक स्व. नासिर खाँ आपके ही घराने के उस्ताद रहे हैं।

अमरकृति रामचरित मानस के रचनाकार प्रायः स्मरणीय महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी इस धरा-धाम की मुकुटमणि हैं। कवि शिरोमणि द्वारा रचित चौपाई, दोहा, छप्पय, छन्द, सवैया, सोरठा, नहछू तथा मंगलगीत आदि की लयबद्ध लोक एवं शास्त्रोक्त गायकी सर्वत्र सुनाई पड़ती है।

बुन्देलखण्ड की रियासतों का भी इस क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान रहा है। दतिया, ओरछा, पन्ना, बिजावर, समथर, बिजना, टीकमगढ़ आदि आज भी संगीत, चित्र तथा उत्कीर्णकला साधना के अप्रतिम कलाकेन्द्र माने जाते हैं।

डंगरियायी दादरा, ध्रुपद-धमार तथा लेद की गायकी में दतिया ने अपना विशिष्ट स्थान रखा है। ख्याल की गायकी का तो दतिया प्रमुख केन्द्र ही था। 'लेद' दतिया की निजी पहचान है, अपना गौरव है। यह देश के दूसरे भागों में नहीं सुनाई पड़ती है। दतिया की शासन परम्परा में महाराजा भवानी सिंह तो एक अद्वितीय उदाहरण रहे उनके समय में मुगल बादशाह अकबर की भाँति दरबार में नवरत्न की परम्परा प्रचलित थी।"

बुन्देली संगीत-गायकी में कलात्मकता की दृष्टि से क्रमशः लेद, डिंगाई के दादरा और रसिया का विशेष स्थान है। लेद गायकी की कलात्मकता पर विचार करते हुए उपन्यास सम्राट श्री वृन्दावन लाल वर्मा ने लिखा है—लेद इकताले से शुरू होती है। गवैया मौज के साथ राग-रागिनी की तानों पर ताने लेता है, आलाप करता चला जाता है, फिर ऐसी कारीगरी के साथ इकताले को दादरे की ताल में परिणित कर देता है, और लय इतनी द्रुत हो जाती है कि उसके कमाल पर आश्चर्य होता है। भारतीय संगीत को दतिया की यह भारी देन है।

ध्रुपद-धमार की गायकी तथा गायक के सम्बन्ध में विचार करते हुए डॉ0 महेन्द्र ने लिखा है—ध्रुपद-धमार के गायकों में लातावारे (भ्रातद्वय) गज्जू राउत, सीताराम बिलथरिया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय

हैं। ख्याल और दादरा आदि की गायकी में बुन्दू खाँ भी बेजोड़ थे। तीन सप्तक तक की गायकी में उनकी कोयल जैसी मिठास विद्यमान थी। कंठ का सुरीलापन व गायकी की परिपक्वता दोनों के संगम थे बुन्दू खाँ, दतिया नरेश महाराज भवानी सिंह के दरबार के प्रसिद्ध संगीतज्ञ 'लालाराम' बुन्देलखण्डी लेद और डंगरियायी दादरा के ज्ञाता थे। और गायकी में अपना विशिष्ट स्थान रखते थे।

वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई के पति महाराज गंगाधर राव तथा उनके अग्रज महाराज रघुनाथ राव जी झाँसी की संगीत परम्परा के उत्थान के लिए सदा स्मरणीय रहेंगे। झाँसी की शान तथा गायकी में बेजोड़ स्व. उस्ताद आदिल खाँ व मास्टर पुरन्दरे अपनी लयकारी युक्त गायकी के लिए प्रसिद्ध हैं। उस्ताद आदिल खाँ को संगीत की शिक्षा अपने पिता विलास खाँ से मिली। दतिया की लेद, ठुमरी, दादरा, ध्रुपद आदि के सिद्धहस्त गायक आदिल खाँ साहब बुन्देलखण्ड की संगीत परम्परा में अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। जबड़े की गायकी, उनकी विशेषता थी। उपन्यास सम्राट बाबू वृन्दावन लाल वर्मा, खाँ साहब की इज्जत तथा उनके हुनर की कद्र करते थे। इसीलिए उन्होंने अपने 'मृगनयनी' उपन्यास में 'बैजूबावरा' के रूप में अपने संगीतज्ञ मित्र आदिलखाँ को ही प्रस्तुत किया है।

मास्टर पुरन्दरे को संगीत की शिक्षा पं0 विष्णुनारायण भातखण्डे से मिली थी। आप ध्रुपद-धमार एवं ठुमरी के अप्रतिम गायक थे। आपकी शिष्य परम्परा में श्री रामेश्वर दयाल सक्सेना तथा शंकर राव पान्से का नाम उल्लेखनीय है। ग्वालियर घराने के जाने माने शास्त्रीय गायक 'राजा भैया पूंछ वाले' बुन्देलखण्ड में गायकी में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

दतिया के आल्हागायक गंगोले उर्फ गंगाधर श्रीवास्तव पूर्ण रूप से समर्पित कलाकार थे। आल्हा गायकों में दमरू महाराज, जोधा और रामदयाल के नाम भी चर्चित हैं। आल्हा गायकी की बारीकी पर विचार करते हुए, महेश कुमार मिश्र ने लिखा है कि दतिया में आल्हा गान का प्रारम्भ 'साखी' से होता है। इसके लिए 'पीलू राग' से मिलते-जुलते 'मल्हार' नामक लोकधुन के स्वर निश्चित हैं। इन स्वरों के आधार पर प्रसंगानुकूल साखी गाई जाती है। 'लय' प्रायः मध्य विलम्बित रहती है; और मृदंग पर ठेका बजाया जाता है। बुन्देली क्षेत्र में आल्हा गायकी में विविधता मिलती है। महोबा की आल्हा गायकी की अपनी अलग पहचान है।

घंटा पांडे नाम से चर्चित स्व. रामसिंह पाण्डे अपने समय के ध्रुपद, ख्याल, तराना आदि के सिद्धस्त गायक थे। लोक तथा शास्त्रीय संगीत के सशक्त हस्ताक्षर 'श्री अमरदान जी' ग्राम पचोखरा जिला जालौन अपनी संगीत साधना में रत हैं। उरई के 'पं0 प्रभुदयाल मिश्र' तथा उनकी शिष्य परम्परा में 'श्री विश्वनाथ श्रीखण्डे' आज भी संगीत साधना में रत हैं। यहीं की लोक गायिका 'श्रीमती पूरन देवी' को लगभग एक हजार परम्परागत बुन्देली लोकगीत कंठस्थ थे।

बुन्देलखण्ड की संगीत गायन परम्परा के साथ ही यहाँ की वादन परम्परा भी बेजोड़ रही है। सारंगी वादकों में पन्ना जागंड़ा, हस्सू खाँ तथा नत्थू खाँ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पन्ना जागंड़ा का सारंगी में गायकी शैली का चमत्कार विशेष स्थान रखता है, प्रसिद्ध पखावजी कुदऊं सिंह (कुदऊं महाराज) की उंगलियों की गति पर पखावज नर्तन करता सा जान पड़ता था। पखावज बजाते समय वे अपने दोनों हाथों से उसे ऊपर उछाल देते थे तथा फिर-सम पर पखावज को पुनः अपने हाथों में ले लेते थे। ये दृश्य दर्शकों को विशेष रूप से प्रभावित करता था, कहा जाता है कि एक बार इन्होंने समथर नरेश के यहाँ मदमस्त हाथी को पखावज पर गजपरन बजाकर वश में कर लिया था।

योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र धुन्नू ने तबला वादन में वही निपुणता हासिल की थी जो उनके पिता पन्ना जागंड़ा ने सारंगी वादन में। धुन्नू के अलावा भुंभी भी एक अच्छे तबला वादक थे, श्री राम प्रसाद जी हारमोनियम के अप्रतिम कलाकार थे; हारमोनियम वादन में इन्होंने अनेक नये प्रयोग भी किये। हारमोनियम बादन की कला में 98 वर्षीय कालीचरण-मास्टर को महारथ हासिल थी। सारंगी वादन में मास्टर गिरधारी लाल एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। वहीं श्री एम. डी. शृंगी ऋषि वायलिन वादन में अपनी सानी नहीं रखते।

ढोलक वादन में भी बफाती खाँ का अपना विशेष स्थान है।

'महाराज बिजना' 'श्री छत्रपति सिंह जी' ने पखावज वादन में बुन्देलखण्ड की धरती को गौरवान्वित किया है। उनके प्रखावज में कुदऊ महाराज की प्रतिभा की झलक मिलती है। इस प्रकार वादन के क्षेत्र में बुन्देलखण्ड का अप्रतिम स्थान है।

संगीत की अंगीभूत क्रियाओं में गायन वादन पर पर्याप्त विचारोपरान्त इसके तीसरे अंग नृत्य पर यहीं विचार करना समीचीन जान पड़ता है। भारतीय शास्त्रीय नृत्यों में भरतनाट्यम, कत्थक, कथकली, मणिपुरी आदि का विशेष स्थान है, जिसमें गायन, वादन तथा नृत्य का शास्त्रीय समवेत रूप देखने को मिलता है। इन शास्त्रीय नृत्यों के अलावा प्रत्येक प्रदेश तथा क्षेत्र के अपने नृत्य भी हैं, जो अपनी क्षेत्रीय तथा जातीय विशेषताओं से अभिव्यक्ति होते हैं।

लोकनृत्य का आरम्भ कब और कैसे हुआ यह कहना कठिन है फिर भी यह सभी कलाओं में यहाँ तक कि वाक् कला से भी अति प्राचीन है। कदाचित् सृष्टि के आरम्भ में भावहीन मानव ने भाव-प्रकाशन के लिए शरीर से हाव-भाव का आश्रय लिया होगा। कालान्तर में भाव-प्रकाशन की इन्हीं सार्थक मुद्राओं का नाम नृत्य पड़ा होगा, ऐसा जान पड़ता है। नृत्य के आदि आविष्कारक लोक-देवता शिव-पार्वती कहे जाते हैं। जिन्होंने ताण्डव व लास्य नामक नृत्य की संरचना की। अतः शास्त्रोक्त नृत्य का जन्म लोकनृत्य की कुछ से होना स्वतः प्रमाणित है।

बुन्देलखण्डी लोकनृत्य की परम्परा अति प्राचीन है। बुन्देलखण्ड के सुदूर ग्रामीण अंचलों, पर्वत-उपत्यकाओं तथा वन्य श्रेणियों में बसे आदिवासी जन अपने विभिन्न पर्व, त्यौहारों को परम्परागत नृत्यों से सजाते, संवारते तथा सोल्लास मनाते हैं। इन नृत्यों में दीवारी नृत्य अपना विशेष स्थान रखता है। इस नृत्य में शृंगार भावना की अपेक्षा वीरता का भाव अत्यधिक प्रदर्शित होता है, जो बुन्देली माटी की निजी विशेषता है।

आदिवासी स्त्री-पुरुषों द्वारा कदम्ब-पेड़ के चारों ओर वृत्ताकार नृत्यायोजन होता है। जो कृष्ण की रासलीला की भावना को प्रत्यक्ष उजागर कर देता है। 'मादर' की ध्वनि से मदमत्त इन आदिवासियों के थिरकते अंग-प्रत्यंग अपनी विभिन्न भाव-भंगिमाओं से कृष्ण-लीलाओं को सहज ही पुनर्जीवित कर देते हैं। उनके इस नृत्य को 'करमानृत्य' कहते हैं, जो भावाकर्षक तथा अत्यन्त प्रभावपूर्ण होता है।

'सुआनृत्य आदिवासियों का परम्परागत नृत्य है। इनकी स्त्रियाँ थाली में मिट्टी के तोते को रखकर घर-घर जाकर समूहबद्ध हो ताली की लयात्मक ध्वनि पर भावपूर्ण नृत्य किया करती हैं।

शास्त्रोक्त नृत्य जहाँ शास्त्रीय मानदण्डों पर आधारित आडम्बर युक्त बौद्धिक साधना है, इसके विपरीत लोकनृत्य हृदय के प्राकृतिक गुणों के आडम्बरहीन आलम्बन हैं। इसके अभिव्यक्तिकरण ने जीवन को सरसता प्रदान कर लोक-संस्कृति और कला को युग-युग से सुरक्षित रखा है। शांति अवस्थी के उपर्युक्त कथन का आलोक बुन्देली लोकनृत्यों में देखने को मिलता है। विवाहादि-संस्कार, जन्मोत्सव, पर्व-त्यौहार तथा मांगलिक अवसरों, पर बुन्देली-स्त्रियाँ सामूहिक रूप से अपने हृदयगत उल्लास को नृत्य तथा गीतों में अभिव्यक्ति करती हैं। इनका यह नृत्य आडम्बरहीन प्रकृतिः होता है, ज ो कलात्मक नृत्य से अत्यधिक आह्लादकारी तथा प्रभावपूर्ण होता है।

बुन्देलखण्ड जातीय नृत्यों से भरा पड़ा है। आज भी ढीमर, धोबी, कंजड़, चमार, बसीर, मेहतर, ग्वाला, गौंडवेंगा आदि जाति के लोक विभिन्न पर्व-त्यौहार, जन्मविवाहादि अवसरों पर अपने परम्परागत-नृत्यों का प्रदर्शन कर मन को मोह लेते हैं। बुन्देलखण्ड के ग्वाले दीवाली के अवसर पर श्री कृष्ण लीला से सम्बन्धित नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। यहाँ की यह परम्परा अति प्राचीन है यहाँ के कृष्ण के दही चुराने की लीला पर आधारित 'अहारी नृत्य' अपना विशेष स्थान रखता है। पुत्र-जन्मोत्सव तथा विवाहादिक अवसरों पर हिजड़े अपनी हास्यपूर्ण भंगिमाओं तथा विशेष प्रकार के गीत व नृत्य द्वारा जनमानस को आह्लादित करते हैं। बसोर जाति की स्त्रियाँ पुत्र-जन्मोत्सव पर सोहर बाधाएँ गाती एवं नाचती हैं।

उपर्युक्त नृत्यों के अलावा बुन्देलखण्ड में देश के अन्य भागों की तरह भिक्षाटन करने वाले लोग बन्दर, भालू, मदारी तथा कठपुतली के नृत्य द्वारा बच्चों का मनोरंजन करते हैं तथा लोक-जीवन को सरस एवं उल्लासमय बनाने में अपना योगदान करते हैं।

ब्रज की संगीत परम्परा

डॉ. इच्छा नायर

रीडर एवं विभागाध्यक्ष,

संगीत विभाग, महिला सेवा सदन डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

ब्रज एक ऐसी भाव भूमि है जहाँ मानव अहंकार का परित्याग कर प्रेमी स्नेही और वात्सल्यमय हो उठता है। ब्रज की अतीत की गौरव गाथाएँ भारतीय—जनमानस के साथ-साथ विदेशी सरसजनों को भी आकर्षित करती रही है। यमुना-पुलिन एवं ब्रज की प्रेम गलियों में आज भी लीलाधरी कृष्ण की मुरली का निनाद गुंजारित होता रहता है। अतीत में तो ब्रजभूमि श्री कृष्णमय थी ही, लेकिन आज का भौतिकवादी वातावरण भी उसकी मधुरिका एवं अनन्य प्रेम—साधना की चमक को कम नहीं कर पाया है।

ब्रज की संस्कृति अति प्राचीन है जिसका उल्लेख पौराणिक ग्रन्थों में भरा पड़ा है। इसी ब्रज में लीलाधारी श्री कृष्ण ने अपनी अद्‌भुत लीलाओं से मानव हृदय को प्रभावित कर देवताओं के मन में भी ब्रज दर्शन की लीला जाग्रत की। भक्ति कालीन कृष्ण-भक्त अष्टछाप के कवियों का समूचा काव्य ब्रज संस्कृति के स्वरूप का भण्डार है। ब्रज संस्कृति अपनी दिव्यता के लिए विख्यात है यह अति उदात्त और प्रभावमयी है।

ब्रज अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए सुविख्यात रहा है। भारतीय संगीत परम्परा में ब्रज के संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण की मुरली से बरसता संगीत आज भी भावुक भक्तों एवं विद्वानों के लिए अनुसंधान का विषय है। महारास का संगीत तो अद्‌भुत और विलक्षण था। ब्रज की संगीत कला का अस्तित्व ब्रज के अस्तित्व में समाहित है इस क्षेत्र में नित्य भगवान श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा की झाँकी उत्सव एवं ऋतु गीत चलते रहते हैं।

ब्रज में संगीत कला के तीनों रूप गायन वादन एवं नर्तन की सुसमृद्ध परम्परा है। इनका प्रयोग रास के विभिन्न मंचों पर बड़े ही प्रभावशाली ढंग से होता है, जिसे शास्त्रीय एवं लोक व्यवहार के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। गायन एवं नर्तन में हारमोनियम, ढोल-ढोलक, डफ तानपुरा जैसे अनेक वाद्य यंत्र ब्रज सगीत-परम्परा को गति देते हैं। इनके अतिरिक्त मुरली वीणा, सारंगी, झांझ आदि संगीत के सुमधुर वातावरण में दिव्यता लाते हैं।

सृष्टि के चर-अचर को मोहने की शक्ति संगीत में है। मुरली की ध्वनि की सरसता और उसके प्रति गोपियों का मोहक रूप इस नाद-सौन्दर्य के प्रभाव का उत्कृष्ट रूप है। ब्रज के संगीत में, संगीत शास्त्र के छः राग एवं अनेक रागिनियों का प्रयोग दृष्टि गोचर होता है।

इसके साथ ही ब्रज में ध्रुपद, धमार गायन भी लगभग पिछले पाँच सौ वर्षों से निरन्तर प्रवाहमान रहा। ब्रज की गान कला को सुसमृद्ध करने में स्वामी हरिदास एवं तानसेन का विशेष योगदान रहा।

ब्रज, भगवान श्रीकृष्ण के महारास जैसे विराट संगीत समारोह के लिए विश्वविख्यात है यही कारण है—ब्रज में संगीत की परम्परा अति प्राचीन है। कृष्ण भक्ति के सभी वैष्णव सम्प्रदायों में ब्रज के रास की अनुपम छटा उपासनीय रही है। निम्बार्कीय, गौड़ीय राधावल्लभीय, हरिदासी आदि सम्प्रदायों में तो गायन, वादन एवं नर्तन की परम्परा आज भी है। ब्रज की गायन परम्परा में शास्त्रीय संगीत के रागों की निबद्धता के अनुसार तालों का भी विशेष ध्यान दिया जाता है। अधिकांश पदों में एकताल, त्रिताल, धमारताल चाचरी ताल, रूपक ताल आदि का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। स्वामी हरिदास जी का चारताल प्रयोग सुविख्यात है। स्वामी हरिदास जी का ध्रुपद-गान तालों में निबद्ध है।

श्री हित हरिवंश द्वारा प्रवर्तित राधावल्लभ सम्प्रदाय के शास्त्रीय संगीत में भी तालों की निबद्धता मनोहारिणी है। श्री हरिराम व्यास जी ने विविध तालों के प्रयोग का उल्लेख करते हुए लिखा है—

गावत गोपाल लाल, मिलवत झपतार ताल'

इसी प्रकार—"रतन कंकन किंकिनी नूपुरा, चर्चरी ताल मिलि मृदंगै

पदों की रचनाएं तालों के प्रयोग के साथ ही वाद्य यंत्रों के उल्लेख हैं, ये पद गेय हैं।

बाजत मृदंग, उघटत सुधंग, तक्कुजिन, कु कु जिन दुमकिटता, दुमुकिटता, दुमुकिट, धिलांग तक।

गायन-वादन के साथ नर्तन का संयोग की मोहक बन पड़ा है। गोस्वामी हितरूप लाल जी की पद रचना दृष्टव्य है—

आज नचत नवल लाल साजि साजि झिन्ना

नाचत नयनाभिराम धकिट-धकिट धिन्ना।

यमुना तट पर आयोजित रास की संगीतात्मकता का स्वरूप इस प्रकार है—

नृत्तत गिरिधरन संग राधिका–

थेई-थेई बदत मान,

उरपि-तिरपि करत गान सरस तान राग रागिनी।

ताल झांझ गति मृदंग, मिलवत बीना उपंग

बाजत नूपुर दल-धुनि॥

नृत्य के साथ वाद्य-ताल और उनके बोलों की स्पष्ट व्यंजना ताल के अनुरूप वर्णित है।

ब्रज संगीत परम्परा में शास्त्रीय संगीत के साथ ही लोक संगीत की भी समृद्ध परम्परा है। लोक-संगीत में कृष्ण की बाल लीलाओं से सम्बन्धित अनेक रसिया, गीत, भक्ति, पद मल्हार फाग आदि मिलते हैं जिन्हें गायकों ने अपनी-अपनी शैली तथा लय-ताल के साथ गाया है।

लोक संगीत में सावन की मल्हार और होली के रसिया ब्रज के लोक संगीत को भक्ति के साथ-साथ मनोरंजनपूर्ण बनाते हैं—

होरी में लाज न कर गोरी।

हम ब्रज के रसिया तुम गोरी,

भली बनी यह जोरी।

ब्रज में संगीत की परम्परा अत्यन्त समृद्ध रही है। संगीत ब्रजरास का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। गायन वादन एवं नर्तन तीनों ही रूपों ने ब्रज के रास को पुष्ट किया है, इतना ही नहीं उसकी रसमयता एवं भाव प्रवणता भी संगीतात्मक राग एवं ताल पर निर्भर करती है।

लोक साहित्य का महत्व और चुनौतियाँ

डॉ0 रामशंकर

सहायक आचार्य, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

लोक साहित्य सदियों से परम्परा में गंगा की भाँति प्रवाहित है। जिसमें निरन्तर समय के परिवर्तन के साथ आवश्यकतानुसार कुछ न कुछ जुड़ता रहता है और जो अनावश्यक होता है वह छूटता जाता है। क्योंकि संस्कृति सतत् प्रवाहित होती है जो छूटता है वह भी धरोहर के रूप में सुरक्षित रहता है और जब इतिहास स्वयं को दुहराता है, तब उसकी प्रासंगिकता हो भी सकती है किन्तु शाश्वत जमीन मूल्य परिवर्तित नहीं होते और उन्हें लोकगीतों की गंगा दूर-दूर तक पहुँचाती रहती है।

लोक साहित्य वह है जीसमें लोक जीवन के अनुभव, विचार, समस्याएं, सुख-दुख और इन सब के समाधान लोक मानव द्वारा सहज, सुगम और मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त होते रहे हैं। लोक साहित्य विश्व की समस्त भाषाओं में मिलता है, जिसमें अपने द्वेष, अपनी संस्कृति, विचारधारा, धर्म-दर्शन, सामाजिक, आर्थिक स्थितियां, जीवन शैली तथा मानव जीवन के समस्त संस्कारों के चित्र होते हैं। इसमें मानवीय परिवेश और मनुष्य के चारों तरफ फैला हुआ प्राकृतिक परिवेश सहज रूप से व्यक्त होता है साथ ही मनुष्य द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड को एक इकाई के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में जीवन व्यवहार और अनुभवों को इतनी विविधता मिलती है कि लोक साहित्य का महत्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

साहित्य की दृष्टि से देखा जाय तो वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के विद्वानों की यही धारणा रही है कि साहित्य का जन्म सर्वप्रथम लोक में हुआ है। जब साहित्य लिखित रूप में उपलब्ध नहीं था, तब भी सामान्य लोग अपने एहसास को व्यक्त करते थे। व्याकरण, भाषा-विज्ञान और काव्य शास्त्र बाद में अस्तित्व में आया। भाषा ही पहले लोक में जन्म लेती है इसलिए विद्वानों ने लोकसाहित्य को शिष्ट साहित्य की पूर्व पीठिका माना है। लोकसाहित्य की इस विशेषता को स्वीकार करना पड़ेगा कि इसे समय के अंतरण के लिए किसी अन्य उपकरण का सहारा नही लेना पड़ता है। श्याम सुन्दर दुबे का कहना है कि "चूंकि कलाओं का उत्सव प्रकृति में है, इसलिए प्रकृति की गतियों और प्रकृति का अभिविन्यास ही लोककलाओं में विन्यस्त है। लोककलाओं में चित्रात्मकता का समावेश जिस संरचनात्मक स्तर पर हुआ है, उसमें केवल साज-सज्जा को ही अक्सर चित्रात्मकता से प्रभावित मान लिया जाता है, जबकि लोककला के समस्त अन्तर्भूत तत्वों की घटना इसी स्थानिक प्रकृति से प्रभावित है। प्रकृति चूंकि उत्सवपरक है, उसकी वर्षा, उसका पतझड़, उसका बसंत, उसकी शीत सब उत्सव ही है। इसीलिए आदिवासी लोककलाएं उत्सव का क्षण होती हैं।" लोककला और लोकसाहित्य में फर्क यह है कि लोकसाहित्य भाषा में व्यक्त होता है, इसलिए भाषा की अपनी शर्तें भी उसे प्रभावित करती हैं। प्रकृति और समाज के सम्बन्ध भी इस प्रसंग में अपनी भूमिका निभाते ही हैं। इसलिए लोकसाहित्य को अन्य लोककलाओं के समकक्ष रखकर नहीं विवेचित किया जा सकता। लोकसाहित्य की अपनी एक मर्यादा भी होती है। यह ध्यान में रखना होगा कि मनुष्य हमेशा उपर उठने की कोशिश करता है। यह गुण उसे प्रकृति से ही प्राप्त हुआ है। इसलिए लोकसाहित्य और प्रकृति का सम्बन्ध स्वतः स्पष्ट है। सवाल यह है कि लोकसाहित्य की सही परिभाषा क्या है। क्या

लोकसाहित्य का सम्बन्ध स्थान विशेष से या फिर काल विशेष से माना जाना उचित है। लोकसाहित्य का वास्तविक लक्षण स्वाभाविकता और सहजता है। उसका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व भी है। श्याम सुन्दर दुबे कहते हैं कि "स्थान-विशेष में घटित होने वाली इन कला प्रपंतियों में स्थान बन्धकर नहीं आता। उसकी मुक्ति प्रकृति के बृहत संसार में होती है। इसलिए लोक की बहुलता में समष्टि भी समायी है। प्रकृति के किसी हिस्से से जुड़ना प्रकृति की विराटता में समाहित होने का उपक्रम है।" लोकसाहित्य का रिश्ता इतिहास के साथ समाजशास्त्र से भी है। जहाँ इतिहास मौन है, वहाँ लोक साहित्य समाज की प्राचीनतम व्यवस्थाओं को समझने का एकमात्र साधन है। इसीलिए लोक साहित्य की अवधारणा के विवेचन क्रम में अन्य पक्षों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

साहित्य शास्त्रियों ने संस्कृति का संबंध सामाजिक चेतना से जोड़ते हुए यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि वह प्रयोजनशील और रूपान्तरणशील होती है। समाजशास्त्री मानव जीवन की विभिन्न पद्धतियों और प्रक्रियाओं को सांस्कृतिक अध्ययन का विषय बनाते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का तर्क है कि "मानव जाति अपने कर्मगत दक्षता को विकसित करने और आधार और विचार में भौतिक दुनिया पर अपना प्रभुत्व कायम करने की प्रक्रिया के दरमियान अपने सौन्दर्यबोध को विकसित और परिष्कृत करती है। वास्तव में मनुष्य अपनी प्रकृति से ही कलाकार है और कलात्मक ढ़ंग से वस्तुओं का निर्माण करता है। उसे वस्तु संरचना में मानदण्ड और अनुपात निहित होता है, लेकिन रंग, ध्वनि, रूप आदि के प्रति राग-बोध तब प्रकट होता है जब सौन्दर्यवोध अत्यधिक सचेतन, सुनिश्चित और अपेक्षतः स्वायत्ता हो जाता है।" इस कथन में सौन्दर्य बोध के लिए विकास पर अधिक बल दिया गया है। एक वैज्ञानिक जिस तरह से संस्कृति को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है, एक समाजशास्त्री उस तरह से उसे नहीं देखता और एक आलोचक का अपना अलग नजरिया होता है। विशेषकर साहित्यिक संदर्भो में अर्थ मीमांसा के अभाव में मूल्य निर्णय करना कठिन होता है और यदि मूल्य निर्णय किया भी जाता है उसके निश्कर्ष प्रायः सही नही होते।

साहित्यशास्त्रियों और वैज्ञानिकों की अपेक्षा समाजशास्त्री संस्कृति शब्द की व्याख्या पर अधिक बल देते हैं। वह यह मानते हैं कि इसका अर्थ बहुत व्यापक है। मानव जाति की समस्त सामाजिक विरासत या मानव की समस्त संचित सृष्टि का नाम ही संस्कृति है। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो संस्कृति में श्रम और उद्यम, कल्पना और कौशल, ज्ञान और विज्ञान द्वारा प्राकृतिक जगत् में जो परिवर्तन उत्पन्न होता है वह संस्कृति का ही अंग है। विज्ञान की संस्कृति संबंधी धारणा का उपयोग समाजशास्त्री करते हैं, किन्तु सांस्कृतिक प्रक्रिया में निहित जैविक प्रक्रिया की सही व्याख्या नही हो पाती। पूरन चन्द्र जोशी ने लिखा है कि"संस्कृति की रचना के मूल में है, मानव और प्रकृति का गतिशील सम्बन्ध, जिसमें सामन्जस्य और द्वन्द दोनों के तत्व और संभावनाएं विद्यमान हैं। मानव बुनियादी रूप से प्रकृति का ही एक अभिन्न अंग है और विविध और व्यापक रूपों में प्रकृति पर ही आश्रित और निर्भर है। मानव और प्रकृति में गतिशील, विकासशील और परिवर्तनशील सम्बन्धों में संस्कृति के बदलते परिप्रेक्ष्य और बदलती अवधारणाएं, बदलती परिभाषाएं निहित हैं। संस्कृति की अवधारणा और परिभाषा जो मानव की विकास के लिए प्रासंगिक है, वह उस आदिम स्थिति के लिए प्रासंगिक नही है। जब मनुष्य का प्रकृति से तीव्र विभेदीकरण नही हुआ और जब मनुष्य की प्रकृति से अभिन्नता सम्पूर्ण थी, खण्डित या आंशिक नही।" अर्थ यह हुआ कि प्रकृति से मनुष्य की भिन्नता पहले की अपेक्षा खण्डित हो चुकी है। इसीलिए संस्कृति मनुष्य और प्रकृति के संबंधों तक हीं सीमित नहीं रखा जा सकता। ध्यान देने की बात यह है कि जोशी इन सम्बन्धों को गतिशील मानते हैं। इस प्रसंग में यह दोहराना जरूरी है कि इस गतिशीलता से संस्कृति अछूती नहीं रह सकती।

संस्कृति अपने आप को प्रदर्शित करने के लिए अपनी शर्तों का निर्माण खुद करती है। लेकिन कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि जिस समाज की संस्कृति जितनी पुरानी और कठोर होती है वह समाज विकास की दिशा में उतना ही मन्थर गति से चलता है। संस्कृति पर अनुकूलन का प्रभाव पड़ता भी है और नहीं भी पड़ता है। संस्कृति न तो

अर्थनिरपेक्ष और न ही राजनीति निरपेक्ष होती है। सांस्कृति तत्वों का कभी आर्थिक और कभी राजनीतिक तत्वों से भी संघर्ष होता है, कभी सामन्जस्य दिखाई देता है। देखने में यह भी आया है कि राजनीतिज्ञों ने अपने लाभ के लिए संस्कृति का गलत इस्तेमाल किया है। भारतीय नवजागरण काल में संस्कृति ने राजनीति, अर्थ और सामाजिक व्यवस्था में हस्तक्षेप किया और इतिहास की पुरर्व्याख्या में उसने महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाई। नवजागरण काल में भारतीय संस्कृति के उत्थानशील तत्वों जिस तरह इस्तेमाल किया गया वह संस्कृति की सकारात्मकता को दर्शाता है और यह भी बताता है कि सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों का प्रभाव दूर तक बना रहता है। संस्कृति अर्थ के अधीन रहकर और राजनीतिक द्वारा इस्तेमाल किये जाने पर अपनी सत्ता खो देगी, इसमें कोई शक नहीं है। सांस्कृतिक जागरण को पुनरुत्थानवाद नही कहा जा सकता, किन्तु पुनरुत्थानवाद के लिए उसका दुरुपयोग भी कम नहीं हुआ है। राजेन्द्रकुमार का कहना है कि "पौराणिक संस्कृति में एक इन्द्र हुआ करते थे जब भी किसी की साधना से उन्हें अपना सिंहासन डिगने की आशंका सताती थी, झट वह किसी न किसी अप्सरा को उसकी साधना भंग करने के लिए भेद दिया करते थे। पहचानने की जरूरत है कि हमारी आज की इस उपभोक्ता संस्कृति का इन्द्र कौन है, जो हमाने देश की अपनी वास्तविक समस्याओं से हमारा ध्यान विचलित करके आसन बचाये रखने की नीयत से कभी हमारे सामने माइकेल जैक्सन को भेज देता है तो कभी तथाकथित विश्वसुन्दरियों को।" यह वर्तमान सांस्कृतिक गिरावट का हीं लक्षण है। जिसका संचालन राजनीतिक सत्ता द्वारा होता है। राजनीति के दुष्प्रभाव से संस्कृति को बचाने के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए, यह समाजशास्त्रीयों से लेकर वैज्ञानिकों तक का कहना है। संस्कृति यदि राजनीति और अर्थ को उदात्त चरित्र नही दे पाती तो इसका मतलब यह है कि मूल संरचना में कोई न कोई खामी रह गई है।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद लोक गीतों के साथ जीवन्त सम्बन्ध निश्चय ही यान्त्रिकता के दबाव में और जीवन के रस के अभाव में बहुत विच्छिन्न हो गया। उसके कई दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं। सबसे बड़ा दुष्प्रभाव तो यह पड़ा है कि हम भाषा की सहजता खोते जा रहे हैं। लोक चेतना में जो सम्पुंजित संस्कार है वह जातीय अनुभव का प्रसाद है। वह संस्कार अमूर्त का मूर्त के साथ संयोजन बड़ी कुशलता के साथ कर लेता है।

दूसरा दुष्परिणाम यह है कि लोकगीतों से कटने के कारण मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य से सहज पैदा होने वाली आत्मीयता समाप्त होती जा रही है। हमारी वाचिक लोकगीत परम्परा के सारे रिस्ते, लम्बे साहचर्य, प्रिय और प्रिय की दी हुई प्रत्येक वस्तु जो प्रिय है और उस वस्तु के समाप्त होने के साथ ही प्रमिका अस्तित्व समाप्त सा होने लगता है।

सबसे बड़ा दुष्परिणाम लोक की वाचिक जीवंत परम्परा से उच्छिन्न होने का यह है कि हमारा यथार्थ ओझल होता जा रहा है। वह यथार्थ जिन-जिन से बनता है वे वस्तुएं अपना रंग, स्वाद और गंध खो कर एक रस होकर हमारे सामने आ रहीं हैं। एक प्रकार से विरुप होकर आ रही है। हम एक पत्ती को दूसरी पत्ती से अलग नहीं देख पाते, एक रंग का दूसरे रंग से मेल नही बैठा पाते क्यों कि हमें रंगों की अलग-अलग पहचान नहीं होती है। हम तो चुने हुए और संजोए हुए यथार्थ से परिचय के अभ्यासी होते जा रहे हैं। हमारा यथार्थ बोध कुंठित हो गया है। यह अन्तर देख पाना जीवन की मामूली उपलब्धि नही है क्योंकि इससे साधारण और सामान्य के विशेष गुण को समझने की आदत पड़ती है। आदमी तब किसी वस्तु या आदमी की उपेक्षा नही करता, किसी के प्रति उदासीन नही होता, सम्पूर्ण जीवन में उसकी उत्सुकता बनी रहती है।

उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि लोक साहित्य का महत्व जितना अधिक था उसे अगर बचाया नहीं गया तो हम अपने जीवन का एक अभिन्न अंग जल्द ही खो देंगें, और हमारी आने वाली पीढ़ी भारतीय लोक संस्कृति से विमुख हो जायेगी। अतः भारतीय समाज के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वह अपनी लोक संस्कृति व लोक साहित्य को जैसे भी हो बचाये रखने का प्रयास करे। अन्यथा हम अपने जीवन की अपनी अमूल्यनिधि को जल्द ही खो देंगें।

लोक संगीत का भारतीय प्रसंग में स्वरूप

डॉ0 ममता सान्याल

एसोसिएट प्रोफेसर, आर्य महिला पी0जी0 कॉलेज, चेतगंज, वाराणसी

लोक शब्द का अर्थ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रयोग में चला आ रहा है। इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों में मतभेद प्राप्त होता है। इस शब्द का प्रयोग 'ऋग्वेद' से मिलता है। 'ऋग्वेद' एवं 'अथर्ववेद' में इसका प्रयोग दो अर्थों में दिव्य तथा पार्थिव में मिलता है। 'लोकायत-दर्शन' का 'लोक' शब्द दर्शन के क्षेत्र में एक विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत करता है। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में भी 'लोक-धर्म-प्रवृत्ति' का वर्णन मिलता है। मतंग मुनि के 'वृहद्देशी' में 'लोकानां नरेद्राणां' का उल्लेख मिलता है। राजा अशोक के शिलालेखों में लोक का विशिष्ट अर्थ सूचित किया गया है। 'लोक' शब्द का प्रयोग एक वेद-विरोधी के अर्थ में भी प्राप्त है। गीता में भी लोक और वेद दोनों को स्वीकार किया गया है। भगवान बुद्ध के 'बहुजनहिताय' और 'बहुजन सुखाय' में भी लोक की भावना निहित है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-काव्य में 'लोक' शब्द का पर्याय प्राप्त है।

सूर के पदों में-नंदनन्दन के
नेह-मेह जिन लोक-लीक-लापी।
तुलसी दास की रचना-लोक कि वेद बड़ेरों।

तथा

सो जानत सत्संग प्रभाऊ।
लोकहु वेद न आन उपाऊ॥

उपरोक्त इन पदों में 'लोक' शब्द वेद से भिन्न स्थिति में व्यहृत हुआ है। जिस अर्थ में 'लोक' शब्द को गौरवपूर्ण पद प्राप्त हुआ है, वह आधुनिक है। लोकतंत्र तथा प्रजातंत्र की प्रेरणा से 'लोक' शब्द को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता है, आधुनिक सम्मान-सूचक बन गया है। लोक-कला, लोक-संगीत, लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति जैसे शब्दों में 'लोक' का प्रयोग आधुनिक अर्थ में ही किया जाता है। वैदिक संगीत में मार्गी के अतिरिक्त निबद्ध गीत, प्रबंध गीत के भेद भी गाये जाते हैं।

देशी संगीत की उत्पत्ति के संदर्भ में ऐसा कहा जा सकता है कि विभिन्न देशों के संस्कृति के आधार पर ही लोक संगीत (का जन्म हुआ) अथवा देशी संगीत का जन्म हुआ। देशी संगीत का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ मतंग मुनि-प्रणीत 'बृहद्देशी' है। एक स्थल पर उसमें कहा गया है—

अबलाबालगोपालः क्षितिवालैनिजेच्छया।
गीयते आनुरागेन स्वदेश देशिरुच्यते॥

अर्थात-अबला, बाल, गोपाल तथा राजा अपनी-अपनी इच्छा से और अपनी-अपनी बोली में जो अनुराग सहित गाते हैं, वहीं देशी संगीत है।

इसी प्रकार अन्यत्र यह उल्लेख मिलता है—

देशे देशे प्रवृतोऽसौ, ध्वनिर्देशीति **संहितः**

अर्थात् देश-देश में ध्वनि की यह प्रवृत्ति है, जिस कारण इसे देशी की संज्ञा प्राप्त है।

ध्वनि में अलौकिक शक्ति है और यही सबका कारण है। स्थावर-अस्थावर, सारे जगत में ध्वनि का प्रभाव है। ध्वनि के व्यक्त एवं अव्यक्त, दो स्वरूप हैं। जो ध्वनि वर्णों द्वारा मुख से व्यक्त होती है, वह 'देशी' है।

भाषा के क्षेत्र में जिस प्रकार बोलियों के बीच नियमबद्ध संस्कृत का स्थान है, वही लोक-संगीत के रागों के बीच शास्त्रीय संगीत का पद है। शुद्ध एवं परिष्कृत भाषा के पार्श्व में जिस प्रकार साधारण भाषा (बोलचाल की भाषा) का विकास होता रहा, उसी प्रकार शास्त्रीय संगीत से पृथक लोकसंगीत भी विकसित होता रहा। भोपाल, गुर्जरी, मुल्तानी, जौनपुरी, बंग

11-Back Side K

भैरव, सोरठ, सौराष्ट्रटंक, कान्हड़ा आदि राग-रागिनियाँ स्थानवाचक है और देशी संगीत के सूत्र रूप में सहायक सिद्ध हो सकती है।

एक ओर जहाँ 'लोक' शब्द के अर्थ की व्यापकता में स्फीति तथा संकोचन की प्रक्रिया चलती रही है, वहाँ दूसरी ओर मार्गी संगीत से भिन्न देशी संगीत की भी परम्परा चली आ रही है। मार्गी संगीत को शिष्ट समाज में अधिक प्रश्रय मिलता रहा है। देशी संगीत अधिकतर जन-सामान्य में ही प्रचलित रहा है। शिष्ट समाज में गिने-चुने लोग हीजा सकते थे, जबकि जन-सामान्य में सभी प्रकार के लोगों के लिए द्वार खुला था। बौद्धकालीन, लोकोन्मुखी युग में भी विभिन्न प्रकार के उत्सवों एवं समारोहों में स्त्रियों का भाग लेना वर्जित था। तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के समारोहों को आदर भाव से नहीं देखा जाता था।

लोक प्रभाव की दृष्टि से जैन अथवा बौद्ध युग विशेष उल्लेखनीय है। इस युग की जागृति राजनीतिक न होकर धार्मिक थी। पूर्ववर्ती युग में हिन्दुओं का ही आधिपत्य था। जनसमुदाय अधिकांशतः पृथक ही रहते थे। वेद-गान का ही उन्हें अधिकार न था। स्तुतिगान तक में बाधा थी। इस प्रकार वर्ण-भेद के आधार पर समाज विभक्त था। ऐसी देशी दशा में असवर्ण जनता का सांस्कृतिक विकास सीमित किन्तु मुक्त रूप से हुआ। इसका प्रभाव संगीत-पद्धति पर पड़ना भी अनिवार्य था। इस कारण से स्वतन्त्र परम्परा चलने लगी। जैन अथवा बौद्ध धर्म के साथ-साथ उनमें भी जागृति आई और उन्हें भी अपनी प्रतिभा तथा परम्परा को नये रूप में विकसित करने का अवसर मिला। धर्म से युक्त संगीत भी इस प्रभाव से वंचित न रह सका। यह वर्ग-विशेष की कला न रहकर सामाजिक उपयोग की कला बन गयी।

इस परिवर्तन के (कारण) परिणामस्वरूप संगीत को नवीन गति, दिशा और स्फूर्ति प्राप्त हुआ। इस प्रसंग में वाल्टियर जैसे इतिहासकार का यह विचार है कि जैन युग में हमें बड़ा ही सजीव, स्फूर्तिपूर्ण संगीत उपलब्ध होता है। इस युग का संगीत बन्धनमुक्त होकर सभी के साधना का मार्ग बन गया था। संगीत की इस स्थिति में शूद्र तथा निम्न वर्ग के जातियों ने जो प्रतिभाशाली थे, लाभ उठाना आरम्भ किया तथा इस युग की मानवी भूल का सुधार किया। इससे संगीत का रूप स्वतंत्र बना। संगीत का प्रचार-प्रसार राजा से प्रारंभ होकर अत्यंत जन साधारण तक प्रवाहित होने लगा। संगीत के अनेक नये शैलियों का अभ्युदय हुआ। संगीत का धारा प्रवाह उच्च वर्ग के साथ-साथ ही साधारण जन-समुदाय तक पहुँच गया। जैन पुराणों में भी गीत तथा नृत्य के प्रसंग आते हैं। ऋषभदेव की आख्यायिका और यदुवंशियों के पिंडारक तीर्थ में जाकर नृत्य एवं गान का उल्लेख मिलता है। इस अवसर पर पंचचूड़ा नाम के अप्सरा ने छालिक्य शैली के गायन का आविष्कार किया था।

इसके विपरीत बौद्ध धर्म में सदाचार सम्बन्धी आदेशानुसार उनमें से गीत नृत्य, वाद्य और नाट्य-प्रदर्शन में उदासीनता ही परिलक्षित होती है।

वैष्णवी परम्परा की भागवत भक्ति से संगीत-विधा को विशेष महत्व एवं मर्यादा मिला। भक्ति की इस लोकप्रिय, धारा ने सबके लिए अपना मार्ग उन्मुक्त बनाया। भजन-कीर्तन एवं भक्ति गीत के लिए सवर्ण एवं असवर्ण का पृथकता नीति समाप्त हो गया।

प्रचीन काल से ही हमारा देश जहाँ खेत, खलिहान, धर्म, आदर्श एवं ऋतुओं का देश है, वहीं भारत विभिन्न प्रकार के लोकगीतों का भी देश के नाम से परिचित है। धरती पर निरन्तर लोक गीत गाये जाते हैं। वर्ष के कुछ महीने तो ऐसे हैं जिनमें, रातदिन विभिन्न प्रकार के गीतों की बहार रहती है। जैसे सावन में कजलियाँ गाई जाती हैं, उसी तरह फागुन में फाग धुन की भरमार रहती है। फाग राग का आरम्भ बसंत-पंचमी के दिन से होता है। सम्भवतः इसीलिए एक कहावत बना ली गई है—

जब जौ पर कूंडे।

तब फगुआ चढ़ा मुड़े॥

उसी प्रकार से वर्षा ऋतु में होली गीत गाया जाता है, जैसे—

मन बन पपीहा बीव रहा हूँ,

तन-पिंजड़ें, में बसके रे।

कभी तो बोले जार-जार औ

कभी तो बोले हँसके रे।

विभिन्न, ऋतुओं, धर्मों, उत्सव, तीज-त्योहारों आदि क्रे कारण लोक-संगीत का स्थान तथा महत्व अक्षुण्य एवं सुरक्षित है।

बिहार का पारंपरिक लोक गीत-बारहमासा

डॉ निशा झा

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, (विश्वविद्यालय संगीत विभाग ति0 माँ0 भा0 वि0, भागलपुर, बिहार)

लोक साहित्य की समृद्धि में लोक गीतों का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में लोकजीवन ही लोकसाहित्य की आधार शिला है। लोकगीतों में सभी भावों की उत्पत्ति होती है। लोकजीवन के हर्ष-विषाद् सुख दुख सभी भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम लोकगीत है।

बिहार में लोकगीतों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। जब हम लोकगीतों को वर्गीकृत करते हैं तो एक वर्गीकरण ऋतु गीत होता है। इसमें ऋतुओं का साहित्यिक वर्णन होता है। इन्हीं गीतों के अंतर्गत बारहमासा का वर्णन मिलता है। बारहमासा गीतों में छन्द एवं लय का माधुर्य होता है।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है - बारहमासा अर्थात् ऐसा गीत जिसमें बारहों मास का समावेश हो।

हिन्दी साहित्य में भी बारहमासा का प्रचुर वर्णन प्राप्त होता है। कवि जायसी ने पद्मावत में बारहमासा का वर्णन किया है। इसमें बारहों मास का वर्णन है। साथ ही इसमें विरहिणी के हृदयोद्गार भाव का चित्रण है। पद्मावत के नागमति वियोग खण्ड में नागमति का जो विरह वर्णन है वह बारहमासा के अंतर्गत ही किया गया है। इस बारहमासा का प्रारंभ आषाढ़ मास से एवं समाप्ति जेठ मास में किया गया है। प्रत्येक मास के वर्णन में प्रकृति वर्णन के साथ-साथ नायिका के विरह-वर्णन की अभिव्यंजना की गयी है।

डॉ रघुवंश ने प्रकृति और हिन्दी काव्य के पृष्ठ 402 पर लिखा है कि - ''बारहमासा में बारह महीनों में प्रत्येक मास का वर्णन क्रम से किया जाता है, साथ ही प्रत्येक मास की रूपरेखा संक्षेप में दी जाती है। इसमें जिन उपकरणों से ऋतु-वर्णन की योजना की जाती है, वे प्रचलित और स्वानुभूत होते हैं। विरहिणी उन्हीं को लेकर अपने प्रवासी प्रियतम का स्मरण करती है। प्रायः प्रचलित बारहमासों का आरंभ आषाढ़ मास से होता है यद्यपि इसके लिए कोई निर्धारित नियम नहीं है। ऐसे बारहमासों का अभाव नही है, जिसका आरंभ चैत से या अवसर के अनुसार होता है।''

श्री रामइकबाल सिंह 'राकेश' ने बारहमासा को अनुभूत्यात्मक अभिव्यंजना कहा है। यह लोकगीत के अंतर्गत आता है इसलिए ग्रामीण हृदय के हर्षित स्वच्छ मन का उद्गार है। संस्कृत एवं प्राकृत के कवियों ने इसे अपनी लेखनी में स्थान दिया है। विद्यापति, जायसी आदि कवियों ने अपने काव्यों में विरह-वर्णन में 'बारहमासा' गीतों की रचना की है।

हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी बारहमासा गीत प्राप्त होते हैं। बंगाल में बारहमासा का उल्लेख मिलता है। बंगाल में इसे 'बारहमाशी' कहते हैं। बंगला साहित्य में पल्लीगान एवं विजयगुप्त के मनसा-मंगल, भारत चन्द्र के अन्नदा-मंगल में बारहमासा का उल्लेख है।

एक बारहमासा निम्न प्रकार है-

यौवन ज्वाला बड्डई ज्वाला शहिते ना पारि।
यौवन ज्वाला तेज्य करे, गलाय दिब दाड़ि।।
झाड़ेर बाँश काट रे सादु बान्दिओ बाँगेला।
तुम सादु बाणिज्य गेले के खाबे कमेला। टेक
हाटे जाओ बाजारे जाओ, गाछे पाका बेल।
तुम सादु वाणिज्य गेले, राखाले मारबे टेल

11-Front Side K

इस बारहमाशी में विरहिणी हृदय का मार्मिक चित्रण हुआ है।

बिहार प्रदेश अपनी संस्कृति में बहुत सी भाषाओं को समेटे हुए हैं। बिहार के प्रायः सभी लोक भाषाओं में बारहमासा गीत प्रचलित है। कुछ बारहमासा गीतों में सिर्फ विरह-वर्णन ही है किंतु बारहमासा ऐसे भी प्राप्त होते है जिनमें विरह-वर्णन के बाद मिलन-सुख का भी वर्णन है। बिहार में मुख्य रूप से मैथिली, अंगिका, भोजपुरी, वज्जिका, मगही आदि भाषाएं बोली जाती हैं। इन सभी प्रमुख भाषाओं में बारहमासा गीत का वर्णन इस प्रकार है-**मगही बारहमासा-** बिहार के मगध क्षेत्र में बारहमासा गीत की नायिका 'उर्मिला' है। यह बारहमासा गीत विरह-वर्णन से प्रारंभ है-

पेठैलऽ तू नारी बइरून बन बालम मोर।

x x x x x

बइसाख मास रितु गिरषम लाग।
चलइ पवन जइसे बरसइ आग।
जइसे जल बिनु तलफइ मीन।
सेइ गति हमरा केकइ जी कीन।
दीन दुख दारून

इस बारहमासा में शुरू से अंत तक कैकेयी की निदा की गई है। उर्मिला की विरह-वेदना निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट है-

भादो रइनी भयामन रात
कड़कई बरसइ जियरा डेरात
गुंजन गुंजइत फिरइ भुअंग
राम लखन आउ सीता जी संग
रइन अँधियारी।। पेठैलऽ.....।
आयल हे सखि कातिक मास,
उठइ करेजवा बिरह के फाँस
घरे घरे दीया बारथी नारि
हमर अयोध्या भेलइ अन्हियारी
करनि केकइ के।। पेठैल ऽ.....।

इस बारहमासा का अंत फागुन मास में होता है।

फागुन फाग खेलइती चौरंग
चोवा आ चनन लपेटति अंग
ठाढ़े भरत जी घोरथि अबीर
किनका परछीहूँ बिना हो रघुवीर,
अइसन होरी जरो री पेठैल ऽ..... ।

मगध क्षेत्र में मुख्य रूप से दो प्रकार के बारहमासा का उल्लेख है-

(i) **बारहमासा का जो पहला प्रकार है** उसमें शुरू से अंत तक विरह वर्णन ही है, जो उपर्युक्त वर्णित है।

(ii) **दूसरे प्रकार का बारहमासा गीत** विरह-वर्णन से शुरू होकर मिलन-वर्णन से अंत होता है।

बारहमासा का दूसरा प्रकार निम्नांकित है-

प्रथम मास आसाढ़ हे सखि
साजी चलन जलधार है।
एही पिरीत कारन सेत बँधौलन,
सियउदेस सिरी राम है।।
सावन हे सखी, सबद सोहामन
रिमझिमबरसइ बूँद हे।
सबके बलमुआ रामा घर घर होइहें,
हमरो बलम परदेस हे।
भादो हे सखि रैनि भयामन,
दूजे अँधेरियाके रात हे।
ठनका जे ठनकई रामा,
बिजुली जे चमकई,
सेइ देखी जियरा डेराय हे।
आसिन हे सखि आस लगौली,
आसन पूरल हमार हे।
आस जे पूरइ रामा कुबरी
सौतिनिया के जेकंत रखलक लोभाय हे।
जेठ हे सखी आयल बलमुआ
पूरल मनमा के आस हे।
सारा दिन रामा मंगल गैली
रैनी गमौली पिया के संग हे।

इस बारहमासा का आरंभ आषाढ़ मास से किया गया है। आषाढ़ मास में वर्षाऋतु की शुरूआत होती है। हर तरफ जल की धार है। ऐसे समय में राम जी ने सीता को पाने के लिए समुद्र में बाँध बना दिया था। लेकिन नायिका का प्रियतम नहीं आया।

भादो की भयावन रात है। बिजुरी चमक रही है। आश्विन मास में नायिका आस लगाए बैठी है। कार्तिक जैसे पुण्य मास में भी नायिका अकेली ही रह गयी है। अगहन में प्रकृति की हरियाली भी समाप्ति होने पर है। पूस में कँपाने वाली ठंढ है। माघ में बसन्ती बयार भी व्यर्थ जा रही है। फागुन में रंग-गुलाब का भी कोई औचित्य नही रह जाता है। चैत में फूलों की सजी प्राकृतिक छटा भी खत्म हो रही है, वैशाख की गर्मी भी इंतजार में ही बीत रही है किन्तु जेठ मास में प्रियतम के लौट जाने से मन में जो उल्लास है वह गीत के वियोग वर्णन का अंत है।

भोजपुरी बारहमासा-

बिहार में भोजपुरी भाषा की भी बहुलता है। इस भाषा की अनेक साहित्यिक रचनाएँ हैं। जिनमें बारहमासा भी मिलते है। भोजपुर क्षेत्र में बारहमासा का अत्यधिक प्रचार है। ग्रामीण लोग बहुत मन से इसे गाते एवं सुनते है। इसमें एक साथ बारहों महिने के सुख-दुःख, प्रकृति चित्रण का एहसास होता है। यहाँ के बारहमासा में संयोग एवं वियोग श्रृंगार का चित्रण मिलता है। भोजपुरी भाषा में प्रचलित बारहमासा निम्न प्रकार है -

प्रथम मास आसाढ़ ऐ सखि,
घेरी अइले जलधार हो।
हमहू बिरहिन दुख में बूड़ी
केहू ना करै उपकार हो।।
सावन ऐ सखि मेह बरसे
गरज के डरवावहीं।
चहूँ ओर पपीहा मोर बोलें
बेंग सबद सुनावहीं।।
भादों गगन गंभीर ऐ सखि
घेरी अइले जलधार हो।
बालम मोरा विदेस गइले
केकरा सरन में जाई हो।।
कुवार ऐ सखि आस लागे
जोही पिया के बाट हो।
लोभी कंत बिदेस गइले
भोर भइले भिनुसार हो।।
कातिक कंत बिदेस ए सखि
पिया जे रहिते साथ हो।
दुख सुख सब संगे कटितौ
ए सखि दियना बरतौ अकास हो।।
अगहन ए सखि बेइल फूले
अवरू फूलेला धान हो।
चकवा चकई केलि करेला
सरवर मंझधार हो।।
पूस ए सखि सीत लागे
भीजेला लामी केस हो।
सीर सेनुर नैन काजल
जीव के जंजाल हो।।
माघ कामिन छोड़ दामिन
पिया गइले मोतिहार हो।
कलिया चुनिके सेज डसवलीं
पिया बिनु लागत जाड़ हो।।
फागुन ए सखि खेल होरी,
छिरिक छिरिक अबीर हो।
खेलत होरी बोलत तो लह
दगधे सकल सरीर हो।।
चैत ए सखि टेसू फूले,
फूले फूल गुलाब हो।
छोड़ मन के लाज ए सखि
चल पिया के मनावे हो।।
बैसाख ए सखि ऊमख लागे
चन्दन लेपत सरीर हो।
सइयाँ के कुछु दोखु नइखे
दोस करम हमार हो।।
जेठ ए सखि भेंट भइले
पूजल मन के आस हो।
प्रियतम से सखि भेंट भइले
पूजल बारह मास हो।।

मैथिली बारहमासा -

मिथिला क्षेत्र में प्रचलित बारहमासा राम, कृष्ण या शिव से संबंधित होता है। राम विषयक बारहमासा में उनके विवाह का वर्णन है।

कृष्ण से संबंधित बारहमासा में श्रृंगार रस की सुंदर अभिव्यंजना होती है।

शिव से संबंधित बारहमासा में पारिवारिक

जीवन की विविध घटनाओं का वर्णन रहता है। मिथिला में प्रचलित एक बारहमासा गीत निम्नांकित है -

आषाढ़ हे सखि सघन जलधर
खसत नीर अधीर यो
देखि कामिनी गगन दामिनी
बहत नयन सरोज यो
साओन झिंगुर दमकी दादुर
नाचत मोर मयुर यो
प्राणनाथ ने आइगृह में
युगल जात शरीर यो
भादव मास भयान यामिनी
झरझर झहरत नीर यो
कामिनी हम नारि पिया बिनु
होत जीवन घात यो
आसिन रति पति चाप लय
तन करत छिन्न विच्छिन्न यो
हार भूषण अंग दूषण होय पिया बिनुभार यो
देखि कातिक वयस तारूण टूटत धैरज जाल यो
गगन निर्मल चन्द्रमा कय देखि हहरत शरीर यो
अगहन आकुल व्याकुल रपट कामिनी नारि यो
हंस चकबी देखि कौतुक देखि मनमथ जोर यो
पूस दारूण देल दुख सखि छोड़ि गेल विदेस यो
कौन विधि हम नारि एकसरि काटब
निशि अँधियारी यो
माघ हे सखि विषम विषधर डसल अंग अनंग यो
निठुर कर्कश चित्त बालम तरूणि तेजि विदेश यो
फागुन हे सखि रंग लय सब खेलत बालम संग यो
हम अभागलि ताकि चहुँदिस
बैसलि झाँकि झमाय यो
चैत कोकिल कुहुकि सुनि
सखि डहुकि खसल अचेत यो
देखि कोमल कुसुम मौलल अब न जीवन आस यो
बैसाख हे सखि विरह ज्वाला दहत देह अशेष यो
हाय पति-पति करति कामिनि जरत कुचयुग कोर यो
जेठ रोदन अधिक पिया बिनु काम दहन विशेष यो
हुनि विदेशी की करत
अब विधि लिखि कोन मेटात यो
रमानन्द रहु थीर कामिनि चित्त
जनु करिय उदास यो
आओत बालम थोड़ दिन दुख
करब संग विलास यो।

पूर्णियाँ में प्रचलित बारहमासा -

बिहार के पूर्णियाँ क्षेत्र अर्थात् मिथिला के पूर्व क्षेत्र में प्रचलित बारहमासा जो चैत मास से शुरू होकर फागुन मास तक वर्णित है, निम्नांकित है -

चैत-
चैत मास आल से सुतल हो विरीछी तले
चैत के निनियाँ बैरन भेल
उठि पिया पंथ गेल।
बैसाख -
बैसाख मास गरमी छिक
चारो ओर घाम से भीजल शरीर
रगड़ियो चंदन, लेपता निर्मल होत शरींर
जेठ-
जेठ मास समईयो छिक
फुलवा तेखड़ी फूल
फुलवा तोड़िय सोनिया लगैता
बिनु पिया सेज सूना
फुलवा बुनै सेजिया लगायें,
बिनू सेज सूना हो।
आसाढ़-
आसाढ़ मास रे बरेखा छिक
सुतल हो- मंदिर घर
नानदो के बगिया कोईली बोले
से हो सुनि लिया साले।
सावन-
सावन सरद सुहावन
पिया बसे दूर देस
पिया सिर छत्तर दो रायता
ताकि देखल हैं नैना भरी।
भादव-
भादव मास रे गड़ही छिक
भरल जमुना दह
कइसे स्वामी नाथ अईत
कइसे पसरी जैत।
आसिन-
आसीन मास रे आस लागल छल
एही मास पिया आईत
हाथ हुँ के रतन बेनल भेल,
पडी गेल धान जीव हे।
कार्तिक-
कार्तिक मास रे पूरनिया छिक
सखि - सब सामर गावै हे,

घर ही में स्वामीनाथ रहत,
हम हूँ जईत सामर गावै।
अगहन-
अघन अग्रहे सुहावन लागे
चारो दिस आस - चास
गड़री कोढ़ा लबिये गेल
लबि गेल गोरी बैस।
पौष-
पूस मास रे कुहासे छिक
भींगी गेल गोरी देह,
ससहरी खसल डाड़हूं के चीर
कतैक दुःख सहब हमैं।
माघ-
माघ ही मास रे पंचमी
सखि सब गौरा पूजे हे
गौरा पूजिहे बर मांगल पूरि गेल
बारहो मासे हे।
फागुन-
फागुन मास गवना छिक
पहिरू कुसुमी रंग
पंथ चलत सिया सम्हारो
बांधो अंचरा पवन डोले हे।

बारहमासा अनेक भाषाओं मे प्राप्त हुए हैं किन्तु एक बारहमासा ऐसा प्राप्त हुआ है जो तुलसी दास द्वारा रचित है। इस में तुलसी दास जी भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु तुम्हारा दर्शन कैसे होगा? किस प्रकार आषाढ़ मास को बिता पाउँगा। यह बारहमासा अध्यात्म से जुड़ा प्रतीत होता है। इस बारहमासा में रहस्यवाद की झलक मिलती है। यह बारहमासा निम्नांकित हैं-

भादो भवन सोहावन न लागे।
आसिन मोहि न सोहाइ।
कार्तिक कन्त विदेस गइल हो।
समुझि समुझी पछताइ।।1
अगहन आइल न कहि गइल ऊधो।
पूस बितल भरि माँस।
माघ माँस जोबन के मातल।
कैसे धरब जिउ आस।।2
फागुन फरकेले नैन हमार।
चैत मास सुनि पाई।
पियवा जे अइतन एहि बइसाखे।
फुलवन सेजवा बिछइतीं।।3
जेठ मास बेआकुल जइसेराधे।
नहि हैं शाम हमार।
तुलसीदास प्रभु तोहर दरस के।
कइसे खेपों माँस आसाह।4

बारहमासा के अतिरिक्त चौमासा एवं छैमासा गीत भी गाए जाते हैं। छौमासा में छः महीने एवं चौमासा में चार महीने का वर्णन होता है। इन बारह मासों में पारिवारिक संबंध जैसे सास-ननद, ननद-भौजाई, पिता-पुत्री, पति-पत्नी एवं भाई बहन आदि का सुंदर वर्णन मिलता है।

वास्तव में बारहमासा पावस मास में गाया जाने वाला एक ऋतु परक गीत है। इसमें प्रत्येक महीने का वर्णन विरह-श्रृंगार के रूप में पाया जाता है। इन गीतों में वर्ष भर में ऋतुओं के अतीव सुंदर प्रकृति परिवर्तन के साथ-साथ उससे संबंधित प्रकृति वर्णन एवं विरह-वर्णन का भाव समाहित होता है। प्रत्येक मास में विरहिणी के कष्टों का क्रमवार वर्णन गीत की खूबसूरती को उजागर करता है। पारंपरिक बारहमासा गीत उददीपन विभाव का वाहक होता है। वैसे तो बारहमासा किसी भी ऋतु में गाया जा सकता है लेकिन वर्षा ऋतु में इसका गायन अत्यन्त ही अनुपम छटा बिखेरती है। इस प्रकार बारहमासा गीत श्रोताओं के अन्तर्मन को मंत्रमुग्ध करने की असीम क्षमता रखती है। अतः आज के समाज में इस अनुपम गायकी को भविष्य के लिए संजो कर रखना हम संगीत प्रेमियों के लिए अति आवश्यक है ताकि हमारी संस्कृति, हमारी धरोहर सुरक्षित एवं संरक्षित रह सके।

पारम्परिक बिरहा, लोकगीत या लोकगाथा के रूप में

डॉ. मन्नू यादव 'कृष्ण'
बिरहा कलाकार

यह सत्य है कि लोकगीतों में जनभावनायें समाहित होकर बरबस लोकगीत के रूप में लोक की आवाज बन जाती है। कुछ लोकगीतों को खास जाति के लोग ही गाते हैं, ऐसे गीतों में खड़ी बिरहा, बिरहा, लोरिकी चन्दैनी का विशिष्ट स्थान है। परन्तु आज के परिवेश में बिरहा का समाजीकरण हो गया है। पूर्वांचल में ब्राह्मण, राजपूत, बनिया तथा अन्य पिछड़ी जाति व अनुसूचित जातियों के साथ-साथ कुछ खास जनपदों में जन-जाति के लोग भी बिरहा गाते देखे जा सकते हैं।

लोकगीतों की भारतीय परम्परा बहुत पुरानी परम्परा है। लोक जनमानस में हर एक रहन-सहन, तीज-त्यौहारों, उत्सवों, पाणिग्रहण संस्कार, पुत्र जन्म, पूजा कथा पर बरबस मनोहारी लोकगीतों को गाने का प्रचलन वैदिक काल से ही चला आया है। बिरहा गीतों के बारे में डा0 कृष्णदेव उपाध्याय अपनी पुस्तक "लोक साहित्य की भूमिका" में पृ0 सं0 90 पर लिखते हैं कि "बिरहे बिहारी के दोहों के समान हृदय पर सीधे चोट करते हैं। बिरहा दो प्रकार का होता 1. छोटा बिरहा, 2. बड़ा बिरहा"। छोटा बिरहा चारकड़िया के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें केवल चार चरण या पद हो, उसे चारकड़िया बिरहा कहते हैं। यही अधिक लोकप्रिय है। लम्बा बिरहा गाथा के रूप में होता है जिसमें रामायण या महाभारत की कथा गायी जाती है।[1]

प्रायः बिरहा में लोकगीत (Folk lyrics) और लोकगाथा (Folk ballads) दोनों का लक्षण प्राप्त होता है। चार पंक्तियों या आठ पंक्तियों वाले बिरहा को लोकगीत की श्रेणी में माना जाता है तो वही लम्बी कथानक वाले बिरहा को लोकगाथा या लघुलोक गाथा कहते हैं जिसमें बिरहा गायक, लोरिक-मंजरी की कथा, लोरिक चन्दा की कथा, लोरिक द्वारा मौलागित वध की कथा, या रामायण व महाभारत की कथा तथा अन्य समसामयिक तथ्यों को बिरहा के रूप में गाते हैं। बिरहा को लोकगीत की सीमा में ही नहीं बांधा जा सकता और न ही बिरहा को लोकगाथा की ही परिधि में कस कर रखा जा सकता है। बिरहा, तमाम मिथकों को तोड़ने वाला लोक स्वर है जो अपने आप में दोनों लोकगीतों लोक गाथाओं के सभी गुणों का समावेश है। विरहा गीतों में सभी नौ रसों का प्रवाह विद्यमान है और बिरहा गाथा के रूप में भी यही बात लागू होती है। बिरहा समस्त रसों, स्थायी भावों के साथ-साथ पिंगल शास्त्र के बारीकियों को समेट लघु तथा दीर्घ कविता का भी रूप है। इस प्रकार बिरहा में दोनों के लक्षणों का समावेश मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि चरकड़िया बिरहा अधिक लोकप्रिय है, परन्तु ऐसा नहीं है। लम्बी कथानक वाले बिरहा को प्रारम्भ से ही उतनी ही लोकप्रियता हासिल है। जब हम बिरहा को लोकगीतों की श्रेणी में रखते हैं तब लोकगीतों की गेयता का प्रधान गुण प्राप्त होता है। साथ-साथ कथानक का थोड़ा-थोड़ा अंश मिलता है। लेकिन यह चरकड़िया बिरहा या कहें लघु बिरहा गीत में ही हमें प्राप्त होता है तथा वही लम्बा बिरहा में पूर्ण कथा प्राप्त होती है तथा वर्ण्य विषय भी निश्चित है कि वह एक रस या मौसम में बंधा हो। बिरहा की नियोजित पंक्तियों में सभी रसों, ऋतुओं तथा भूत-भविष्य-वर्तमान की घटनाओं को दिखाते हुए बिरहा गायक इसे प्रस्तुत

करते हैं। लोक में व्याप्त सभी तथ्यों को घटनाओं को कथाओं तथा कहानियों, किंवदन्तियों को संजो कर आजकल बिरहा का स्वरूप मर्मस्पर्शी भाव छिपाये हुये है तथा एक बिरहा 35 मिनट से लेकर 2 घण्टे तक चलता रहता है और श्रोता टकटकी लगाये रस-भाव में विभोर दिखाई पड़ते हैं।

अतः हम यह कह सकते हैं कि बिरहा कथा, व्रत, पूजा, संस्कार, ऋतु श्रम व जातीय गीतों का प्रतिनिधित्व करने वाला वह लोकगीत है जिसमें लोक संस्कृति की आत्मा निवास करती है तथा उसके जीवन्तता का कारण उसके मूल स्वरूप में आज भी कोई क्षरण नहीं हुआ है।

दूसरे षब्दों में प्रेम कथा, वीर कथा, करुण कथा तथा व्याप्त सामाजिक कुरीतियों पर रौद्र, धार्मिकता और वात्सल्य के प्रति बिरहा में लघु गाथा गायन का प्रचलन बढ़ता जा रहा है जो निरंतर बिरहा की प्रसिद्धि को बयां करता है।

बिरहा का वर्गीकरण

लोकगीतों में तमाम विभेद पाये जाते हैं तथा लोकगाथा में भी भेद खोजने पर पर्याप्त मिलते हैं। लोक की अविरल धारा जो प्रवाहित हो रही है वह मौखिक परम्परा का सबसे बड़ी साक्ष्य है और इस साक्ष्य के सहारे हम बिरहा को पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं। बिरहा गीतों में विषय की प्रधानता प्राचीनता व नवीन सन्दर्भों को ध्यान में रखकर डा0 मन्नू यादव के मत के अनुसार बिरहा को पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. पारम्परिक बिरहा - लोरिकी, चन्दैनी, खड़ी बिरहा (लोक गाथा के रूप में)
2. साधारण बिरहा - वन्दना, निर्गुण, ऋतुगीत, चारकड़िया, बिरहीनी (लोकगीत के रूप में)
3. साहित्यिक बिरहा - छन्द-विधान युक्त बिरहा कविता (कविता के रूप में)
4. विस्तृत बिरहा - प्रेम कथा, वीर कथा, धार्मिक कथा (लघु लोक गाथा के रूप में)
5. समसामयिक बिरहा - घटना, काण्ड, ज्वलन्त मुद्दे, सामाजिक परिवर्तन (लघु लोकगाथा एवं लोकगीत कथा युक्त) ।

बिरहा के वर्गीकरण में प्रसिद्ध विद्वानों के मत

लोक साहित्य की भूमिका नामक पुस्तक में डा0 कृष्णदेव उपाध्याय जी बिरहा को लोकगाथा की श्रेणी में रखते हैं। पृ0 सं0 119 तथा 120 पर उन्होंने लिखा है कि "गाथाओं की रचना में समुदाय (community) का भी योगदान होता है। अनेकों गीत ऐसे पाये जाते हैं जिनका प्रचार किसी जाति विशेष के लोगों में विशेष रूप से उपलब्ध होता है जैसे अहीर जाति के लोग बिरहा गाते हैं और दुःसाध लोग पचरा। अहीरों की बारात में बिरहा गाने की प्रथा है। इस अवसर पर अच्छे-अच्छे गवैये जुटते हैं दो दलों के बीच में बिरहा गाने की प्रतियोगिता प्रारम्भ हो जाती है। एक दल का व्यक्ति तत्काल बिरहा बनाकर गाता और प्रश्न करता है। दूसरे दल वाले इसी प्रकार से बिरहा की तत्काल रचना कर उत्तर देते हैं। इस प्रकार जिन बिरहों की रचना होती है उनका रचयिता अहीरों का समुदाय (समष्टि) होता है न कि कोई व्यक्ति विशेष (व्यष्टि)।"[1]

बिरहा के इस व्याख्या पर विद्वान लेखक चूंकि उस समुदाय से नहीं आते हैं इसलिए उन्हें बिरहा के सम्बन्ध में अपूर्ण जानकारी है। अहीरों के बारात में दो दलों के अतिरिक्त सामाजिक प्रतिष्ठा को देखते हुए कई प्रसिद्ध दलों (चार-पांच) के नामचीन बिरहा गायकों की उपस्थिति होती रहती है। यदि लेखक महोदय की दो दलों की गायन प्रस्तुति को हम मान भी लेते हैं तो भी यहाँ यह तर्क बिल्कुल निराधार है कि तत्काल बिरहों का जवाब जिन तत्काल बिरहों से दिया जाता है उनकी रचना समष्टि (समुदाय) करता है, व्यष्टि (व्यक्ति) नहीं करता है।

ऐसा नहीं है क्योंकि विद्वान लेखक महोदय को यह ज्ञात होना चाहिये कि बिरहा के दल प्रमुख के साथ एक कवि भी हर बिरहा के प्रतियोगिता में चाहे वह अहीरों की बरात हो अथवा दंगल का कोई अन्य मुकाबला हो उनके कवि / लेखक उनके साथ-साथ रहते हैं और रचनाएं भी वही तुरन्त करते हैं और सामने वाले दल का तत्काल जवाब देते हैं। कुछ मामले में गायक दल प्रमुख खुद ही तीव्र गति से बिरहा तैयार करके जवाब दे देते हैं। चार-दलों के

बिरहा में क्रमवार बिरहों का जवाब बिरहों से मिलता रहता है। यह बारात का बिरहा दंगल है। जब धार्मिक धामों, स्थलों, महापुरुषों के जन्म दिवसों के या खास पूजा-पाठ के बाद रात्रि में बिरहा का दंगल आयोजित होता है तब मात्र दो दलों के बीच मुकाबला होता है। वहाँ भी गायक दल के साथ कवि हृदय भी उपस्थित रहते थे और आज भी उपस्थित रहते हैं। जैसे पूर्व के नामी बिरहा गायकों में हीरालाल यादव जी के साथ कवि कल्लन राजभर कवि के रूप में रहते थे। काशी बुल्लू के साथ सुख नन्दन सिंह व जोखन राम, रामधारी के साथ रामधारी सिंह यादव कवि, रामदेव यादव के साथ चन्द्रिका कवि व सुरश्याम पाण्डेय कवि, रामखेलावन पुजारी जी के साथ सियाराम सिंह, पारस यादव के साथ परसिद्धन कवि, जगरनाथ यादवजी के साथ कवि राधेश्याम पाण्डेय (राधेगुरू) आदि

1. हाजिर जवाबी कविगण रहते थे और किसी भी बिरहा के घराने के लिए खास कर काशी में रामजियावन सरदार आसू कवि के रूप में बिरहा गायकों को बिरहा की तुरन्त टेरी बना देते थे।

बिरहा का पारम्परिक स्वरूप जिसे हम लोरिकी, चन्दैनी खड़ी बिरहा या छुट्टा बिरहा कहते हैं, वहाँ पर लोकगाथाओं के सिद्धान्तों की मान्यता सत्य प्रतीत होती है। इन बिरहों का कोई रचयिता नहीं है। ये बिरहा मौखिक प्रवृत्ति के सभी लक्षणों को समाहित भी करते हैं। जिस प्रकार प्राचीन काल में वेदों की परम्परा भी मौखिक रही, गुरुओं द्वारा अपने शिष्यों को वेदों की शिक्षा मौखिक विधि से ही श्रवण करवा कर देते थे। शिष्य उसे याद करते थे। कालान्तर में जब स्याही कागज पेड़ की छाल का आविष्कार हुआ तो वही वेद जो मौखिक रूप में था, वह लिखित हो गया। वैसे ही लोकगाथा के रूप में लोरिकी, चन्दैनी, खड़ी बिरहा बिरहा को अहीर समाज तथा उनके साथ साथ रहन-सहन करने वाले मध्यमवर्गीय जातियों ने यादव वृन्दों के बिरहों को श्रवण करके याद करते रहते तथा याद की गई पारम्परिक बिरहों की लय में प्रेमकथा, वीरकथा, श्रृंगार कथा, रूप वर्णन, युद्धकाल की वीभत्स रूप का गायन अपनी गुरु-शिष्य परम्परा से करते चले आ रहे हैं। परन्तु आज जब समाज में शिक्षा का संचार होने लगा तो बिरहा के स्वरूप में लिखित कथानकों का भी प्रचलन पारम्परिक धुनों को आधार मान कर किया जाने लगा तथा साथ ही साथ बिरहा में छन्द विधान का भी जन्म होने लगा देखें। गुरु बिहारी, स्वामी गीतानंद, बाबादीन, मौलागुर के शिष्यों ने बिरहा को भिखारी ठाकुर के शिष्यों ने विदेशिया नामक प्रसिद्ध गीत एवं नाटक को तथा बुलाकी दास के अनुयायियों ने चैता गीतों को गाते-बजाते बचाये रखा और यही बात बिरहा पर भी लागू होती है। पारम्परिक पुराने बिरहा गीतों में रसों की, आत्मा की आवाज है। वही बिरहा के छन्द विधान में अलंकार एवं सजावट काव्यशास्त्र के गणों, मात्राओं के सहारे वर्णिक एवं मात्रिक छन्द भी बिरहा के साहित्य पक्ष को दर्शाते हैं। **सर अब्राहम ग्रियर्सन** के अनुसार 'बिरहा' का छन्द विधान बतलाते हुए लिखा है कि "पढ़ते समय छन्द के नियम के अनुसार ये बिरहा शायद ही मिलें, जब तक हम यह याद न रखें कि बहुत से दीर्घ स्वर पढ़ते समय लघु कर लिये जायें। इनमें कभी कभी कुछ ऐसे ही व्यर्थ के शब्द होते हैं जो छन्द के अंग भूत नहीं होते।"[1] इसी विद्वान ने आगे चलकर अपना गम्भीर मत प्रकट किया है कि 'इन लोकगीतों की यह विशेषता है कि पिंगल शास्त्र के नियम इनमें बड़े शिथिल हैं। इन उल्लेखों से यह सहज ही समझा जा सकता है कि लोकगीतों में छन्दों का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता है। जहाँ छन्द हैं वहाँ उनके नियमों के पालन में बड़ी शिथिलता होती है।[2]

उपरोक्त अवधारणा को अब्राहम ग्रियर्सन जी के जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी (1885) को आधार मानकर उनकी अंग्रेजी का अनुवाद लेखक महोदय ने किया है लेकिन उदाहरण उनका अति प्राचीन परम्परा की गीत से लिया गया है। यहाँ तो सभी लोकगीतों में बिरहा को समाहित कर दिया गया है कि यहां छन्द विधान का नियम शिथिल कर दिया गया है तथा वर्णों के उच्चारण में लगने वाले समय को तथा अपभ्रंश नियमों की भी चर्चा की गई है। परन्तु बिरहा गीतों में अन्य लोकगीतों की भांति शिथिलता नहीं है - देखें "बिरहा

गीतों की साहित्यिक समीक्षा" में दोहा, चौपाई के पदों के लक्षणों मात्राओं को छोड़ दें यहाँ उच्च पिंगलशास्त्र को बिरहा के कवि अपना कर रचना करते हैं। जैसे कलाधर छन्द, अर्धपास, सारंगी छन्द, तोटक छन्द, कमल वन्द डमरु वन्द, नाल वन्द, जवान वन्द, अधर आदि की रचना निरर्थक शब्दों से दूर रह कर करते हैं। साथ ही साथ अष्टव्यूह मण्डल, शीशापलट छन्द भी बिरहा में खूब चलते हैं। यह लगभग दो सौ साल पुरानी परम्परा आज भी बिरहा में जीवित है।

पं0 रामनरेश त्रिपाठी - लोकगीतों के सम्बन्ध में आप का सराहनीय एवं उम्दा कार्य रहा है। आपने लखीमपुर, सुलतानपुर तथा लखनऊ से अपने भ्रमण काल में कुछ बिरहों का संग्रह भी किया है। आप की राय है कि लोकगीतों में छन्द नहीं, केवल लय है।[3] लेकिन त्रिपाठी जी ने यह टिप्पणी केवल लोकगीतों के सम्बन्ध में की है। उन्होंने अपने कविता-कौमुदी भाग-3 में बिरहों को काफी कम संख्या में स्थान दिया है, जब कि प्राचीन बिरहा का भी आपने उल्लेख किया है। बनारस के समीपवर्ती जनपदों में बिरहा में लय एवं अलंकार दोनों समाहित रहे हैं। देखें -

केतकी कदम्ब कीर कोकिला कर पुकार,
ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ। ऽ।ऽ ।ऽ ऽ।ऽ
कामिनी कुलीन की कटी सुकाय लालिमा,
ऽ।ऽ ऽ।ऽ । ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ

इस बिरहा में, ककहरा, अनुप्रास अलंकार, बारह अंक 'क' कलाधर छन्द की पूर्णता, 31 वर्ण एक गुरु (ऽ) एक लघु (।) रगण (ऽ।ऽ) अन्त में गुरु (ऽ) लालिमा का तुक पूरे बिरहा में समाहित है। वर्णिक मात्रिक दोनों का गुण क्रमागत गुरु से पंक्ति का उठना और गुरु पर पंक्तिका का समाप्त होना - कलाधर छन्द की मूल पहचान को पूर्ण करता है। इस प्रकार की गीत बिरहा के हर अखाड़ों में पायी जाती है। परन्तु खेद का विषय यह है कि ग्रियर्सन सहित तमाम भारतीय विद्वानों ने चार-पाँच बिरहा गीतों को उदाहरण मान कर अपने-अपने पुस्तकों और लेखों में बिरहा को अपने-अपने घिसे पिटे ढंग से व्याख्या कर डाला है जो किसी भी लोककला का अपमान है। जब तक उसके हर बिन्दुओं पर विचार न कर लिया जाय, गुण-दोषों को समझ न लिया जाये, तब तक उसके सन्दर्भ में लिखना-पढ़ना तर्क देना, ईमानदारी पूर्ण कार्य नहीं कहा जा सकता।

'भोजपुरी लोक साहित्य' के लेखक महोदय ने पृष्ठ संख्या 371 पर लिखा है कि "इसमें संदेह नहीं कि कहीं-कहीं लोकगाथाओं में अलंकार भी इधर-उधर बिखरे पड़े मिल जाते हैं परन्तु वे अनायास आ गये हैं। यही कारण है कि अपनी सादगी एवं स्वाभाविक प्रवाह के कारण लोगों को ये अधिक प्रिय लगते हैं।"[1]

लेकिन आज बिरहा गायन शैली में पिंगल शास्त्र के लगभग बीस प्रकार के छन्दों की रचना देखने को मिलती है। वही इस लोक गायन शैली ने बदलते सामाजिक परिवेश में पाश्चात्य संस्कृति के धुवांधार प्रहारो से लड़ते हुए एक संदेश वाहक लोक विधा के रुप में अपने को स्थापित कर लिया है। भ्रूणहत्या, दहेज का विरोध, राष्ट्रीय एकता, सामाजिक सदभाव के साथ-साथ समसामयिक परिस्थितियों को अपने गायकी में डाल कर आज का बिरहा गायक स्थानीय समाचार के संवहन का दायित्व निभाता है। जिसे आने वाले भावी पीढ़ी को उसी रुप में हूबहू सौपी जा सके। इसके संरक्षण एवं संवर्धन के लिए विश्वविद्यालय को आगे आकर लोक संगीत विभाग की स्थापना कर बिरहा को पाठयक्रम में शामिल कर एक बडी लोक गायन शैली को बचाया जा सकता है।

लेखक- भारत सरकार, संगीत नाटक अकादमी द्वारा राश्ट्रीय पुरस्कार 2007 से सम्मानित है।

सन्दर्भ

1. भोजपुरी लोक साहित्य, पृ0 सं0 305, लेखक डा0 कृष्णदेव उपाध्याय ।
2. कविता कौमुदी, भाग-5 (ग्राम गीत), पृ0 1
3. भोजपुरी लोक साहित्य, पृ0 सं0 371, ले0 कृष्णदेव उपाध्याय ।
4. लोकसाहित्य की भूमिका, पृ0 सं0 90, लेखक डा0 कृष्णदेव उपाध्याय। माधुरी

सिन्धी लोक संगीत

डॉ. माधुरी चन्दानी

संगीत सेवी, लखनऊ

भारतीय सभ्यता और सस्कृति के विभिन्न अंगों में लोकगीतों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे लोकगीत लोक जीवन के समस्त तत्वों को उभारने वाले सीधे-सादे सच्ची भावनाओं को प्रकट करने वाले गीत है। इन लोकगीतों में भारतीय संस्कृति की आधार शिला एंव लोक-संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है। किसी भी देश -समाज का लोकगीत उस स्थान के लोगों के ह्रदय का उद्गार होता है। इन लोकगीतों में भारत की आत्मा मुखर होकर बोलती है। लोकगीतों के भीतर छिपी भावों की व्यापकता एंव सौन्दर्य इनके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वयं परिलक्षित करते हैं।

विश्व का प्रत्येक समाज अपनी सांस्कृतिक धरोहर रखता है। भारतीय संगीत के सन्दर्भ में तो भारत अनेकों सभ्यताओं का मिलन स्थल रहा है। अतः उसमें सांस्कृतिक विविधता भी है इसी विविध रंग सभ्यता का एक पक्ष सिन्ध-प्रान्त का लोक संगीत भी है। संगीत तो सिन्धी समाज की सम्पूर्ण संस्कृति में रचा बसा है। वह चाहे परमपरागत समारोहों का संगीत हो या फिर सूफ़ी दर वेशों द्वारा गाया गया भक्तिगीत। सभी में सिन्धी लोकगीतों की महत्ता प्रदर्शित होती है। मटके के ताल पर जब ग्रामीण **काफी** और **बैंत** गाकर सुनाते हैं तो ह्रदय रोमांचित हो जाता है। सिन्धी लोकगीतों के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं जैसे-

1. पूजा गीत 2. ओराणा 3. शबद 4. पंजिड़ा 5. लाडा 6. लोलियाँ 7. वैंत 8. काफ़ियूँ 9. कथागीत 10 साखियूँ 11. मोरा 12. छलो 13. विविध गीत

प्रत्येक सिन्धी लोकगीत का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है-

1. **पूजागीत-** किसी भी मांगलिक अवसर पर गाने की शुरूआत देवी गीतों से ही होती है। देवी गीतों में तुलसी, नीम, पीपल, वट वृक्ष इत्यादि का वर्णन अधिकाशतः पाया जाता है। पाली साहित्य, स्कन्दपुराण में वृक्षों की पूजा की विधि बताई गई है। इसके अलावा तुलसी और वड़ की पूजा का भी महत्व बताया गया है। यह पूजा परमपरा आज भी जारी है। अक्षय नौमी के दिन स्त्रियाँ प्रातःकाल पानी का लोटा भरकर तुलसी, पीपल, वट वृक्ष पर पानी डालती है और गीत गाती है जो इस प्रकार है :-

" पिपिर तो में परमेश्वरू आहे
जे को सभ खे पार पुजाए"

हिन्दी अनुवाद- हे पीपल तुझमें परमेश्वर है जो सबको पार पहुचाता है।

2. **ओराणा (शीतलामाता के गीत)-** यह गीत चेचक निकलते समय में गातें हैं। ये शीतलामाता के स्तुति गीत होते हैं और इसमें बच्चे के लिए आशीर्वाद मांगते हैं।

"माई जो आहे घरड़े में,
माँ कहिड़ी करियां क्रित।
पाटि पुसाड़नि थधिड़ियूं मान्यूं,
मां करियां जीजलि जी तातिं।"

हिन्दी अनुवाद-
माता जो आई हैं घर में मैं क्या सत्कार करूँ।
रखी हुई हैं ठण्डी रोटियां, मैं माता को याद करूँ।

3. **शबद-** इन गीतों में किसी देवता, किसी अवतार की स्तुति की जाती है जैसे -

"आउ कृष्न, आउ कृष्न, कृष्न कनाई,
मूं तुंहिजे ख़ातरि, गुलनि फुलनि जी सेज विछाई।"
हिन्दी अनुवाद-
आ कृष्ण, आ कृष्ण, कृष्ण कन्हाई,
मैने तेरे लिए है, फूलों की सेज बिछाई।"

4. **पंजिड़ा-** दरिया यानि नदी। दरिया की आराधना या स्तुति में जो गीत गाये जाते हैं उन्हे पंजिड़ा कहते हैं। नदी की पूजा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। सिन्ध में आज भी नदी की पूजा की जाती है। यह पूजा करने वाले " दरिया पंथी" कहे जाते हैं। ये लोग नदी में " अखो" यानि अनाज के दाने डालते हैं। "बहराना" निकालते हैं। सिन्धी समाज में दरिया के देवता को " उड़ेरोलाल" कहते हैं जिसका अर्थ है जल देवता। इन्हे "वरूणदेव" और "झूलेलाल" भी कहते हैं। झूलेलाल सदैव अमर हैं। मुसलमान इन्हे " जिन्दापीर " भी कहते हैं। कुछ पंजिड़े इस प्रकार हैं

जैसे - नदी की सराहना में गाये जाने वाले गीत-

" बेड़िया वारा अदा रे मुहांड़ां लाल ते थी वञां
लाल ते थी वञां ओ वञां मां त अखो पायण थी वञां ओ वञां मां त
गुल्ल चारहण थी वञां -"

हिन्दी अनुवाद- हे नदी के बीच नाव पर बैठे हुए देवता मेरे झूलेलाल प्रभु मैं आपके पास फूल चढ़ाकर और अखो यानि अनाज के दाने डालकर विनती करने आ रही हूँ।

5. **लाड़ा -** यह शब्द "लाड" से निकला है जिसका अर्थ है प्यार। इसमें एक शब्द आता है " लाड़ल" अर्थात लाडला यानि प्यारा। लाड़ल से लाड़ो अर्थत जो लाड़ल (प्यारे) से सम्बन्धित हो। ये लाड़े कई प्रकार के होते हैं जैसे :-

जन्म के लाड़े, नामकरण के लाड़े, विवाह के लाड़े इत्यादि विवाह गीत में बेटा-बेटी दोनो के लाड़े। विवाह में कई प्रकार के गीत होते हैं जैसे तेल के मुकुट के , बुकी (रस्म) इत्यादि।

उदाहरण के लिए विवाह गीत इस प्रकार है :-

दूल्हे को तेल लगाते समय लकड़ी की चौकी पर बैठाते हुए यह गीत गाते हैं जैसे-

" रख सन्दुलिय ते पेर मुहिंजा मोर लाड़ा
घोरां घोरिंदे माव मुहिंजा मोर लाड़ा।
तोखे तेल लगायां, तोखे बुकी मां पायां
मुहिंजा मोर लाड़ा"

हिन्दी अनुवाद- दूल्हे राजा चौकी पर बैठो तुम्हे तुम्हारी माँ आर्शीवाद देती है और तेल लगाती है।

लोलियाँ- "लोलियाँ" अर्थात "लोरियां" इसमें माँ की ममता समाई रहती है माँ बच्चे को सुलाते समय लोरी गाती है जो इस प्रकार है :-

" सिकी लधा पींघे वारिड़ा,
गुरूअ दिनड़ा, बार सदोरिड़ा,
लाल लोदायमि, लालु हिंदोरड़ा,
लुदी त, जाइ भरींदो,
दियां लोली, पींघे वारिड़ा।"

हिन्दी अनुवाद- ढूंढ लिया हिंडोले वाला, गुरू ने दिया, बच्चा सुन्दर प्यारा

झूले लाल ने झुलाया, लाल हिंडोला, झूलकर बड़ा होगा, दूं लोरी, हिंडोले वाले।"

7. **बैंत-** इसमें चार पंक्तियां होती हैं। कुछ में तीन कुछ में पांच भी होती हैं इसकी अन्तिम पंक्ति के बीच में वही तुक (काफ़ियां) पंक्ति पूर्ण की जाती है जो पहली, दूसरी, तीसरी अथवा चौथी पंक्ति के अन्त में होती है जैसे -

" जिनि खे दर्दु दौर जो, सबकु सूर पढ़नि,
फ़िक्र फरही हथ में, माठि मुतालिउ कनि,
पनो सो पढ़नि, जंहि में पसनि पिरींअ खे।"
हिन्दी अनुवाद- जिन्हे दर्द प्रेम का,
दुख का पाठ पढ़े,
चिन्ता पटूटी हाथ लें, चुप्पी साध लें,
पन्ना वही पढ़े, जिसमें देखे प्रिय को।"

8. **काफ़ियूं-** सिन्धी भाषा में प्रायाः प्रेम सम्बन्धी बाते होती हैं। सिन्धी कवियों ने काफ़ियूं विशेष तौर पर वर्षा ऋतु में कही हैं काफी में प्रियतम के तड़पते दिल की व्यथा का वर्णन होता है। काफी " इकतारे" के साथ-साथ "सुरन्दा" (एक सिन्धी वाद्य) पर भी गाई जाती हैं। उदाहरण के लिए एक काफी इस प्रकार है -

" घोरी घोरी घोरी, वे जिन्दुड़ी,
सजण तोतां घोरी।
राति दीहां आहे अव्हांजी, साईं झोरी झोरी।

हिन्दी अनुवाद- निछावर निछावर निछावर है जान, सजन जान तुझ पर निश दिन लगी रहती है मुझको, तेरी तड़प दिलबर।

9. **कथागीत-** कथा गीत में कहानियां होती है कहानियों को सिन्धी भाषा में "अखाड़ियूं " कहते हैं ये कहानियां बच्चों को बहुत पसन्द है जब बच्चे झुण्ड बनाकर दादा -दादी या नाना -नानी के पास बैठते हैं तो कहानी सुनाने की जिद करने पर दादा -दादी या नाना -नानी ये कहानियां सुनाते हैं उदाहरणस्वरूप जैसे-

" कुंभर डे कुंग्र, को कंगु दिठुइ,
चप चोरींदो दिठुइ, मुछ मोड़ींदो दिठुइ,
मुहिजो नेरानो कंगु।"

हिन्दी अनुवाद-कंग यानि कौआ। कौवे की नानी कौवे को खोजती है वह सबसे पहले कुम्हार के पास जाती है और कहती है

कुम्हार रे कुम्हार कोई कौआ देखा,
होंठ हिलाते देखा मूंछ मरोडते देखा मेरा भूखा प्यासा कौआ।

10. **साखियूँ-** " साखी" में स्त्री के मन का चित्र अंकित होता है इसके अन्त में एक बात बार-2 आती है वह ये है " हा हा मुहिंजो पपिअड़ो। एक उदाहरण है -

" साखी दियांइ सनेहड़ो,
अजु बबुरनि में बि बिटो,
ओ मुंहिंजा होत पुन्हल जदी चेटु फगुणु फुटो,
आई मुंद मिलण जी।
हा हा मुंहिंजो पपिअड़ो।
हिन्दी अनुवाद-
सखी दू सन्देश मैं आज बबूलों में दुगना ,
ओ मेरे प्रियवर पुन्हल,

जब चैत्र फाल्गुन आया,
आई ऋतु मिलन की।
हाँ हाँ मेरा पपिहरा''।

11. **मोरा**- मोरा को ''मोरड़ो'' या '' मोरो'' भी कहते हैं यह सिन्ध के काछों और कोहिस्तान क्षेत्रें का लोकप्रिय गीत है यह दो पंक्ति वाली कविता है जिसकी तुक दूसरी पंक्ति की तुक से मिलाई जाती है। जैसे-

'' मोरो वेठी ग्रायां
मोरो नाहे थोरो थोरो, मोरो वेठी ग्रायां''।
हिन्दी अनुवाद-
मोरो बैठकर गाऊं
मोरो नही है थोड़ा थोडा, मोरो बैठकर गाऊं।''

12. **छलो** - ''छल्ला'' अर्थात ''अंगूठी''। प्रेमी एक दूसरे को निशानी के तोर पर अंगूठी देते -लेते हैं। इसमें पांच पंक्तियां होती है जिसमें तीन पंक्तियों की एक तुक और दो पंक्तियों की एक ही तुक होती है। चरवाहे पशु चराते समय किसान हल चलाते समय ''छला'' गाते हैं। हालांकि यह गीत हैं स्त्रियों के। इनमें उनके दिल में बसे प्रेम का वर्णन होता है। एक उदाहरण इस प्रकार है-

'' छलो चान्दी चंदु आहि,
ठाहियो अबीचन्द आहि,
ठाहियो दिलबन्द आहि,
भला यार जानी,
थियां तुहिंजी ब्रान्हीं। ''
हिन्दी अनुवाद-
छला चान्दी चन्द है, बनाया अबीचन्द है
बनाया दिलबन्द है भले यार जानी,
बनू तेरी निमानी।''

विविध गीत-विविध गीतों में बाल गीत, स्त्री पुरूष के मिले जुले गीत, बेलणी , उपंग, मदायूँ, स्लोक इत्यादि गीत आते हैं।

सिन्धी संगीत वाद्य यन्त्र- हर देश का अपना संगीत, अपने वाद्य यन्त्र और सुरताल होते हैं इसी प्रकार सिन्ध का भी उच्च कोटि का निजी सिन्धी संगीत है। उनकी अपनी धुने और वाद्य यन्त्र है। सिन्धी लोक संगीत में जो वाद्य यन्त्र उपयोग में लाया जाते हैं वे सिन्ध से ही उत्पन्न हुए हैं जैसे - मटका , इकतारा, नड़, बीन, बांसुरी, थाल , सुरन्दा इत्यादि।

मटका (दिला)- सिन्धी लोक संगीत में ''दिला'' यानि ''मटका'' वाद्य बहुत प्रसिद्ध है मटका सिन्धी संगीत की पहचान है। यह मटका पक्की मिट्टी का बना होता है। मटके के साथ सूफी गीत, लोक कथायें, सोहनी महिवाल इत्यादि के गीत गाये जाते हैं।

इकतारा- यह वाद्य यन्त्र भी सिन्ध में आम लोगों में बहुत लोकप्रिय है। ग्रामीण सभाओं में दिला (मटका) और इकतारा अवश्य होता है। इकतारे की बनावट में सूखा हुआ कद्दू जिसे सिन्धी भाषा में '' तुम्बा'' कहते हैं। इसका आकार गोल और चपटा होता है। इसके मोटाई वाले भाग में बीच में से आर-पार सुराख करके उसमें लकड़ी की पट्टी अथवा गोल लकड़ी डाली जाती है। जिससे इकतारा कन्धे के सहारे एक हाथ में पकड़ा जाता है। इसमें तांबे की डेढ इन्च की चौड़ी पत्ती होती है जो कद्दू के गोल के बीच में खड़ी करके उसपर तार बिछाकर कसी जाती है। तार का एक छोर पट्टी पर कसते हुए दूसरा छोर खूंटी पर कस दिया जाता है इसको हाथ की तर्जनी अंगुली से बजाते हैं।

नड़- यह लगभग ढाई तीन फिट लम्बा बांस होता है जिसके निचले भाग में छेद किये जाते है। इनकी संख्या पांच सात अथवा नौ होती है। नड़ का एक छोर खुला तथा दूसरे छोर पर एक प्रकार की टोंटी रहती है। जिसे होंठ पर रखकर और फूंक मारकर बजाते हैं।

बीन- यह वाद्य यन्त्र भी नड़ की भांति होता है। इसमें दो पूरी नलियां लगभग डेढ फिट लम्बी होती है इनके छोरों पर भी टोंटी लगी होती है जिससे उन नलियों को बजाया जाता है।

सुरन्दा और बाँसुरी- यह वाद्य यन्त्र भी ग्रामीण क्षेत्रें में बजाये जाते हैं। सुरन्दा आज कल के वायोलिन की भांति होता है इसे '' सिन्धी सारंगी'' भी कहते हैं। भगत ''कंवर राम साहब'' के साथ एक सुरन्दा वादक रहता था।

बाँसुरी सिन्ध प्रान्त का प्रिय वाद्य है इसे सिन्धी भाषा में '' बंसरी '' भी कहते हैं। बाँसुरी प्रायः चरवाहे बजाते थे।

सिन्ध की सही तस्वीर यदि मिलेगी तो इन्ही लोकगीतों और लोक वाद्यो में ही। यदि यह सिन्धी लोक गीत न होते तो हमारा जीवन सम्भवतः नीरस सा हो जाता। यह लोक संगीत हमारी परमपरा हैं, हमारी धरोहर है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिन्धी लोक कला - डा0 नारायणा भारती
2. भगवान झूले लाल- प्रो0 नेत्रपाल सिंह र
3. भारत के सिन्धी गेय प्रेमाख्यान - डा0 किशनी फुलवासी खेमानी
4. एकता जो अवतार अमर उड़ेरो लाल- लेखराजा ''हंस''
5. गौरवमयी सम्पदा के धनी सिन्धी- कीमत राय हरि सिंघाणि
6. प्रारम्भिक भारत का परिचय- रामशरण शर्मा
7. प्राचीन भारत - एल.पी. शर्मा
8. प्रायोगिक संगीत के आधार पर।

लोकजीवन में लोकसंगीत की भूमिका एक अवलोकनात्मक अध्ययन

डॉ0 सुनील कुमार

रिसर्च स्कॉलर, हिन्दुस्तानी संगीत (गायन), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रकृति की अनंत व अदभुत शक्तियों से अंचभित आदि मानव जब सृष्टि गूढ रहस्यों को न समझ पाया, तो रचियता के प्रति भय-मिश्रित आश्चर्य जनित आस्था से उसका मस्तक नत हुआ और फिर सर्वशक्तिमान के नाम पर देवी-देवता अस्तित्व में आये शनैः शनैः इसके पश्चात कार्य सिद्धि के लिए शक्तियाँ, देवी देवताओं की पूजा स्तुति आवश्यक समझा गया कार्य सिद्धि की अवस्था में देव-स्थल के वाद्य प्रसन्नता की अभिव्यक्ति में शारीरिक झूम व सस्वर देवी-देव स्तुति कालांतर में बाहर भी आनी आरंभ हुई एंव समय के साथ नित नये नवीन रूप उभरे और परिवर्तन स्वरूप गीत वाद्य नृत्य में विविधता एंव सरसता आई। संगीत का उद्देश्य सदैव ही आनन्द प्राप्ति एंव मोक्ष रहा है 'संगीत का अर्थ आत्मा का परम तत्व में विलीन होने से लिया गया है। संगीत एक प्रयोगात्मक कला है जो कि अमूर्त है इस कारण वैदिक काल में ही संगीत इतना महत्वपूर्ण अंग था कि संगीत में सिद्धान्तों एवं नियमों का पालन होता था ताकि संगीत सुव्यवस्थित उच्चस्तरीय एंव रंजक लगे। सामान्यतः भारतीय संगीत को दो भागों में विभक्त कर सकते हैः-

1. भाव संगीत 2. शास्त्रीय संगीत

भाव संगीत के अर्न्तगत सुगम संगीत, लोक संगीत, भजन, उत्सव विशेष के गीत, ऋतुओं के गीत, फिल्मी गीत तथा ग़जल को स्थान दिया जा सकता है। इनमें स्वर, लय, काव्य, तीनों का आनन्द प्राप्त होता है। इस तरह का संगीत जन संगीत होता है। भाव संगीत रागों पर आधारित हो सकता है किन्तु यह शास्त्र के कठोर नियमों से बंधा नहीं है। लोक संगीत भाव प्रधान है। लोक संगीत हर वर्ग, हर क्षेत्र का संगीत है। लोक गीतों को मात्र ग्राम गीत कहकर उनकी व्यापकता को कम नहीं किया जा सकता। लोकगीत हमारे जीवन विकास की गाथा है। उनमें जीवन के सुख दुखः मिलन विरह उतार चढ़ाव की भावनाएं व्यक्त हुई हैं। सामाजिक रीति एंवं कुरितियों के भाव इन लोकगीतों में समाविष्ट होते है। संगीत यदि बहुत नियमों से बंधा, तो शास्त्रीय संगीत हो गया, पर शास्त्रीय संगीत होकर भी उसे लोक संगीत से नयी उसे प्राणवत्ता मिली।

आन्नद उल्लास और विषाद के अतिरेक में जन साधारण स्वर और लय के माध्यम से जब भावों की अभिव्यक्ति करता है. जो वह लोक संगीत कहा जाता है। इस प्राकृत कला को सीखने के लिए किसी विशिष्ट शिक्षा दीक्षा, अभ्यास अथवा साधना की आवश्यकता नहीं होती है। जन साधारण के मनोरंजन प्रतीक लोक संगीत की भाषा सरल, धुने सहज एवं हृदयग्रहिणी होती है संसार में मानव के आर्विभाव के साथ ही लोकगीतों का उदगम् माना जाता है जिसमें लोक से तार्त्पय सम्पूर्ण जन मानस से है। डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमे भूत भविष्य और वर्तमान संचित है अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजांपति है।[1]

लोक शब्द की व्युत्पत्ति

'लोक शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'लोक दर्शने' धातु में धन् प्रत्यय लगाने से हुई है धातु का अर्थ हुआ देखना। लट् लकार के अन्य पुरूष एकवचन में इसका रूप होता है 'लोकते'। अर्थ हुआ देखने वाला वह समस्त समुदाय जो इस क्रिया को करता

है लोक के अन्तर्गत समविष्ट है।[2] अंग्रेजी के फोक का पर्यायवाची हिन्दी शब्द लोक राष्ट्र, जाति सर्वसाधाराण या वर्ग विशेष है। फोक के लिए हिन्दी में जन या ग्राम शब्द भी प्रयोग किये जाते है। फोक के लिए ग्राम शब्द प्रयोग करने वालों के लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का यह कथन अनुकरणीय है कि लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली समस्त जनता है जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है।

लोकगीत शब्द का प्रयोग नया नहीं है, इसका दायरा बहुत विस्तृत है सृष्टि में सूर्य लोक, चन्द्र लोक, भूलोक, पाताल लोक, आदि अनेक लोक है। लोक साहित्य जहां जनता द्वारा रचित साहित्य है वहां जन साहित्य जनता के लिए व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है।[4] प्रजातंत्र और लोकतंत्र की प्रेरणा से लोक शब्द विशेषतः गौरवान्वित हुआ है, फलस्वरूप लोक कला, लोक साहित्य, लोक गाथा, लोक गीत, लोक संस्कृति में लोक शब्द का प्रयोग उक्त अर्थो में किया जाता है।[5] लोक गीत हृदय की वाणी होने के साथ-साथ समाज की चेतना और अनुभुति पर आधारित है। जिनसे बुद्धि की अपेक्षा परम्परा का प्राधान्य होता है। इसलिए लोकगीतो में कलापक्ष का वह रूप नहीं मिलता जो कलात्मक साहित्य में दृष्टिगोचर होता है।[6] सामान्य लोकजीवन की पार्श्व भूमि में आचिंत्यरूप से अनायास ही फूल पड़ने वाली मनोभावों की लयात्मक अभिव्यक्ति लोकगीत कहलाती है।

लोक संगीत का परिभाषा

विभिन्न विद्वानों ने लोकगीतों की विभिन्न परिभषाएं दी है:-

एन्साइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटिनिका के अनुसार लोक संगीत का संकुचित अर्थ लेकर केवल उन्हीं लोगों के हर्ष विषाद का भान करवाता है, जो नागरिक संस्कृति और तकनीकी शिक्षा से परे हैं, निरक्षर अथवा मामूली अद्वार ज्ञान रखने वाले ग्रामीण है।

डॉ, चिंतामणि उपाध्याय के अनुसार, मानव हृदय में अपने आप उमड़ कर संगीत में प्रकट होने वाली भाव धारा को हम आदिम और आधुनिक, सभ्य और असभ्य, ग्राम ओर नगर आदि विभेदों मे रखकर विचार नहीं कर सकते। लोकगीत केवल आदिम जातियों की वस्तु नहीं। आधुनिक विश्व के जन मानस में भी गीतों के रूप मे अनंत भाव धाराओं की अभिव्यक्ति होती रहती है। स्व. सूर्यकिरण पारिख ने ग्रामगीत शब्द का खंडन करते हुए लिखा है हमारे ख्याल से लोकगीतों को ग्राम की संकुचित सीमा में बांधना उनके व्यापकत्व को कम करना है। ग्राम और नगर के भेद अवार्चिन काल से बढ़े है। गीतों की रचना में नगर का इतना हाथ है जितना कि सर्व साधारण जनता लोक का...[10]। विद्या चौहान के मत में...गीत परम्परा की एक धारा जब अपनी देशज बोलियों में लोक वाणी को प्रभावित करने लगी तो उसे लोक गीत के नाम से ज्ञापित किया गया।[11]

डॉ. कुंजबिहारी दास ने लोकगीतों की परिभाषा देते हुए कहा है, लोक संगीत उन लोगों के जीने की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है जो संसुस्कृत तथा सुसभ्य प्रभाव से बाहर कम या अधिक आदिम अवस्था में निवास करते है। यह साहित्य प्रायः मौखिक होता है और परम्परागत रूप से चला आ रहा है।[12]

इस प्रकार लोकगीत सामान्य जन के गीत है, जो अपनी परम्परा और संस्कृति को जीवित रखने के प्रबल स्रोत है। लोकगीत सामूहिक जनमानस की एक सामूहिक अभिव्यंजना है, जिसका स्रष्ठा एक व्यक्ति नही है। लोकगीतों की में एक ऐसी धारा प्रवाहित होती है जो सम्पूर्ण गीत को एक सुन्दरतम रचना का प्रभाव ओर गुण प्रदान करती है। किसी भी लोकगीत के छिपे हुए गूढ रहस्य को पढ़ लेना ओर समझ लेना लोकगीतों की आत्मा को समझना नहीं हो सकता। संगीत कान की चीज है श्रवण का सुख है इसलिए लोकगीतों के कान का पक्ष बहुत महत्वपूर्ण नहीं बल्कि आवश्यक है। लोकगीत ही सर्वव्यापी है और सही अर्थो में धरती का संगीत है। इस कारण ही विशिष्ट वातावरण, परिस्थिति एवं वेशभूषा तथा संस्कृति में आबद्ध होकर भिन्न-भिन्न प्रदेश, देश काल एवं स्थिति के सौन्दर्यात्मक वर्णन से लोक संगीत मुक्त रहा है।

लोकगीतों की परम्परा

लोकगीतों के बीच प्रथम बीच वैदिक ग्रन्थों मे उपलब्ध है। पुत्र जन्म, यज्ञोपवित, विवाह आदि अवसरों पर गीत गाए जाने का उल्लेख है और इन गीतों के लिए गाथा शब्द का प्रयोग मिलता है।

ऋग्वेद में गाए जाने वाले गीत रैगी, नाराशंसी संज्ञाओं से अभिग्रहित थे।[13] गाथाओं का गायन विशेष रूप से राजसूर्य यज्ञ मे किया जाता था किन्तु मैत्रयिणी संहिता में विवाह अवसर पर गाथा गायन का प्रमाण मिलता है।[18] महाकाव्य एवं पौराणिक युग मे भी लोकगीतों की परम्परा मिलती है। श्रीमद्भागवत् मे वेद व्यास जी ने कृष्ण जन्म पर गाए जाने वाले गीतों का उल्लेख किया जाता है।[14] आदि काल से लेकर सुर और तुलसी के युग तक लोकगीतों के निम्न प्रकार मिलते है।

1. बधावा
2. विवाहः गीत मंगल काव्य
3. होली के गीत
4. चचरी (चांचरी) नृत्य गीत
5. सोहर पुत्र जन्म के गीत
6. गारी
7. अचरिया (भजन)

लोकगीतों के विस्तृत जानकारी वाली प्राकृत आदि जन भाषाओं में व्यापकता मिलती है। प्राकृत भाषा एवं अपभ्रंश साहित्य में लोकगीतों का अच्छा विकास हुआ। पं. राम नरेश त्रिपाठी ने लिखा है-जब से पृथ्वी पर मनुष्य है तब से गीत भी है। जब तक मनुष्य रहेंगे तब तक गीत भी रहेंगे। मनुष्य की तरह गीतों का भी जन्म-मरण साथ-साथ चलता रहता है। कितने ही गीत तो सदा के लिए मुक्त हो गए कितने ही गीतों ने देश-काल के अनुसार भाषा का चोला तो बदल डाला, पर अपने असली स्वरूप को कायम रखा। बहुत से गीतों की आयु हजारों वर्षो की होगी। वे थोड़े फेर-बदल के साथ समाज में अपना अस्तित्व बनायें रखे हुए है।[15]

लोक संगीत के लक्षण

लोक संगीत के निम्न लक्षण निर्धारित किए गए है।

1. पारंम्परिकता
2. स्वराकार का ज्ञात होना
3. अल्प स्वरों का प्रयोग
4. अंतरे का अनिवार्य न होना
5. संगीत के शास्त्रीय नियमों से मुक्त होना
6. सहजता
7. पुनरावृति
8. लोकगीत का सहजन्मा होना
9. निरर्थक शब्दों का प्रयोग लोकगीत एवं लोकरूचि की अनुकूलता

किसी भी धुन को लोक धुन बनने के लिए समय अवश्य चाहिए। प्रचलित लोक धुने कब से प्रचार में है और इनके रचनाकर कौन है ये कुछ ज्ञात नहीं हो पाता, यह पारम्परिकता का प्रभाव है। इस प्रकार प्रत्येक प्रान्तों, इलाकों, एवं कस्बों का अपना एक विशिष्ट लोक संगीत होता है जो वहां के लोगों के दैनिक जीवन में होने वाले क्रियाकलापों, रूचि, दिलचस्पी एवं स्वान्तः सुखाय के अनुसार निर्मित होता है। जिससे वहां के इतिहास, परिवेश, खानपान, रहन-सहन संस्कृति का सांकेतिक विवरण ज्ञात होता है दैनिक जीवन मे लोक संगीत लोक मानस के अनुरूप स्वयं प्रकट हो जाते है। स्वयं भू होने से उनमें अकृत्रिमता, समानता सीमित्व और रंजकत्व आदि विशेताएं बनी रहती है लोक संगीत में जीवन की वास्तविकता प्रकट करने मे समर्थ है वहाँ नवीनता में भी अति नवीन है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ शांति जैन लोक गीतो के सन्दर्भ और आयाम पृ. सं.1
2. विद्या चौहान लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पृ. सं.1
3. जनपद वर्ष 1, अंक 1. पृ. सं. 65
4. जनपद त्रैमासिक खण्ड- 1, अंक 2. पृ. सं. 63, 64
5. डॉ ज्योति तिवारी, कुमाऊनी, लोकगीत तथा संगीत शास्त्रीय प्रवेश पृ. सं. 2
6. पं राम नरेश त्रिपाठी कविता कौमुदी, भाग-5 पृ. 2
7. डॉ चिंतामणि उपाध्याय मालवी लोकगीत एक विवेचनात्मक अध्ययन पृ. सं. 5
8. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटिनिका भाग-9 पृ. सं. 44
9. डॉ चिंतामणि उपाध्याय मालवी लोकगीत एक अध्ययन पृ. सं. 5
10. सूर्यकरण पारीख, राजस्थानी लोकगीत पृ. सं. 1
11. विद्या चौहान, लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पृ. सं.17
12. शांति जैन लोकगीतों के संन्दर्भ और आयास पृ. सं.1
13. राम नरेश त्रिपाठी कविता कौमुदी, तीसरा भाग, ग्रामगीत पृ. सं.17
14. मैत्रयिणी संहिता 3/7/31
15. श्रीमद भागवद् गीता दशम स्कन्ध

12-Back Side K

आदिवासी लोक संगीत

नीता कुमारी

रिसर्च स्कॉलर, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

प्राचीनकाल से ही 'लोक' शब्द का व्यवहार होता आया है। इस शब्द के लिए ''ऋग्वेद'' में 'जन' शब्द का प्रयोग हुआ है। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है। भरत के ''नाट्यशास्त्र'' में भी 'नाट्यधर्मी' एवं 'लोकधर्मी' प्रवृत्तियों का उल्लेख हुआ है।

लोकसंगीत का संधि विच्छेद करने पर दो शब्द मिलते हैं। 'लोक' एवं 'संगीत' जिसका अर्थ है- लोगों का संगीत। कहा जाता है कि लोगों के जन्म के साथ ही लोकसंगीत का भी जन्म हुआ है। मनुष्य की भावनाओं को सरलता एवं मधुरता से अभिव्यक्त करने की क्षमता लोकसंगीत में होती है।

किसी क्षेत्र का लोकसंगीत उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों की जीवनशैली, जीवन-मूल्यों, उनके विचार तथा चरित्र का आईना होती है। जब लोग अपने प्रान्त की भाषा में गाते हैं तथा उस गाने मे उनके जीवन का सुख-दुख, धर्म, पौराणिक कहानियाँ, समाज एवं संस्कृति का वर्णन होता है तो उसे लोक संगीत कहा जाता है। इसके माध्यम से हम अपने हृदयगत भावों को सरल एवं सुगम रुप से अभिव्यक्त कर सकते हैं। हमारे भावों को शब्दों में बांध कर लोकसंगीत की रचना की जाती है। उसकी गायन पद्धति बहुत सहज एवं सरल होती है तथा इसके भाव सच्चे होते हैं।

लोकसंगीत में मुख्यतया तीन प्रकार की विशेषताएँ पाई जाती है-

1. लोक निर्मित होता है।
2. लोक प्रचलित होता है।
3. लोक विषयक होता है।

लोकसंगीत किसी शास्त्र से बंधा नहीं होता। इसमें रचनाकार या गायक कलाकार का नाम महत्वपूर्ण नहीं होता है बल्कि इसकी रचना किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा होती है। "श्री शरतचन्द्र परांजपे" के अनुसार 'लोकसंगीत' में जो संगीत की प्राथमिक अवस्था है, केवल कुछ ही स्वरों का प्रयोग पाया जाता है और उसी की बार-बार आवृत्ति होती है। संगीत के सात स्वरों का प्रयोग इनमें नहीं के बराबर होता है। जहाँ कहीं भी इस प्रकार का प्रयोग पाया जाता है वह शहरी-संगीत या नगरी-संगीत का प्रभाव माना जा सकता है।

लोक संगीत आदिकाल से ही जनजीवन का अभिन्न अंग रहा है। किसी भी संस्कृति का अभिन्न अंग लोकसंगीत को माना जाता है। व्यक्ति के नैतिक मूल्यों, सामाजिक-उत्सव, त्याहारों, रीति-रिवाजों एवं सामूहिक कार्यों द्वारा ही लोकसंगीत का जन्म हुआ। इसके माध्यम से हमें विभिन्न प्रान्तों की सामाजिक व सांस्कृतिक परिचय, प्रतिभा एवं संगीत रसिकता आदि के विषय में जानकारी मिलती है।

हमारे देश में कई प्रकार के लोकसंगीत प्रचलित है। उत्तर-पश्चिम भारत के अलग-अलग प्रान्तों में-बारहमासी, विरहा, लावनी, सावनी, घोड़ी-बन्ना, जेवनार, जनेऊ, भात, गारी, झूमर,कजरी, चैती, आल्हा, मान्ड, सोहर इत्यादि प्रचलित है। पंजाब प्रान्त में भांगड़ा, हीर एवं गुजरात का गरबा तथा रास इत्यादि प्रचलित है।

जिस प्रकार ग्रामीण लोगों मे लोकसंगीत प्रचलित है इसी प्रकार जनजातियों मे भी 'लोक संगीत' का प्रचलन है जिसे आदिवासी-लोकसंगीत कह सकते हैं।

लोक संगीत प्रकृति की अनुपम देन है। इसलिए वह प्रकृति के सबसे निकट है। प्राकृतिक सौंदर्य के

प्रेरणा से ही आदि-मानव मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई और सौंदर्य-बोध के कल्पना की उत्पत्ति हुई।

आदिवासी प्रकृति के रमणीय रंगस्थली में निवास करते हैं। इसलिए जीवन की पृष्ठभूमि में लहरदार घाटियाँ, अत्यंत सुंदर फूल, पहाड़ के ही गोद में बस्तियां, जंगलों मे चहचहाते पक्षियों का समूह चट्टानो पर निर्झरनी, आकाशीय बादल, क्षितिज का सौंदर्य, संध्या-प्रभात आदि की सुंदर एवं चित्रत्मक प्रस्तुति है। वह रस श्रृंगार एवं सौंदर्य की बढ़ाने वाली है।

''श्री चंद्र जैन जी'' के अनुसार - आदिवासियों का समस्त जीवन नृत्य और गीत के लालित्य से परिपूर्ण है। पर्वतों की दुर्गम चढ़ाई को ये गीतों के सहारे सुगम बनात रहते हैं। गीत-स्त्रव में विभोर आदिवासी को देखकर आज का भौतिकवादी चकित हो सकता है। अभावों के बीच हँसना, कठिनाईयों में मुस्कुराना, विपत्तियों में झूमकर चलना, ज्वालामुखी शिखर पर बैठकर गुनगुनाना, व्याघों से घिरे हुए कानन में निर्भय होकर मुरली, बजाना एवं ग्रीष्म के तपे हुए सूर्य के नीचे आनंद-मग्न होकर ढोल पर थापें मारना आदिवासियों से ही सीखा जा सकता है। इनके गीत हृदय के अविनश्वर स्वर हैं। जिनमें जीवन के सुख-दुःख, आस्थाएं, मान्यताएं, विश्वास परंपराएं धार्मिक चिंतन, देवराधना, जिन्दगी के उतार-चढ़ाव शांति-विद्रोह लोक-विश्वास, सामाजिक-व्यवस्था, कर्मशीलता, प्रेम-सौंदर्य, प्रकृति-मनोहरता, राम-कृष्णगाथा, यथार्थवाद, आदर्शवाद आदि स्पष्ट रुप से उभरे हैं।

आदिवासियो के बीच जन्म विवाह एवं मृत्यु संबंधित संस्कार प्रचलित है। बच्चे का जन्म संस्कार परिवार के लिए आनंद का अवसर होता है। इस मौके पर गायन, वादन, नृत्य भी किया जाता है। बच्चे धीरे-धीरे माँ की गोद में बढते हैं एवं तरह-तरह के खेल खेलते हैं और अपनी संस्कृति के गीत, नृत्य आदि का अनुकरण करते हैं

आदिवासी अपने साधन एवं सामर्थ्य की सीमाओं में जीवन जीना पसंद करते हैं और पूरी तन्मयता से जीवन का उपभोग करते हैं। आदिवासी संस्कृति का परिचायक उनका लोकसंगीत है। "लोकसंगीत अंक" में आदिवासी लोकसंगीत के बारे में लिखा है कि "आदिवासी संगीत भी अन्य लोकसंगीत जैसी अपरिवर्तित शैली मानी जाती है।"

"डॉ0 श्यामाचरण दूबे" के अनुसार- "लोक संगीत स्वतः स्फूर्त प्राकृतिक काव्य के अंग हैं लोकगीतों में उनके रचियता अथवा रचनाकाल का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं होता, उनका महत्त्व तो उनकी सहज रसोद्रेक की शक्ति तथा सरल सौन्दर्य में रहता है, उनमें एक व्यक्ति अनुभूति कि अपेक्षा लोक हृदय की अनुभूति हीं अधिक रहती है। व्यक्ति विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व न कर लोकगीत समुदाय की भावनाओं के कहीं अधिक सच्चे प्रतीक होते है। काल और स्थान की सीमा को लांघकर लोक गायकों एवं गायिकाओं के अधरों पर जीवित रहने वाले ये लोकगीत अतीत की परंपरा को वर्तमान में भी अंशतः जीवित बनाए रखते हैं। समय के व्यवधान से लोकगीतों के बाह्य स्वरूप में तो परिवर्तन अवश्य होतें हैं किन्तु उनके मूल भाव तथा अभिव्यक्ति की अपनी विशेष शैली अपरिवर्तित ही रहती है।"

प्रत्येक प्रांत के लोकगीतों में हृदय-पक्ष प्रधान होता है। इसकी अभिव्यक्ति प्रायः जन समूह में प्रचलित संगीतात्मक धुनों पर होता है। इसमें शास्त्रीयता नहीं होतीं। गीतों के निर्झरनी से निनादित लोकगीत चिर प्रेरणा प्रदान करने वाले होते हैं।

आदिवासी लोकसंगीत की सृष्टि प्रकृति की मनोरम एवं रमणीय धरती पर होती है। इसलिए सुंदरता, कलात्मकता, संगीतात्मकता, मधुरता, आकर्षण, श्रृंगारिकता, अनुराग एवं प्रेमाभिव्यक्ति आदि मनुष्य के हृदयगत भावों को पुलकित करते हैं।

इनके गीतों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

1. आदिवासी संगीत का आकार छोटा भी होता है एवं बड़ा भी होता है। कुछ गीत ऐसे हैं जो सिर्फ दो चार पंक्तियों वाले होते हैं। इनकी संख्या बहुतायत हैं।
2. आदिवासी संगीत में ''कथात्मक गीत'' गीत का एक प्रकार है। इसकी पंक्तियाँ करीब डेढ़ सौ होती है।
3. आदिवासी संगीत के धुन या राग है- (क) ऊ हो हे ऊ हो हो (ख) ओ हो हे हे (ग) ओ हो हो हो रे ता।

12-Front Side K

4. भिन्न-भिन्न गीत के भिन्न-भिन्न राग होते है। प्रायः सभी गीतों मे राग, टेक एवं आड़ रहते हैं।
5. गाने क बीच-बीच में टेक की आवृत्रि होती रहती है।
6. गीतो में छन्दों का प्रयोग तो निश्चित नहीं होता किन्तु गीतों मे यति और गति निरंतर रुप से विद्यमान रहते हैं। इससे गायकों को सुविधा भी मिल जाती है।
7. इनके गीतों में पंक्तियों की लंबाई समान होती है। उसमें एक लय होता है।
8. श्रृंगारपूरक गीतों में वियोग एवं संयोग के सुंदर तथा मर्मस्पर्शी चित्र अंकित रहते हैं।
9. प्रकृति के बीच रहने के कारण आदिवासी पूरी तन्मयता से वन-गीत गाते हैं।

इनके गीतों में मौसमी गीत, लोरी, क्रीड़ा-गीत, फसल कटाई, बुनाई गीत आदि प्रचलित है। एक प्रकृति-गीत इस प्रकार हैं-

''सिरजोन माहिमा रे चेड़े चिपरुत
सेना सेताक को ओड़ेहें माड़ाङ
सेरेमा सिसिर हों ढ़ाड़ ताहेंन
हारयड़ धुबी धांस रे ''विलित्-बालाड़''

आदिवासी के जीवन में संगीत तथा नृत्य का महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत एवं नृत्य उनके जीवन का अभिन्न अंग है। आदिवासी गीत एवं कला ही उनकी संस्कृति को संजोए हुए हैं। सभी त्याहारों एवं अवसरों पर भिन्न-भिन्न धुनों के गीत गाए जाते हैं। धुन कई प्रकार के होते हैं-' नीचा, ऊँचा कंपनयुक्त या विभिन्न प्रकार के जानवारों एवं पक्षियों के आवाज की नकल जैसे-मोर, मुर्गा, घड़ियाल के चलने की आहट आदि।

प्रकृति उनके हृदय में विभिन्न प्रकार के रागों का सृजन करती है। जिसे गाकर वे अपने दुःखों को भूलकर आनंदविभोर हो जाते है। उनके गीत स्वाभाविक एवं नैसर्गिक होते हैं।

आदिवासी गीतों में प्रायः चार से पाँच स्वरों का ही प्रयोग पाया जाता है। किसी-किसी गीत में सातों स्वरों का प्रयोग भी देखा जाता है। गीतों में प्रयुक्त स्वरों को गाकर या बजाकर यह पता लगाया जा सकता है कि उनमें किन रागों की छाया दिखाई पड़ती है। परंतु रागों का ठीक-ठीक निर्धारण करना थोड़ा कठिन प्रतीत होता है।

आदिवासी लोकसंगीत में ताल, लय और स्वर को विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्र ही नियंत्रण में रखते हैं। मुख्यरुप से आदिवासी संगीत में प्रयुक्त होनेवाले वाद्ययंत्रें को तीन भागों में विभक्त किया गया है-

1. डोरी से बजनेवाले यंत्र
2. मुँह की हवा से बजनेवाले यंत्र
3. चोट से बजनेवाले यंत्र

उनके वाद्ययंत्रें में तुरही, बाँसुरी, सारंगी, तीनतारा, टोहिला, एकतारा, बाँसुरी, तुमड़ी, मांदर, नगाड़ा, ढोल, ढालकी, घुंघरु आदि प्रमुख रुप से प्रयोग किए जाते हं।

आदिवासी संगीत में गीत एवं वाद्य के साथ-'साथ नृत्य भी अभिन्न अंग है। इनके नृत्य में लय एवं गति प्रमुख होते हैं। आदिवासी में कई प्रकार के नृत्य प्रचलित हैं। जैसे- जोड़ा-नृत्य, एकल-नृत्य, जदुर-नृत्य, युद्ध-नृत्य, करमा, गिद्ध-नृत्य, शिकारी-नृत्य आदि।

आदिवासी गीतों में लयात्मक एकरुपता पाई जाती है। लय का अर्थ है- गति एवं संयोग । गति ही प्रकृति की सभी क्रियाओं का आधार माना जाता है।

इनके संगीत मे नृत्य, गायन और वादन साथ-साथ चलता रहता है। इनके गीत नृत्य पर एवं नृत्य ताल पर आधारित होते है।

मैंने अपने शोध-कार्य के दौरान झारखंड के कई क्षेत्रें का परिभ्रमण किया है। वहां के आदिवासियों में मुंडा, संथाल, पहाड़िया, हो, उराँव आदि जनजातियाँ प्रमुख हैं। यहाँ के आदिवासियों ने जंगलों एवं पहाड़ों की रमणीय एवं रसमय प्रकृति में अत्यंत ही सुंदर एवं मनोहर संस्कृति का निर्माण किया है। जब विभिन्न अवसरों पर ये लोग सामूहिक रुप से वाद्यों के साथ कदम मिलाते हैं। तभी इनके लोकगीत के लय का प्रकटीकरण होता है। इनके गीत बासंती बयार से मदिर एवं सतरंगी इन्द्रधनुषी अनुभूतियों के उद्‌गार हैं। वहाँ के लोगों के मदद से मैंने कुछ आदिवासी गीतो को संग्रहित किया एवं उनके गीतो

में निहित संगीत -तत्व का वर्णन कर उन्हें स्वरलिपिबद्ध किया है। उनमें से दो गीत इस प्रकार हैं-

1. गीत

हाने बिटी, गंगा गड़ा।
दाक् तो बिटी, जेल में।
बय-बय बय ते अतुक काना।।
ओने ओनका गेचो मनवा जियोन।
बय-बय बय ते, पारोमोकान।।

संगीत तत्व-

1. ताल - दादरा
2. मात्र - 6
3. स्वरलिपि-

x	o	x
सा सा सा	रे ग सा	सा सा सा
ह्मा ऽ ने	बि टी ऽ	गं ऽ गा
रे ग रे	सा ध़ प़	म़ म़ प
जे ऽ ल	मेंऽऽ	ब य ब
प़ प़ प़	प़ प़ प़	प़ प़ प़
ऋ ऽ तु	क् का ऽ	ना ऽ ऽ
म़ प़ प़	ध़ ध़ प़	म़ - -
गे चो ऽ	म न वां	. ऽ जि यो
प़ ध़ ध़	प़ प़ प़	प़ प़ प़
ब्र ऽ य	ते ऽ ऽ	पा ऽ रो

x	o	x
रे ग सा	सा सा-सा	रे ग रे
गा ड़ा य	दा ऽ क तो	बि टी ऽ
प़ ध़ सा	प़ ध़ ध़	प़ प़ प़
. ऽ य़ ऽ	ब्र ऽ य	ते ऽ ऽ
ध़ ध़ प़	म़ म़ प़	ध़ - -
ओ ऽ ने	ऽ ओ न	का ऽ ऽ
म़ - -	म़ म़ प़	प़ ध़ सा
ऽ ऽ न	ब य ब	. ऽ य़ ऽ
प़ प़ प़	प़ प़ प़	प़ प़ प़
ऽ मो ऽ	का ऽ ऽ	ऽ ऽ न

प्रस्तुत स्वरलिपि में 'सा रे ग म प ध' स्वर प्रयुक्त हुआ है। सभी स्वर शुद्ध हैं। इस गीत में मुख्यतः दो स्वर समुदायों का प्रयोग देखने को मिलता है-

(क) रे ग रे सा
(ख) ध़ प़ म़ प ध़ सा

बंदेश का दूसरा स्वर - समुदाय राग दुर्गा से साम्य रखता है। गीत का अधिकांश भाग मंद्र सप्तक में है। स्वरों की दृष्टि से इसे विलावल थाट के अंतर्गत माना जा सकता है।

2. गीत

माँझी ही कु छाटका रे
परानिकु छाटका रे,
नीम दारी-दारी याकाना।
कुड़ी-कोड़ा दोरबार दो
नीम गीकु कोयोगा,
हाय रे नीम तिस रे
चोम बिली चाबायेन।।

संगीत तत्व-

1. ताल - दादरा
2. मात्र - 6
3. स्वरलिपि -

x	o	x
ग प ग	प ध नी	ध - -
मँ झी ही	ऽ कु ऽ	छा ऽ ट
रे रे रे	रे रे सा	सां सा रे
छा ऽ ट	का रे ऽ	नी ऽ म
रे रे रे	रे रे रे	ग प ग
ना ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ	कु ड़ी को
ग प पम	ग रे ग	रे रे रे
नी ऽ ऽम	गि कु ऽ	को ऽ यो
रे - ग	रे - रेग	रे रे ग
ती ऽ स	रे चो ऽम	वि ली ऽ

x	o	x
प मंग रे	ग ग प	मंग रे ग
का रे ऽ ऽ	प रा ऽ	निऽ कु ऽ
प मं ग	रे रे ग	रे रे रे
दा री ऽ	दा री ऽ	या का ऽ
रे - सा	सा- रे -	प मं मंग
ऽ गा ऽ	हाय रे ऽ	नी ऽ ऽम
रे - -	रे - -	रे - -
चा बा ऽ	ये ऽ ऽ	ऽ ऽ न

इस गीत में सातों स्वरों का प्रयोग हुआ है, जो इस प्रकार है- सा, रे, ग, म, प, ध, नि। इसमे मध्यम तीव्र है एवं बाँकी स्वर शुद्ध रूप में है। इसमें प्रयुक्त स्वर - समुदाय निम्नलिखित है-

(क) ग प ध नि ध प
(ख) प-मग-रेगरेसा
(ग) सा रे-प मगरेगरेसा

संगीतोपचार

The Importance of Music as a Foundation of Mental Peace

Dr. Sandhya Arora

Associate Professor, Department of Music, S. S. Khanna Degree College, Allahabad.

MUSIC FOR THE PEACE OF MIND

Shakespeare once wrote: "If music be the food of love, play on. .. " Profound words, true, but he failed to mention that music is not just nourishment for the heart, but also for the soul.

Music surrounds our lives; we hear it on the radio, on television, from our car and home stereos. We come across it in the mellifluous tunes of a classical concert or in the devotional strains of a bhajan, the wedding band, or the reaper in the fields breaking into song to express the joy of life. Even warbling in the bathroom gives us a happy start to the day.

Music can delight all the senses and inspire every fiber of our being. Music has the power to soothe and relax, bring us comfort and embracing joy! Music subtly bypasses the intellectual stimulus in the brain and moves directly to our subconscious. There is music for every mood and for every occasion.

Many cultures recognize the importance of music and sound as a healing power. In the ancient civilizations of India, the Orient, Afiica, Europe and among the Aboriginal and American Indians, the practice of using sound to heal and achieve balance from within has existed for many years. The Tibetans still use bells, chimes, bowls, and chanting as the foundation of their spiritual practice. In Bali, Indonesia, the echoing gamelan, gong, and drum are used in ceremonies to uplift and send messages. The Australian Aboriginal and Native American shamanists use vocal toning and repetitive sound vibration with instruments created from nature in sacred ceremony to adjust any imbalance of the spirit, emotions or physical being.

The Priests of ancient Egypt knew how to use vowel sounds to resonate their energy centers or chakras. There is a direct link between different parts of the body and specific sounds. Such a technique appears extremely old; yet healing through sound goes back even further at least as far back as Atlantis where the power of sound was combined with the power of crystal.

Inevitably, music has a very powerful therapeutic effect on the human psyche. It has always been part of our association with specific emotions, and those emotions themselves have given rise to great music. It works as a creative, flexible and sometimes spontaneous means of utilizing the appeal of music to

help people of all ages and abilities.

Music can be characterized by how it heals. The way music fires the neurons in the brain to the tempo it is played, helps bring into play the characteristics that bring the biggest healing benefits to an individual. Although the power, range and effectiveness of music as a healing tool has many variables, there are certain traits that are Universal.

MUSIC THERAPY

Music Therapy is the prescribed use of music and music related techniques to assist and motivate a person towards specific, nonmusical goals. Music therapists use their training to effect changes in the cognitive, physical, communication, social, and emotional skills.

It utilizes music to modify ineffective learning patterns, help to promote emotional, mental, social and physical growth and to develop non-musical goals. It is an established health care profession that uses music and "techniques" in order to address physical, psychological, cognitive and social behavioral patterns.

Music Therapy can make the difference between isolation and interaction and has been proven in situations such as depression, anger, pain, stress, grief, loss, motivation, growth, change and improving communication.

It is incorporated in a number of areas of medicine. Some of these include labor and delivery, pain management, physical rehabilitation, and pediatrics. Music Therapy has been shown to have influences on the immune system, blood pressure, heart and respiratory rates, and pain perception.

Music Therapy and Psychiatry

Music therapists work with people with mental health disorders including schizophrenia, depression, bipolar disorders, anxiety disorders, obsessive compulsive disorders and post traumatic stress disorder. Music therapy can provide this population with an alternative means of communication and a chance to express themselves through improvisation, song writing or lyric analysis.

1. Music works like a sedative, which can act as a tranquilizers for the human being.

2. Music also diverts the attention of a patient from his discomfort or pain during his treatment. The right type of music diverts the mind of the patient in cases of psychological trauma or the dreadful past events.

3. Music can direct a man's behaviour on positive lines and can help in making

the patient more cooperative. Music is a source of great help in cases of neurotics and mental problems.

4. Music stimulates motor activity in a person, and stimulates the action of physio-therapy.

5. Music can awaken a sense of good personal relationship amongst men by participation therapy and can curb the anti-social feelings and general attitude of hostility and violence towards each other.

Music has a curative power in many ways. Blowing on the horn

improves abdominal muscle weakness. Playing on the cello improves the working capabilities of a polio victim. Piano playing' improves finger coordination of the player,

Music Therapy and Social Skills

Psychiatric disorders can often impair social interaction and social skills. Music therapy can provide opportunities for safe group and individual musical experiences, address how people interact with their environment and examine how they affect their environment. Music can encourage social interaction among patients. The interaction may take the form of talking about thoughts and feelings, contributing to group experience, cooperating with others or responding to others' needs. Interpersonal interaction can take place through music listening techniques lead by the music therapist.

The blind ones are helped to have a career in music and achieve social respect. Deaf children are bound to respond the rhythm and learn more through music therapy to control the volume of their own voice. Crippled persons develop coordination of limbs by moving with the rhythm of music. Even, older people find it better and suffer loss from loneliness, when listening to the music

Music Therapy and Communication

People with mental health difficulties may find communication with others difficult. As music therapy can help social and interpersonal interaction and emotional expression, so it can help communication difficulties. Music may speak where words fail. Music therapy techniques such as song writing, lyric analysis and improvisation can be used to assist the client in development of their communication skills.

Music Therapy and Emotions

Music therapy can provide a safe environment for a client to alleviate their feelings with a person who can process and reflect the patient' s expression in a modified form. Preference and familiar music are important in this area. If patients are to be reached, the music employed must be that which they understand, at least to some extent argues that music can reflect, influence and alter emotional response and therefore is a valuable therapeutic device in music therapy processes including identification, awareness, reflection or expression of feelings and relevant issues.

Music Therapy and Self-Esteem

Low self-esteem can be part of many mental health disorders. Music therapy can act as a psychotherapeutic agent to improve low self-esteem. Improvisation, group singing, movement techniques and dancing can provide a client with sensory and social feedback, successful musical experiences that can promote self-worth and promote body awareness and identity.

Music Therapy and Relaxation

Anxiety disorders are common and can be helped by relaxation techniques. Studies show that music can be used to effectively

reduce anxiety and promote muscle relaxation. Clients' musical preference is important to consider when using music for relaxation purposes. The idea of stimulating and sedative music increasing and decreasing anxiety respectively does not apply to everyone. Music imagery can be used to help the client reduce tension and focus on positive thoughts and feelings. Imaging should not be used with people who are delusional or have psychotic disorders.

Music Therapy and Cognition

Music is a time ordered, structured stimulus. People with psychotic disorders may have poor reality orientation whereas people with mood or anxiety disorders may have insight into their disability. Music therapy can provide treatment programs geared towards the clients' level of cognition and awareness. Structured reality based music experiences such as writing a song can help reality orientation, divert from neurotic concerns or obsessions and help improve impulsive behavior control.

SPECIFIC APPLICATIONS OF MUSICAL TECHNIQUES IN MUSIC THERAPY

The following examples illustrate some of the procedures used in music therapy. Although these are only a sampling of the methods used by music therapists, they provide a general idea of how music therapy can benefit a variety of clients, regardless of past musical experience, participation, or current level of ability.

Music therapy helps in improving the stammering defects, over excitement and inferiority complex by participation techniques. It is only the simple rhymes and tunes which cure the patients. The scientists have experimented various other effects of music like curing the insomnia reducing the pain of body, normalising the low and high blood v pressure. Fast melodies with sharp notes are effective in normalising the low blood pressure, while slow melodies having soft or komal swaras are helpful in lowering the blood pressure. The scientists have experimented that music has effect on the physiology of human body and, thus, effects the blood circulation and requlates the blood pressure. The soft, flat or sharp musical notes increases or decreases the heart beat. While given the music treatment, the patients showed good behaviour and some of them were fully recovered of their diseases. Some of the scientists experimented music therapy with two groups of mentally retarded patients. They used Indian music on one group and western music on the other. They chose gay, lively and cheerful ragas and similar types of western compositions. After the specific use of therapy through Indian music they performed better than the patients who were subjected to western music. Auditory discrimination is usually improved through helping the children to distinguish the differences between sounds (amplitude, pitch and quality). Singing of rhymes and songs and listening to records and rhythms also contribute to the improvement of performance in this area

Singing is used to help people with speech impairments improve their articulation, rhythm, and breath control. It is also being used to improve oxygen saturation rates of individuals with COPD, following exertion, and those with asthma or breathing difficulties. Singing in a group setting, as part of a community choir, or as part of a treatment group can improve social skills, and foster a greater awareness of others. For those with dementia, singing can encourage reminiscence and discussions of the past, while reducing anxiety and fear.

Playing instruments can improve gross and fine motor coordination in individuals with motor impairments or neurological trauma related to a stroke, head injury or a disease process. Playing on the cello improves the working capabilities of a polio victim. Piano playing improves finger coordination.

Rhythmic based activities can be used to facilitate and improve an individual's range of motion, joint mobility/agility/strength, balance, coordination, gait consistency and relaxation. Rhythm and beat are important in "priming" the motor areas of the brain, in regulating autonomic processes such as breathing and heart rate, and maintaining motivation or activity level following the removal of a musical stimulus. The use of rhythmic patterns can likewise assist those with receptive and expressive processing difficulties (i.e. aphasia, tinnitus) to improve their ability to tolerate and successfully process sensory information.

Improvising offers a creative, nonverbal means of expressing thoughts and feelings. It is non-judgmental, easily approached, and requires no previous' musical training. As such, it helps the therapist to establish a three-way relationship between the client, themselves and the music. Where words fail or emotions are too hard to express, music can fill the void. Where learning ability is limited, the opportunity to try different instruments, musical sounds, timbres and mediums may provide an opportunity for mastery of a new skill and increase life satisfaction.

Composing is useful in facilitating the sharing of feelings, ideas and experiences. For hospitalized children, writing songs is a means of expressing and understanding fears. For people with a terminal illness, it is a vehicle for examining feelings about the meaning in life and death. It may also provide an opportunity for creating a legacy or a shared experience with a caregiver, child or loved one, prior to death. Finally, lyric discussion and song writing can help adolescents deal with painful memories, trauma, abuse, and express feelings and thoughts that are normally socially unacceptable, while fostering a sense of identification with a particular group or institution.

Imagery based activities, such as Guided Imagery in Music (GIM), can provide powerful opportunities to reflect, process, and interact with unconscious or conscious material that may be reflected in an individual's life. Mandalas, an

ancient form of artistic expression, are useful in expressing thoughts and feelings, in combination with music. Detailed analysis of the imagery (i.e. color saturation, density, objects, etc.) is not the role of the music therapist, and best interpreted by those with more extensive and specific training (e.g. art therapists).

Listening to music has many therapeutic applications. It helps to develop cognitive skills such as attention and memory. For those facing surgical procedures, it allows the individual an opportunity to exert a sense of control over their often unpredictable environment. During pregnancy, music listening can provide a connection between the uterine environment and the external environment following delivery. During labor, music listening can facilitate and support the different stages in the labor process, relaxation, and serve as a distraction for the laboring mother. In situations where cognitive perceptions are comprised, such as in early to mid stage dementia, listening can provide a sense of the familiar, and increase orientation to reality.

CHOOSING THE RIGHT MUSIC

The music you choose depends on the results you expect. If you have relaxation and meditation or just energizing in mind, the best choice would be something that is designed to take you into an altered state of consciousness and does not require intellectual analysis. It can range from a simple instrumental tune on the piano to Tibetan bowl music and chanting.

The effect of musical sounds and ragas is also important in curing human ailments. There have been various experiments to assess the effects of ragas on human beings by playing particular combinations of sounds and also particular ragas and it has been found that the classical ragas can also invoke emotional sentiments in human beings. Raga-Raginees can successfully be used for the treatment of various diseases. It has been a popular experiment when Pt. Onkar Nath Thakur put to sleep Mussolini, who was suffering from insomnia and this very experiment can be followed by musicians to cure insomnia. The effect of other ragas has been likewise, a person felt very upset whenever he listened to raga kalingara and his heart- beat increased. Similarly, raga piloo had an effect of crying and weeping over some human beings, meaning thereby that all ragas do not have the same effect on every human being. Indian ragas have been assigned different moods and sentiments and they are sung according to their respective aesthetic sentiment for creating different emotional moods in the minds of singer and the listener. Six primary ragas are said to have particular qualities, sentiments and moods as given. For example Raga Hindol can create all the sweetness and freshness of the spring season in the mind of the listener. Rag Sri is capable of producing the effect of calmness and silence of the day approaching the evening and darkness, whereas Raga malhar has the quality of producing the effect of thunder, storm and rain. Raga

Oeepak is related to fire which can destroy the animals and trees. Raga Bhairav can inspire the mind of listener with the feeling of approaching dawn, and the start of morning. Raga Kaushik can bring an environment of gravity and serene feeling.

If we study the Grantha Brahaddeshi written by Matanga in 5th century. we find that he has described the different sentiments of "jatiragas". According to Matanga Raga Bhinna Shadaj, and Raga Bhima Pancham, produces "Vibhasta and Bhayanak Rasa". Similarly, in Sang it Samayasar, Acharya Parshvadev has also described the Ragas having their respective sentiments and moods. Sharangdev has described the sentiments of the "Gram Ragas" in Sangit Ratnakar. On the basis of the concept of sentiments, Raga Dhyan depicts the Ragas and Paintings of Ragas represent the various moods and Rasas of Ragas.

It would be worth mentioning here that four musical experts consisting of twenty minute recording on Ravi Shankar's Sitar recitals of four Ragas, viz., Kafi, Mishra Mand, Puriya Dhanashree, and Raga.eshwari were played through a tape records. Students numbering 37, between the age group of 20 to 30 years acted as respondents. The responses received from the experimental listeners was that Raga Rageshwari produced deep, somber effect of the evening, whereas Raga Kafi created gaiety, devotion and romance. Pooriya Dhanashre produced an effect of physical tired, longing, and sombreness.

Some of the analysis on the responses of Indian classical ragas concluded that the Indian ragas have specified moods and have typical responses. Ragas like, Shankara, Patdeep, Hindol and others have proved good in bringing behavioural changes in children of 8 to 18 years of age. There has been some experiments in M.S. University, Baroda, on heart ailments, mentally depressed and slow learners and it has been concluded that Ragas like, BihaJr Kafi, Malkauns, Ramkali, Hindol, Bahar, Deshkar, Lalit and Jaijaiwant, can have significant role in improving the conditions of such persons. It has also been experimented by various musicians that the Malaria, hysteria, insomnia, tuberculosis, constipation, typhoid and many other diseases can be cured through various Ragas like, Hindol, Marwa, Pooriya, Bilawal, talang, Ramkali, Multani, Darvari Kannada, Khamaj etc. Pt. Ravi Shankar observed the Raga Bhairavi arouses the emotions in the listeners. Similar effects of other Ragas like Adana, Darvari Kanhara, Khamaj, Kalingra, Bahar, Rageshwari, Dhani, Bihar were observed. It is also said that Nawab of Rampur was cured of his rheumatism with the rendering of the Raga Jaijaiwanti.

Researches have also been carried out by playing specific Ragas from Hindustani Classical music for certain diseases and they proved effective in curing ailments ranging from ordinary stomach ache to mentral disorders and serious maladies like epilepsy. It was found that Raga Bhairavi induced

good sleep and calmed down the patients. Raga Shivranjani helped to improve memory and cure psychiatric diseases. Raga todi helped to reduce tension and blood pressure. In Sangit Ratnakar, Acharya Sharangdeva has described the connection of swars with chakra, cells nerves, veins and physiological structure of human body. In Brihaddeshi, Pandit Ahobal has described the relationship of 22 Shrutis of the Indian music to 22 veins of the human body. In "Sangit Makarand", Narad has quoted in the third pada that Sampooma Ragas should be sung for the benefit of long life, religion, strength, wisdom, wealth, good harvest, fruits, gains, profits, prosperity and children. Shadav Ragas are beneficial in conquering battle, attaining beauty, youth, charm and singing of good names and works of warriers. Audav Ragas are useful in curing diseases, winning over enemies overcoming fear and sorrow, poverty and ills, sickness and bad health. Specific Ragas are also beneficial on some occasions, circumstances and different states.

In the Indian philosophy much emphasis is given to the supreme power of the Nada and attracted by this supreme power, a branch of therapy has evolved which is generally known as music therapy. This therapy is connected with the relationship of soul and body. The disorders of the body can be cured with the proper use of Nada Tatva with a combination of swara, tala, laya and concentration. Because the parts of the body are made up of the five cardinal elements and the correct combination of swara, tala and laya can create wonders in the world of therapy. The correct use of Rishabh swar can cure the arthritis. The diseases like, respiratory problems, throat and thyroid infections, the diseases connected with lungs, low or high blood pressure, heart diseases, diahorrea, intestinal diseases, fatigue, infertility, skin diseases, and various eye sight problems can be cured with the correct combination of laya, sur and tala. In the samaveda, there is long sequence of the "Gayan Vidhan" to cure many diseases. Music therapy is dependent on the style, form, speech and pronunciation of the syllables along with the intensity, pitch and timber using the Vilambit, Madhya and Drut Layakaries. The nature of Ragas having the shrutis of different Jatis, can play an important role in curing many diseases. The Raga having Alapini, Madanti, Rohini, Ramya Shrutis increased the Kaif Prakarti and to over power this Prakriti, the Ragas having Raudri, Krodhi, Vajrika, shrutis should be sung. Ragas having Rishabh Swar as the Vadi is also beneficial to. cure the weakness, fatigue and low blood pressure. Indian Ragas do have effects in curing many of the diseases and Indian Ragas Raginis can be used as a means of music therapy.

Recently, I happened to listen to an audio cassette album conceived and produced by Narayan Agarwal of Bombay. This audio album is in four cassettes with instrumental music like flute, sitar, tabla and guitar. I can feel that this album is a creditable effort to harness Indian

Classical music which has been used as the medium of the various instruments. The cassettes like-

Jeevan : Music for life
Tanav : Music for relaxation
Vishram : Music for comfort and contentment
Nidra : Music for sonorous sleep.

BENEFITS OF MUSIC THERAPY

Pleasant tunes transfer good vibrations in the atmosphere. Music acts on our mind before being transformed into thought and feeling. Music influences the lower and higher cerebral centers of the brain. Use of Music as a therapy helps search of an individual's personal harmony. Music therapy is an important tool in the treatment of both physiological and psychosomatic disorders. Music Therapy stimulates good vibrations in the nerves of the listeners. Music brings about a sense of mental well being in individuals. Music Therapy helps to clear the junked thought in mind, which leads to have positive frame of mind. Music Therapy enhances the concentration level of children. Effect of music on the behavior of individuals is enormous. Music improves the capacity of planning. Musical training helps to express refined exhibition of emotions and clarity in cognition too.

Music therapy stimulates beta cell activities and enhances the quality of protein releases of brain chemicals. It enhances the quality of neurotransmitters and conditions the heart. Music therapy reduces hypertension, Music influences the perception of art and promotes physiological and behavioral relaxation in neonates. Music produces a kind of pleasure which human nature cannot do without. Music relieves insomnia. Music enhances cognitive process. Music training and exposure increases the amount of brain that responds to musical sounds. Music during exercise produces physiological benefits. Exposing to classical music regularly facilitate few positive benefits in patients. Music helps to attain comfort from a discomforting condition.

CONCLUSION

Music therapy may not be an exact science. It may yet be in its infancy. But there is no disputing the fact that music has a value which affects one of our prime senses. That people respond to music is a foregone conclusion, what now matters is how the response can be tempered and turned to something more positive and more conclusive to enrich our life.

1. Music Therapy: An Art beyond Words by Leslie Bunt
2. A Comprehensive Guide to Music Therapy: Theory, Clinical Practice, Research, and Training by Tony Wigram, Inge Nygaard Pedersen, Lars Ole Bonde.
3. Counseling Techniques: Improving Relationships with Others, Ourselves, Our Families, and Our Environment by Rosemary A. Thompson.
4. Community Music Therapy by Mercédès. Pavlicevic, Gary Ansdell.
5. Music Therapy and Neurological Rehabilitation: Performing Health by David Aldridge.
6. Using Music Therapy Techniques to Treat Teacher Burnout, in Journal of Mental Health Counseling by James R. Cheek, Loretta J. Bradley, Gerald Parr, William Lan.
7. Music Therapy, Sensory Integration and the Autistic Child by Dorita S. Berger
8. Music Therapy in the Treatment of Social Isolation in Visually Impaired Children, in RE:view by Charles Gourgey
9. Talking over the Years: A Handbook of Dynamic Psychotherapy with Older Adults by Sandra Evans, Jane Garner
10. Broken Spirits: The Treatment of Traumatized Asylum Seekers, Refugees, War and Torture Victims by John P. Wilson, Boris Drozdek

Music Therapy

(Imporatnce and Experience in World)

Dr. Raj Kumar Tripathi

Lecturer (Tabla)

Hemvati Nandan Bahaguna Central University, Srinagar Garhwal (Uttarakhand) (Ex. Visiting professor Asian Open University Macau-Hongkong)

Music in universal language and this is gifted to the human being only by all mighty God. Music have all the things needed for the mental peace of a person. It is very much closer to yoga, pranayam, meditation, physical exercise but exactly different and much higher than the others. The word `music' covers broad rage of possibilities to fulfil the need as food for the soul for mind and for body though it is treated as the way of entertainment and relaxation by common people.

Music is natural the sound of nature unite to create rhythm and music to ears and mind. The movement of planets i.e. earth, sun, moon etc. the seasons and the heart beats every where music and rhythm are seen and heared and felt in each and every thing created by nature. From ancient days music has been used as a science of awareness and alertness to the mind. The system of NAD YOGA is formed with the uses and experiments of music on the human body. Yoga has been an integral part of music and Nad Yoga is a science of using sound vibrations to calm the mind and soul.

The natural harmony of musical sounds when combined in a specific manner create dynamic and powerful impact in balancing the energies of the body. Music or musical sound can heal the body, mind and spirit as well as the emotions. Through this resonance with music we can heal our innerselves and create harmony to the listeners of our music sometimes it is felt that we forget the time and the problems when we play or listen a music of high quality or matched with our own interests. Music is other name of soothingness of heart. relaxation of mind and energizing of body Man's life is full of ups and downs to overcome and deal with each type of situation a man requires a healthy body and balanced and cool mind for all these. Music not only these days but since ancient times has being playing supportive role.

Music in Historical Perspective

The richness of music and its energy has been announced in Samveda. In `Dwapar Yuga' Lord Krishana has been depicted endowed with magical power or music. The English literature

13-Back Side K

provide and additional witness to affectivity of music with the story of Pied Piper. In the times of Akbar the lightening of lamps with flawless singing of Rag Deepak and showers of rain with 'Rag megh malhar' by Tansen and Baiju Bawra are the examples. The renowned Pakhawaji Pandit Kudau Singh was able to control the mad elephant with the vibrations of NAD or the sound of Mridang and many other examples may be given with enough proof that music has its won magical power and affect our soul, mind and body.

Music Therapy and Modern world

Like yoga. Pranayam mediation and other therapies complementary to medicine, music therapy has been widely practiced throughout Europe and North America. In China and Africa also the music therapy has been practiced. In America 'New Age music' organization was established for music therapy in 1970-80 and in 1950 ''National Association for music therapy'' was established in 1903 Dr. Francower told in his research that music relaxe the human and mind and as result in 1944 misigon University of America planned syllabus on music therapy. The Sansas University adopted the syllabus. In china Mr. Mariam in year 1964 told about the affect of music. In 1974 Dr. Landrath and Harrer of Spain announced about music therapy and said that slow beats cure the heart beats disorder. In 1903 Dr. Framcover of Germany told about music therapy. Mr. Kitaro of Japan and Jan Micle of France accepted the importance of music therapy in 'New Age Music and Environmental Music'. Dr. Vegeles of Greek, Anya of England, Paul Horne, Philip Gloss David lez of North America played an remarkable role for music therapy. In USSR Dr. Facson used music therapy from 1945-1960. In the time of second world war music therapy was used to cure the mental disorders of the soldiers. In India Dr. J. S. Pal of Lahor established a center for music therapy in 1936 which was named 'Musical Medical Institute' and many other Indians played remarkable role for development of music therapy.

Music Therapy and Culture

Most of the reference to the use of music therapy in medicine are predominant, western, although the use of music as a therapeutic medicine is found in most cultures. Research papers describe the use of music in American hospitals both, locating the use of music within a cultural context with combination of music and dance. In the other group therapy methods, music is used as a vehicle to reach those who are isolated and withdrawn and reintegrate them into social relationship.

Music Therapy-Heart Rate and Respiration

The effect of music on heart beats and blood pressure are observed in many of the hospitals in America and Europe. In the condition of high

blood pressure the low rhythm and soft music and tune of low active are used but in high blood pressure the fast rhythm but soothing music is utilized and many experiments are being done. Different groups of musical competence responded in relation to volume, melody, pitch and Type of music. The important factor is the individual interest may vary the affect of music.

Music Therapy and Emotions

Music directly affects the mind and emotions and music therapy can provide a safe environment to the person. Preferences and familiar music are important because it may vary from person to person and with decease to decease. If the person is not liking a particular music it has to be observed that what kind of music and quality with how much volume and quality may be suited should be provided to the pateint.

Music therapy as communication

People with the mental health difficulties may find it difficult how to communicate with them. As it is known that music is universal language, music may speak where words fail. Music therapy techniques can be used to assist the client in development of their communication skills.

Music therapy and Social Skills

Music can encourage social interaction among patients. The interaction may take the form of talking about the thoughts and feelings. Contributions to group experience cooperation with other's needs interpersonal interaction can take place through music techniques lead by the music therapist.

Music Therapy and Relaxation

Anxiety disorders are common and can be helped by relaxation techniques. Study and experiences prove that music can be used to reduce anxiety and promote relaxation. Music imagery can be used to help the client reduce tension and focus on positive thoughts and feelings.

Music therapy and cognition

People with psychotic disorders may have poor reality orientation whereas people with mood or anxiety disorders may have insight into their disability. Music therapy can provide treatment programmes geared towards the client's level of cognition and awareness.

Specific Applications in music therapy

Some of the following examples may be given as specific application in music therapy although these are only sampling of methods used by music therapists but they can provide a general idea how music therapy can benefit a variety of clients.

Singing is used to help people with speech impairment improve their articulation. It is also used to improve oxygen level and help the patients suffering from asthma and other similar deceases. The lungs become strong and problem related to breathing problems are cured.

Playing the instruments help the individuals for different physical and mental problems. Sitar playing useful for many heart and mind related problems because the particular point of finger tips are used while playing sitar or such instruments. In Sarangi the nails are used and the regular exercises of

13-Front Side K

playing shows that head injury and hair problems are cured. These are only the examples of some Indian string instruments.

If we talk about the percussion instruments Pakhawaj and Tabla playing. This is purely a scientific experiment it shows very good results, this therapy is very much closer to the accupressure and accupuncture therapy. All the points of fingers and palm are used white playing Pakhawaj or Tabla. My personal experience is with tabla and pakhwaji is very much encourging. The patients who could not sleep for more the one or tow hours after listing the particular bols and specific sound style of tabla, used to sleep for six and eight hours after six month. Polio and other problems may be cured after using such music therapy with specific experiment of Tabla and pakhwaj playing. The memory and alterness become more sharp the children who practice such instruments regularly.

In dance we use the hole body so the physical exercise is more and we all know that the regular exercise is the key of good health, mind and soul. Dance may be used as music therapy in may problems.

Choosing the Right Music

The music you choose depends on the result you expect Indian classical music is soothing. We should use the music which has soft influence little diverting to mind and feelings and emotions of the people. Observations show that Indian classical or some kind of soft folk music can play effective role in music therapy. But it depends on the individual's interest and problem and the cause of problem. It may not be same on every one and in all the cases, it depends on quality, quantity, time and place and persons to person.

Conclusion

Much of the research work and experiments are being done. Music therapy work has been developed within the filed of nursing where the use of music is accepted as useful therapeutic adjunct. The work from this field has concentrated on medical scientific perspectives. But there is almost complete absence of cross cultural studies, or the use of anthropological method which would bring other insights into music therapy.

It is difficult to find any work referring to the influence of music therapy on immunological parameters. Apart from the significance of quality of life measures which could be used a criteria for such research work. Music is a vitamin for soul, heart, mind and body this is as true as the music and music culture itself. Only the need of new work with interaction and experiments should be shared at world level. Music is experience, therapy and psychology is the science of behavior. Thus psychology and music and research on music therapy can not go apart. There should be well equipped labs with audio-visual recording studios for training the students and organising music programmes in collaboration with doctors, psychologist's, psychotherapists and musicians in Universities and colleges.

विभिन्न चिकित्सा सम्बन्धी शोध प्रविधि एवं तकनीकी का विकास

डॉ0 इला मालवीय

एसोसिएट प्रोफेसर,

विभागाध्यक्ष संगीत गायन, आर्यकन्या डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

''संगीतौषध-स्वर चिकित्सा प्रणाली'' के गहन अध्ययन हेतु प्रकृति अथवा तत्वों, जो अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृतिनुसार ''नाद'' के ही विभिन्न परिवर्तित स्वरूप माने जाते हैं, का ज्ञान होना भी आवश्यक है एवं तदुपरांत ही प्रकृति (तत्वों) का स्वरों के साथ पूर्ण नादात्मक सम्बन्ध एवं गुण-धर्म साम्य को जाना जा सकता है।

प्रकृति : ''सत्वरजस्तमसां सम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्''

सांख्य योग के उक्त सूत्र के अनुसार सत्व-रजस-तमस की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। यह प्रकृति निराकार ब्रह्म का साकार स्वरूप है। ब्रह्म से भी अधिक सत्य रूप में भासने वाली प्रकृति सर्वत्र ब्रह्म से ओत-प्रोत है एवं ब्रह्म की विद्यमानता से प्रेरित स्पन्दन ही इसकी स्थूल उत्पत्ती का कारण है। प्रकृति की साम्यावस्था का अर्थ इसकी रूपस्थता से है। जिसमें प्रकृति का वैभिन्य समाप्त होकर सभी अपने-अपने सूक्ष्म कारण रूप में चले जाते हैं वे कार्य रूप विषमता समाप्त हो जाती है। इसी साम्यावस्था का नाम प्रकृति है।

यह जीव की उत्पत्ति व लयता की स्थली है। प्रकृति अपने कार्यों सहित जीव के भोग व अपवर्ग की साधिका होने के कारण स्वभाव से जड़ स्वरूप है तथा इसकी जड़ता को तम कहा जाता है। ब्रह्म के सानिध्य से इनमें ज्ञान व क्रिया है, जो इसके गुण के परिचायक हैं। अपने विभिन्न स्वरूपों व गुणों के कारण सभी तत्व प्रकृति का अनुपतित अर्थात् अधोगमनित स्वरूप है।

सृष्टि रचना क्रम से यद्यपि आकाश, दिशा, काल, महत, तन्मात्राएं आदि उत्पन्न हुए पर अध्ययन की सुविधा हेतु प्रकृति अर्थात् पंच महाभूति को आकाश महाभूत तत्व से प्रारम्भ न करके सर्वाधिक स्थूल पृथ्वी तत्व से आरम्भ किया जा रहा है। समस्त ललित कलाओं में संगीत का स्थान महत्वपूर्ण है। इसमें मनुष्य लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार के सुख प्राप्त करता है। सांगीतिक ध्वनियाँ सानसिक स्थितियों की सूचक होती है। ये मनुष्य के मनोभावों को प्रभावित करती है। संगीत में प्रयुक्त स्वर तथा लय का सामंजस्य हमारे सन्तुलन को प्रभावित करता है। वर्तमान युग में जब चिकित्सा जगत में अनेकानेक चौंका देने वाले प्रयोग हो रहे हैं ऐसे में संगीत—चिकित्सा जगत में अनेकानेक चौंका देने वाले प्रयोग हो रहे हैं ऐसे में संगीत-चिकित्सा ने भी अपना प्रभाव दिखाकर विश्व को इसके विषय में सोचने पर मजबूर कर दिया है। अब समय है कि संगीत चिकित्सा को हल्के रूप में न लेकर इसे वृहद् स्तर पर वैज्ञानिक कसौटी पर कसा जाए और जन-सामान्य को उसका लाभ पहुँचाया जाए।

ईसा में हजारों पूर्व ही मनुष्य ने संगीत द्वारा होने वाले शारीरिक प्रभावों को जान लिया था। इससे भी पहले संगीत के चिकित्सीय प्रयोग का उल्लेख हमें ताम्र युग में मिलता है। श्री उमेश जोशी ने अपनी पुस्तक ''भारतीय संगीत का इतिहास'' में लिखा है कि जब कोई बीमार पड़ता था तो लोग उसे दवा न देकर संगीत द्वारा उपचार करते थे। इस उपचार से लोग स्पस्थ तथा सुन्दर बन जाते थे। मिस्टर डोवोस्कीरेमला ने अपनी पुस्तक "The Enchanting Power of Music" में तथा जेन फॉक्स ने अपनी पुस्तक में इस मत की पुष्टि की है।

वैदिककाल में ऋषियों ने अपनी सांगीतिक साधना एवं मंत्र साधना पर अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। जिनके द्वारा वे चमत्कारिक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ थे। उन्होंने संगीत के प्रभाव को भली-भाँति समझकर इस प्रकार के शब्दों की रचना की जिन्हें सस्वर पाठ करना होता था। इन्हीं शाब्दिक रचनाओं को 'मंत्र' कहा गया। स्वर विहीन मंत्र उच्चारण कर्ता के लिए घातक बताए गये। सामवेद, जो कि पूर्णतः संगीत पर आधारित है, में रोगों के निवारण के लिए राग विधान मिलता है। नारद कृत ''संगीत मकरंद''

में राग जाति के अनुसार शरीर पर एवं अंतरंग प्रभावों का वर्णन है। यथासंग्राम, रूप, लावण्य, विरह और गुण कीर्तन के लिए षाडव रागों का गायन इसी प्रकार शत्रुनाश, भय, शोक, व्याधि या दारिद्रय संपात, शारीरिक अस्वस्थता और मंगल के लिए औडव रागों का गायन करना चाहिए।

प्राचीन काल ही नहीं मध्य युग में भी लोग राग-रागिनियों का शरीर पर क्या प्रभाव होता है। इसे भली भाँति जानते थे। तभी तो सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन से बदला लेने के लिए दरबारियों ने उनसे दीपक राग गवाया था। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ऋषियों ने योग का अनुसंधान किया। योग साधना के लिए भी संगीत का उपयोग किया गया। संगीत में मन को स्थिरता प्रदान करने की असीम शक्ति हैं आहतनाद अर्थात् संगीत का अवलम्बन करने से चित्तवृत्ति का निरोध सहज ही हो जाता है योग में मनुष्य को स्वस्थ रखने के लिए विभिन्न आसन बताए गये हैं। संगीत द्वारा इनमें से कुछ आसन स्वयमेव हो जाते हैं। इसीलिए गायन को 'यौगिक स्वास्थ्य साधन' भी कहा जाता है। गायन को एक प्रकार का योगाभ्यास तथा वक्ष एवं कण्ठ संस्थान के समीपवर्ती अंग प्रत्यंगों का व्यायाम माना गया है। गायन के अतिरिक्त फूँक से बजने वाले सुषिर वाद्यों से भी गायन के समान ही लाभ मिलता है प्राणायाम के नियम अर्थात् श्वांस का नियमन, सुषिर वाद्यों के वादन से पूर्ण होता है जिससे फेंफड़े शक्तिशाली होते हैं। श्वांस क्रिया को धीमा कर चलाना तथा निकालते समय श्वांस को दुगनी धीमी गति से बाहर निकालना प्राणायाम का एक अन्य नियम हैं। गायन तथा सुषिर वाद्यों के वादन में यह नियम स्वतः ही हो जाता है। इसीलिए ऐसा देखा गया है कि इस प्रकार के संगीतज्ञ दीर्घायु होते हैं। एक लोकश्रुति है कि ईश्वर ने हमें गिनी-चुनी साँसें दी है जिन्हें हम चाहें जल्दी खर्च कर दें या सोच समझकर। मानसिक चिकित्सकों के लिए तो संगीत सर्वश्रेष्ठ औषधि है। मानसिक व्यथाओं से पीड़ित रोगियों पर संगीत के अनुपम प्रभाव का समर्थन तथा पुष्टि करते हुए नील्स योग का कथन है—"आज अधिकत्तर मानव मानसिक चिन्ताओं के असहनीय बोझ से ग्रस्त है। ये मानसिक चिन्ताओं के असहनीय बोझ से ग्रस्त है। ये मानसिक चिन्ताएँ मनुष्य को रोगग्रस्त बना देती है।" चार्ल्स डारविन ने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में कहा था—"यदि मुझे यह जीवन दुबारा मिलता तो मैं सप्ताह में एक बार कुछ कविता पढ़ने और संगीत सुनने का नियम बना लेता है इससे मेरे मस्तिष्क के जो हिस्से स्फूर्ति शून्य है वे स्फूर्तिमय रखे जा सकते थे।"

स्वरों की उत्पत्ति से स्नायुओं का सम्बन्ध होता है। विभिन्न स्वरों के उच्चारण से शरीर के विभिन्न अंगों का व्यायाम होता है। 'बाइबिल' में विवरण है कि डेविड ने राजा साजोल के सामने संगीत प्रदर्शन किया। जिससे राजा को स्वास्थ्य और शान्ति प्राप्त हुई। स्वामी हरीदास, तानसेन, बैजूबावरा आदि के बारे में भी ऐसे अनेक विवरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि संगीत का प्रभाव मानव आचरण, क्रिया तथा रोगों पर पड़ता है। वैज्ञानिक, लय और स्वर का प्रयोग मस्तिष्क को सुधारने, शारीरिक कष्ट कम करने तथा उच्च एवं निम्न रक्तचाप को नियंत्रित करने के लिए करते हैं। तेज धुनों से निम्न रक्तचाप को नियंत्रित किया जाता है जबकि उच्च रक्तचाप को करने के लिए मंदगति की विलम्बित धुनें अधिक सहायक होती है। जिन धुनों में कोमल स्वरों का समावेश होता है वे इसमें अधिक कारगर होती है।

भारतीय संगीत की राग-रागिनियों को दिन के निश्चित प्रहर में गाने-बजाने का विधान है। जिससे ये राग-रागिनियों गायक और श्रोता दोनों को विशिष्ट प्रकार के समय और प्रकृति से जोड़ देती है। संगीत में लय, माधुर्य एवं गति है जो हमारे मनोभावों को शान्ति पहुँचाती है। संगीत हमारे मन-प्राण और शरीर में एक लय पैदा करता है। अमेरिका में मनोवैज्ञानिकों ने शास्त्रीय संगीत का प्रभावोत्पादक प्रयोग किया है। रोगी तथा उनके परिजन इससे लाभान्वित हो रहे हैं। डॉ. बर्न के अनुसार संगीत रक्त संचार को सुचारू बनाने पाचन क्षमता बढ़ाने और पेट तथा सीने की मांशपेशियों का विस्तार करने में अत्यन्त सहायक है।

संगीत की चिकित्सा पद्धति का प्रधानकार्य स्नायुतंत्र की शक्ति को बढ़ाना है। वॉटरमैन क्रिस्टोफर के अनुसार "संगीत किसी व्यक्ति के आत्म-विश्वास और कार्यक्षमता में बढ़ोत्तरी करता है।" बड़े-बड़े असाध्य रोगों के उपचार में संगीत के विभिन्न राग सहायक सिद्ध हुए हैं। राग अनुसन्धान केन्द्र, चेन्नई के अनुसंधान पर आधारित राग एवं रोग इस प्रकार हैं—खून की कमी के लिए पूरिया, पेप्टिक अल्सर के लिए मधुवन्ती और दीपक, उच्चरक्तचाप के लिए हिण्डोल और कौंसी कान्हड़ा, मधुमेह के लिए जौनपुरी और जैजैवन्ती, नर्वसब्रेक डाउन के लिए अहरी भैरव, पूरिया आदि।

बीसवीं सदी में पाश्चात्य देशों ने संगीत चिकित्सा पर व्यापक रूप से अनुसंधान प्रारम्भ किये तथा इसका व्यापक उपयोग होने लगा। सन् 1944 ई0 में मिशीगन विश्वविद्यालय द्वारा संगीत चिकित्सा का प्रथम पाठ्यक्रम तैयार किया गया। इस पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा दी जाने लगी। सन् 1946 ई0 में इस पाठ्यक्रम को सबसे पहले 'सन्यास विश्वविद्यालय' ने अपनाया। सन् 1950 ई0 में नेशनल एसोशिएशन फॉर म्युजिक थेरेपी (N.A.M.T.) नाम से एक संस्था स्थापित कर दी गयी। इस संस्था द्वारा संगीत चिकित्सा के प्रमाण-पत्र भी दिये जाने लगे।

विदेशों के अतिरिक्त भारतवर्ष में भी इस विषय पर अनुसंधान और गोष्ठियाँ आदि आयोजित होने लगी। हैं। कई चिकित्सक और संगीतज्ञ संगीत चिकित्सा को अपना रहे हैं। जिससे उन्हें सकारात्मक परिणाम भी प्राप्त हुए हैं। डॉ0 अनिल बाफना ने एक आडियो कैसेट निकाला है जिसका नाम 'माइन्ड पावर म्युजिक' है। इसके अनुसार इसके श्रवण से दिमागी शक्ति में वृद्धि होती है। इनके अतिरिक्त लोनावाला के पास गाँव करला के निवासी डॉ0 बालाजी तांबे ने हीलिंग म्युजिक की रचना की है। डॉ0 तांबे के अनुसार "I have used Music therapy in my two CD's Healing Music for energy and healing Music for relaxation"

इसी प्रकार अनेक चिकित्सकों ने संगीत चिकित्सा पद्धति को अपनाया और सफल रहे हैं। बम्बई के श्री नारायण अग्रवाल द्वारा बनाया गया आडियो कैसेट बहुत लोकप्रिय है। इसमें बाँसुरी, गिटार, वाद्ययन्त्रों का प्रयोग किया गया है। इनके नाम है—जीवन तनाव, विश्राम, निद्रा इनका प्रयोग नर्सिंग होम और अस्पतालों में बीमारियों के उपचार के लिए किया जा सकता है।

भारतीय संगीत के राग उत्साहवर्धक और प्रफुल्लता द्योतक है। इसके प्रयोग से वैज्ञानिको को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। संगीत व्यवहार परिवर्तन तथा बौद्धिक क्षमता में वृद्धि करने में पूर्ण रूप से सक्षम है। यह मन को एकाग्र करता है तथा याद्दाश्त को बढ़ाता है। जिससे यह मानसिक कार्य करने वालों तथा विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। 'फ्री प्रेस जनरल' में छपे एक लेख 'म्युजिक थेरेपी' से इस बात की पुष्टि होती है— "Good music helps in concentration because of its subtle, pervasive influence—" संगीत तो हर काल में लोग अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम रहा है। यह जाति, धर्म, ऊँच, नीच, सरहद आदि की सीमा से परे हैं। संगीत के माध्यम से उम्मीद, ऊर्जा और प्रसन्नता की वृद्धि होती है। जिससे व्यक्ति अधिक संतुलित व्यवहार करता है। Picus Mirandale stated that music cured illness by moving spirits to act on the soul and body. अर्थात् —पिकस मिरोन्डेलने वर्णित किया कि संगीत गतिमान जीवन तत्व को आत्मा तथा शरीर पर कार्य कर रोगों को सुधारता है।

इस प्रकार एक अन्य विशेषज्ञ डॉ0 जे0पी0 बुरेट के मतानुसार—

By repeated shocks given by atmospheric vibration to the nerves, music brought about its curative effect. अर्थात् — वातावरण में उत्पन्न हो रहे कम्पनों के बार-बार नाड़ियों (नसों) पर आघातों के द्वारा संगीत अपना उपचार पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करता है।

इसी संदर्भ में डॉ0 बूरेट आगे वर्णित करते हैं कि संगीत मनुष्यों के कानों को आनंदित करके प्रभावित अंग पर कार्य करता है। इस तरह रोगी का ध्यान उसके तत्व से दूर करता है। यथा—Music worked on the afflicted parts by pleasing the ear, thereby divert the patient's attontion from his ailment.

डॉ0 लुईस डे मैरॉन ने "हिस्ट्री ऑफ द रॉयल एकादमी ऑफ साइंस ऑफ फ्रांस" में संगीत के प्रभाव के विषय में लिखा है कि—It is to the mechanical involuntary connection between the organs of hearing and consonance excited in the outward air, joined to the rapid communication of the vibration of the whole nervous system. अर्थात् यह यांत्रिकी अनैच्छिक संबंध जो कि श्रवण अंगों तथा बाहरी हवा की उत्तेजना अनुरूपता के मध्य होता है। संपूर्ण तंत्रिका तंत्र के गतिमान कम्पन्नों के संदेशों से जुड़ जाता है।

Musical vibrations received by the auditory nerve produce reflex action upon the sympathetic system, stimulating or depressing the nerve and thus influencing the tone and well being of the body. अर्थात् कर्ण तंत्रिका सांगीतिक कम्पन्न ग्रहण करने के द्वारा अनुकम्पी तंत्र पर प्रतिक्षेप क्रिया उत्पन्न करती है। तंत्रिकाओं को उत्तेजित या शिथिल करना तथा इस प्रकार के स्वास्थ को सुधारता तथा शरीर को स्वस्थ रखता है।

संगीत चिकित्सा के संदर्भ में सांगीतिक स्वरों की उपादेयता

डॉ. ज्योति सिन्हा

प्रवक्ता, भारतीय महिला पी.जी. कॉलेज, जौनपुर

भारतीय संगीत प्राणदायिनी गंगा की तरह प्राचीन काल से ही इस धरा पर प्रवाहित होती रही है। संगीत मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है तथा इसकी उत्पत्ति उसी समय से मानी जाती है जिस समय से मानव ने अपने भावों को अभिव्यक्त करना शुरु किया था। भारतीय संगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि यह परम्परा के अनुकरण के साथ मौलिक सृजन के प्रति सदा सजग व सचेतन रही है। यह वैदिक है, सनातन है, वैज्ञानिक है।

संगीत ध्वनि विज्ञान की एक शाखा है जिसमें विविध मनोदशाओं की द्योतक राग-रागिनियाँ मनुष्य में रसानुभूति का संचार करती है, शारीरिक मानसिक व्याधियों से छुटकारा दिलाती है। संगीत के माध्यम से जो ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं, वे स्नायु प्रवाह पर वांछित प्रभाव डालकर न केवल उसकी सक्रियता को बढ़ाती है वरन् विकृत चिन्तन को रोकती और मनोविकारों को मिटाती है। स्वर शक्ति के इस सृजनात्मक, रोगोपचार, उपचारात्मक सामर्थ्य की ओर आज वैज्ञानिकों, चिकित्सकों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। उनका मानना है कि संगीत में विद्यमान सूक्ष्म ध्वनि तरंगों का मनुष्य की मनोदशा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इन ध्वनि तरंगों से शरीर की अन्तः स्रावी ग्रंथियाँ सक्रिय हो उठती हैं और उनसे रिसने वाले हार्मोन्स मानसिक स्थिति में परिवर्तन का स्पष्ट संकेत देते हैं।

भारतीय संगीत का इतिहास ऐसे कथाओं से भरा है जो कि इस बात की द्योतक है कि संगीत में रोगनिवारक क्षमता है। अतीत से ही संगीत का उपयोग मानव की भौतिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक दुर्बलताओं से मुक्त होने के लिए किया जाता रहा है। सामवेद में ही रोगों के निवारण के लिए साम गायन का विधान मिलता है। विभिन्न ध्वनियों के मिश्रण से निर्मित संगीत विभिन्न प्रकार के भावों का निर्माण कर मानव मन व शरीर पर गहरा असर करता है। इसी प्रभावोत्पादक क्षमता का प्रयोग जब चिकित्सा रूप में शारीरिक व मानसिक संतुलन को व्यवस्थित रखने के उद्देश्य से किया जाता है, तो यह प्रभावात्मक प्रक्रिया Music Therapy अथवा संगीत-चिकित्सा के नाम से जानी जाती है। अर्थात संगीत की सुमधुर स्वर लहरियों से शारीरिक मानसिक विकार विकृतियों का उपचार ही 'संगीत चिकित्सा है।' यह कला और विज्ञान का समन्वय है। सन् 1950 में 'नेशनल एसोसियेसन फॉर म्यूजिक थेरेपी' (NAMT) के स्थापित होने के पश्चात् संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में अनुसंधान एवं अन्वेषण के कार्यो का विस्तार हुआ। अनेक विद्वानों ने अपनी पुस्तकों के माध्यम से संगीत चिकित्सा की विशद् चर्चा प्रस्तुत की।"[1]

अधिकांश चिकित्सकों ने भारतीय सगीत की प्रभावशीलता को जांचा-परखा एवं प्रयोग किया। संगीतज्ञ एन्ड्रयु वाटसन के अनुसार - "भारतीय संगीत में प्रयोग होने वाले राग संगीत चिकित्सा के मुख्य आधार हैं।"[2] "द हीलींग फोर्स ऑफ म्यूजिक' के लेखक आर.मैकलीन ने स्पष्ट किया है कि -"भारतीय संगीत मानसिक शांति व सक्रियता लाने वाली दिव्य औषधि है जो हमारे तन-मन और भावना

में नव जागृति भर देती है।"[3]

भारतीय संगीत चिकित्सा पद्धति के विषय में जैक्सन पाल ने अपनी पुस्तक 'संगीत चिकित्सा' में विस्तारपूर्वक दिया है। संगीत से चिकित्सा, ये आयुर्वेद के अन्तर्गत होने वाला एक अंग है। चूँकि प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद है। अतः हमारे महर्षियों, संगीताचार्यो ने संगीत से होने वाले प्रभाव को आयुर्वेदिक आधार पर ही विश्लेषित किया है। संगीत, आयुर्वेद तत्व के अनुसार हमारे शरीर को मदद करने वाली एक प्रणाली है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर के तीन स्तम्भ वातु, पित्त और कफ माने गये है।[4] इनमें से यदि किसी भी एक में दोष अथवा विकृति आती है तो मनुष्य रोगी हो जाता है। स्वस्थ रहने के लिए जिस तरह उचित आहार की आवश्यकता होती है उसी प्रकार विहार के लिए ऋतु और समय के अनुसार विभिन्न प्रकार के राग-रागिनियों को सुनना फलप्रद है।

राग संगीत का मुख्य उपादान स्वर है। स्वर सात है। इन सात स्वरों में से पांच स्वर विकृत भी होते है। अतः शुद्ध विकृत मिलाकर कुल 12 स्वर होते है। स्वरों के कोमल-शुद्ध अवस्था के आधार पर ही अंसख्य रागों का निमार्ण होता है। प्रत्येक राग में लगने वाले स्वरों पर ही उस राग का स्वरूप निर्भर करता है। शास्त्रों में स्वरों के रंग, देवता, वर्ण, कुल, ऋषि इत्यादि समस्त बातों का वर्णन है। साथ ही स्वरों के रस व स्वभाव का भी वर्णन है जिसका प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है। रोगों की प्रकृति के अनुसार ही स्वरों के प्रयोग का वर्णन है अर्थात कौन सा स्वर किस प्रकृति को दूर करता है। डॉ0 प्रेम प्रकाश जी ने संगीत के सात स्वरों के देवता, उत्पत्ति स्थान तथा स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में बताया है। इनके अनुसार[5]

षड्ज (सा) इस स्वर का उत्पत्ति स्थान नाभि प्रदेश है, देवता अग्नि है तथा यह स्वर पित्तज रोगों का शमन करता है।

- **ऋषभ (रे)** इस स्वर का उत्पत्ति स्थान हृदय प्रदेश है। इसके देवता ब्रह्मा हैं तथा यह स्वर कफ एवं पित्त प्रधान रोगों का शमन करता है।

- **गान्धार (ग)** इस स्वर की उत्पत्ति स्थान फेफड़ों में है, देवता सरस्वती हैं तथा यह स्वर पित्तज रोगों का शमन करता है।

- **मध्यम (म)** इस स्वर का उत्पत्ति स्थान कंठ है। इस स्वर के देवता महादेव हैं। यह स्वर वात और कफ रोगों का शमन करता है।

- **पंचम (प)** इस स्वर का उत्पत्ति मुख है, देवता लक्ष्मी हैं तथा कफ प्रधान रोगों का शमन करता है।

- **धैवत (ध)** इस स्वर का उत्पत्ति स्थान तालू एवं देवता गणेश हैं। इस स्वर पित्तज रोगों का शमन करता है।

- **निषाद (नि)** इस स्वर का उत्पत्ति स्थान नासिका है। इसके देवता सूर्य है तथा यह स्वर वातज् रोगों का शमन करता है।

सात स्वरों के बारे में अबुल फजल ने कहा है कि निम्न, जठर, गला और मस्तिष्क का शीर्ष- इन अंगों में भगवत प्रभाव से बाईस नाड़ियाँ (रग) विस्तृत है। नाभि देश से वायु प्रवाह मनोहर गति से उत्थित होता है एवं विस्तार गत प्रकृति के आधिक्य या मंथरता के अनुसार यह आवाज जाग्रत होती है। अबुल फजल ने 22 नाड़ियों में सात स्वरों की व्याप्ति बताई जो इस प्रकार है-

1. षड्ज (सा)	मयूर की आवाज से प्रतिस्ठित हुआचतुर्थ नाड़ी से इसका अभ्यूदन।
2. ऋषभ (रे)	पपीहा (चातक) की आवाज से सप्तम् से नवम नाड़ी तक व्याप्ति।
3. गान्धार (ग)	बकरे की आवाज से गृहीता नवम् त्रयोदश नाड़ी तक व्याप्ति।
4. मध्यम (म)	सारस की आवाज से गृहीत। त्रयोदश से सप्तदश नाड़ी तक व्याप्ति।
5. पंचम (प)	कोयल से सुरीले कंठ से गृहीत सप्तदश नाड़ी प्रविशं नाड़ी तक व्याप्ति।
6. धैवत (ध)	मेढ़क की आवाज से गृहीत। विशं से द्वाविशं नाड़ी तक व्याप्ति।

7. निषाद (नि) हस्ति की आवाज से परिकल्पित द्वाविशं से परवर्ती मंडली की तृतीय पर्यन्त।[6]

पं0 अहोबल ने भी संगीत - पारिजात में भारतीय संगीत की 22 श्रुतियो का मनुष्य के शरीर की 22 धमनियों से सम्बन्धित होने का वर्णन किया है।

इसी प्रकार सात स्वरों के रंग, प्रकृति, स्वभावच तथा उनका स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में संगीतज्ञों ने उल्लेख किया है। डॉ0 जैक्सन पाल ने अपनी पुस्तक संगीत-चिकित्सा में इसका उल्लेख विधिपूर्वक विस्तार से किया है। तालिका से यह स्पष्ट है।[7]

1. षड्ज- रंग- गुलाबी- **प्रकृति/ स्वभाव-** चित्त को प्रसन्न करना/ठंडा- **शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव-** पित्त के रोगों को दूर करता है।

2. ऋषभ- रंग- हरा (पीला मिश्रीत)- **प्रकृति/स्वभाव-** प्रसन्नता/ठंडा खुश्क- **शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव-** पित्त के रोगों को दूर करता है।

3. गान्धार- रंग- स्वर्ण व नारंगी के समान- **प्रकृति/स्वभाव-** करूणा/ठंडा- **शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव-** पित्त के रोगों को दूर करता है।

4. मध्यम- रंग- पीला (गुलाबी मिश्रीत)- **प्रकृति/ स्वभाव-** चंचल/गर्म, खुश्क- **शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव-** वात व कफ प्रधान को दूर करता है।

5. पंचम- रंग- लाल- **प्रकृति/स्वभाव-** जोशीला, उत्तेजक/खुश्क- **शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव** कफ प्रधान को दूर करता है।

6. धैवत- रंग- पीला- **प्रकृति/स्वभाव-** प्रसन्नता, उदास/गर्म, ठंड दोनो विशेषतायें खुश्क- **शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव-** वात व कफ प्रधान को दूर करता है।

7. निषाद-रंग- लाल- **प्रकृति/स्वभाव-** जोशीला/ खुश्क ठंडा- **शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव-** वात को दूर करता है।

राग में प्रयुक्त स्वरों की संख्या के आधार पर रागों की जातियों का निर्धारण होता है। नारदने अपने ग्रंथ 'संगीत मकरंद' में इस बात का उल्लेख किया है कि किस जाति के राग का गायन किस फल की प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिए। इनके अनुसार - आयु, धर्म, यश, बुद्धि-धान्य, फल, लाभ, व संतान की अभिवृद्धि के लिए पूर्ण रागों का गायन करना चाहिए। संग्राम, रूप लावण्य, विरह और किसी के गुण-कीर्तन की दशाओं में षॉडव रागों का गायन करना चाहिए तथा किसी व्याधि को दूर करने, शत्रु नाश करने, भय शोक में, किसी व्याधि या दारिद्रय कि संताप अथवा विषय ग्रहमोचन के लिए, शारीरिक स्वास्थ्य व मंगल के लिए ऑडव रागों का गायन करना चाहिए।[8] इसी प्रकार सात स्वरों से विभिन्न रसों की निष्पत्ति भी शास्त्रों में वर्णित है। नाट्य शास्त्र के प्रणेता महर्षि भरत के अनुसार सात स्वरों से रसों की निष्पत्ति इस प्रकार है-

सरीवीरेद्भुते रौद्रे धा वीभत्से भयानके।
कायोगनि तु करूण हास्यश्रृंगार्योमपों।।

(नाट्यशास्त्र)

स्वर	रस
षड्ज	वीर, अद्भूत, रौद्र
ऋषभ	वीर, अद्भूत, रौद्र
गान्धार	करूण
मध्यम	श्रृंगार, हास्य
पंचम	श्रृंगार, हास्य
धैवत	वीभत्स, भयानक
निषाद	करूण

स्वर तथा रागों का व्यक्ति के मनोभावों के साथ गहरा सम्बन्ध है। आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धान्त इसी बात की पुष्टि करता है। चिकित्सकीय दृष्टिकोण से देखा जाये तो रस हमारे मनः स्थित भावों को जाग्रत करते हैं और ये भाव यथा क्रोध, मोह, खुशी, भय आदि शरीर में स्थित अंतः स्रावी ग्रंथियों के स्राव की न्यूनता या अधिकता के कारण जाग्रत होती है। अतः संगीत शरीर के आन्तरिक अवयवों को प्रभावित कर शरीर को स्वस्थ व दीर्घायु रखता है। भावों का उतार-चढ़ाव विशेष रूप से हमारे रक्त प्रवाह को प्रभावित करता है और रक्त का प्रभाव विशेष रूप से हमारे मस्तिष्क की कार्य प्रणाली

को प्रभावित करता है। राग के प्रभावी होने में रस की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। राग में रस निष्पत्ति उस राग में प्रयुक्त होने वाले स्वर, स्वरों की संगति, वादी सम्वादी, अल्पत्व बहुत्व, न्यास अपन्यास, तार मंद स्थिति के साथ ही कलाकार की व्यक्तिगत प्रस्तुतिकरण की शैली, काकु प्रयोग, चेष्टाओं के उपयुक्त समन्वय इत्यादि पर निर्भर है। इस विषय में डा० जैनसन का कहना है कि "प्रत्येक स्वर अलग अलग एक प्रभाव व स्वभाव रखता है और यही कारण है कि भिन्न भिन्न रागों में भिन्न भिन्न रस है, जिनका वर्णन आवश्यक है क्योंकि संगीत चिकित्सा का आधार यही है।"[9]

शारंग देव एवं तामोदर पंडित ने भी स्वरों से इन्हीं रसों की उत्पत्ति को बताया है। इसके साथ ही शुद्ध स्वरों एवं कोमल स्वरों के भिन्न प्रभाव होते है। विशेषतः शुद्ध स्वर संयोग श्रृंगार, वीर इत्यादि रसों के वाहक होते है, वहीं कोमल स्वर वियोग श्रृंगार, करूण एवं शांत रसों के वाहक होते हैं। रागों के रस निर्धारण एवं प्रभावी बनाने में वादी स्वरों का विशेष महत्व होता है। संगीत स्थित सात स्वरों में मध्यम, धैवत, निषाद, वादीत्व या बहुत्व वाले राग वातज, विकार को दूर करते हैं। इनमें मध्यम एवं धैवत वादीत्व वाले राग वात के साथ ही कफ प्रधान रोगों पर भी अपना उपचारात्मक प्रभाव डालते हैं। जैसे-राग बहार, बागेश्री, भैरवी, बसंत इत्यादि। रागों का चयन करते समय राग की प्रकृति एवं रस का भी ध्यान देना आवश्यक है। वातज् विकार में राग करूण रस अथवा श्रृंगार रस प्रधान होना आवश्यक है। इसके साथ ही समप्रकृति तालों का भी प्रयोग होना चाहिए। यथा झपताल, रूपक, झूमरा।[10]

षड्ज, ऋषभ, गान्धार वादीत्व वाले राग पित्त के कारण हुए विकार को दूर करते हैं। ऋषभ् वादी स्वर पित्त के साथ कफ विकार में भी प्रभावी हैं। जैसे राग खमाज, दरबारी, कान्हरा, बिहाग तथा पूर्वी थाट उत्पन्न गान्धारवादी वाले राग - पूर्वी, पूरिया, कल्याण तथा यमन थाट से उत्पन्न गान्धार वादी वाले राग यमन, भूपाली इत्यादि पित्तज रोगों की चिकित्सा में प्रभावी हैं। इसके साथ श्रृंगार रस प्रधान तालों जैसे तीन ताल, कहरवा, दादरा का संगत आवश्यक है। कफ विकार की चिकित्सा हेतु वीर रस प्रधान स्वरों पंचम, ऋषभ, मध्यम व धैवत वादी वाले राग प्रभावी होते हैं। राग मालकौंस, काफी, केदार, तिलक कामोद तथा भैरव थाट के राग भैरव, अहिर, विभास इत्यादि कफज विकार से उत्पन्न रोगों को दूर करते हैं इनके साथ वीर रस प्रधान तालों का संयोजन प्रभावी रहेगा। जैसे- चौताल, एकताल, रूद्रताल इत्यादि।[11] डॉ० गौर ने अपने लेख "संगीत और आयुर्वेद" में लिखा है कि "कफ प्रकृति की मंदता में साम्यावस्था लाने के लिए ऋषभ वादी स्वर वाले राग को सुनाया जाये तो उसकी कफ प्रकृति ठीक हो जायेगी। पित्त एवं वात् प्रकृति वालों को साम्यावस्था में लाने के लिए कफ प्रकृति राग-रागीनियां यानि श्रृंगार रस के राग खमाज, तिलंग, देश इत्यादि सुनाने चाहिए।"[12]

वातादि दोष शरीर में समयानुसार कार्य करते हैं। दिन व रात्रि के चौबीस घंटों में कोई समय यद्यपि दो बार आता है। अतः इन दोषो का प्रभाव भी दो बार देखा गया है। जैसे वात् के काम करने का समय सुबह 3 से 7 बजे तक तथा सायं 3 से 7 बजे तक। कफ के कार्य करने का समय सुबह 7 बजे से दोपहर 11 बजे तक तथा सायं 7 बजे से रात्रि 11 बजे तक। पित्त के कार्य का समय दोपहर 11 बजे से 3 बजे तक रात्रि 11 बजे से 3 बजे तक। रागों के गायन समय पर यदि हम ध्यान दे तो वात के समय यदि सुबह 3 से 7 बजे तक गाये बजाये जाने वाले रागों में सुबह देशकार, हिंडोल, ललित तथा सायं काल में मुल्तानी, पुरिया धनाश्री, मारवा, श्री इत्यादि राग गाये बजाये जाते है। ये सभी राग उत्तरांग प्रधान है तथा इनमें ध-नी स्वर विशेष महत्वपूर्ण हैं। अतः आयुर्वेद के तत्व के अनुसार इन रागों को वात् समय पर गाने का विधान है। सुबह 7 से 11 व सायं 7 से 11 तक समय कफ प्रधान रागो का समय है। सुबह के पूर्वांग प्रधान राग भैरव, अहिर, भैरव, रामकली इत्यादि तथा सायं काल में पूरिया, यमन, बिहाग इत्यादि राग कफ के समय पर गाये बजाये जाते हैं। दिन के 11 बजे से 3 बजे

तथा रात्रि के 11 से 3 बजे तक जो राग गाये जाते हैं उनमें मध्यम या पंचम स्वर विशेष महत्वपूर्ण होता है। दोपहर के रागों में मधमाद, सारंग, वृन्दावनी सारंग, भीमपलासी इत्यादि राग तथा मध्य रात्रि में राग मालकौंस, बागेश्री व दरबारी कान्हरा गाये बजाये जाते हैं। म व प गम्भीर धनशीलस्य के स्वर हैं तथा पित्त प्रधान है। अतः इन्हें पित्त समय पर गाने बजाने का विधान है। अतः रागों का समय के साथ निर्धारण हमारे शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों से अपने घनिष्ठ सम्बन्ध एवं उपचारात्मक प्रणाली को दर्शाता है जो पूर्णयता वैज्ञानिक है।

श्री गोपाल कृष्ण भारद्वाज ने अपने लेख 'नाद साधना एक अभूतपूर्व अभियान' में लिखते है - शास्त्रीय संगीत की रचना वैज्ञानिक प्रक्रिया पर आधारित है। शारीरिक मानसिक असंतुलन को स्वर विज्ञान के आधार पर उपयुक्त गायन के विधान से संतुलित किया जा सकता है।"[13] विद्वानों का मानना है कि यद्यपि सभी राग रंजक होते हैं परन्तु यदि सही समय पर यदि वे गाये बजाये जाये तो उसके प्रभाव में दोगुनी वृद्धि हो जाती है। रागों की प्रकृति, रस-भाव सम्बन्ध राग-रागिनियों से हैं तभी तो प्रातःकाल भैरव, दोपहर में तोड़ी सायंकाल यमन और रात्रि में मालकौंस गाने की एक सुदृढ़ परम्परा शास्त्रों में वर्णित है। चिकित्सकों की राय में शरीर में प्रातःकाल और सायंकाल ही अधिक शिथिलता रहती है जिसका मुख्य कारण प्रोटोप्लाज्मा की शक्ति का ह्रास होना है, कमी होना है। इस समय किसी कार्य को करने में खिन्नता व उद्विग्नता बनी रहती है। शिथिलता के कारण शरीर पर काफी दबाव पड़ता है। अतः प्रातःकाल का संगीत शिथिल हुए प्रोटोप्लाज्म को नियमित करते हुए शरीर को स्फूर्ति एवं बल प्रदान करता है। प्रातः कालीन व सायं कालीन पूजा अर्चना के पीछे यह एक वैज्ञानिक कारण था जो मनुष्य को स्वस्थ बनाये रखता था।[14]

नई दिल्ली के इन्द्रप्रस्थ अपोलो अस्पताल में 'बॉडी, माइण्ड क्लीनिक में आने वाले मरीजो का संगीत चिकित्सा के माध्यम से इलाज किया जाता है। इस क्लीनिक के प्रमुख डॉ0 रविन्द्र कुमार तुली का कहना है कि मानसिक रोगों के मरीजों पर संगीत का चमत्कारिक असर होता है। संगीत मेटाबॉलिज्म तेज करता है, मांसपेशियों की ऊर्जा बढ़ाता है एवं श्वसन प्रक्रिया को नियमित करता है।'[15] इसी प्रकार क्लीव लैण्ड में की गई एक खोज के अनुसार आपरेशन के बाद धीमा व सुरीला संगीत सुनने से दर्द महसूस होता है तथा राहत प्रदान करता है। दिल्ली की शोधरत श्रुति ने अपने शोध में पाया कि शुद्धस्वरों से दिमागी बिमारियों, रक्तचाप, आपरेशन के बाद का दर्द, माईग्रेन, तनाव इत्यादि में आराम मिलता है।[16] यौगिक साधना हेतु स्वरों के उच्चारण का स्थायी प्रभाव व उपयोगी हमारे प्राचीन ग्रंथों से प्राप्त होता है। स्वरों को साधने से चित्त की एकाग्रता कायम होती है। योग-साधना में स्वर की महता को 'ब्रह्मविंदुनिषद्' में इस प्रकार दशार्या गया है-

स्वरेण सन्ध्यवेद योगम्।।

अर्थात् योग की साधना स्वर से करनी चाहिए।[17]

स्वर साधना इस प्रकार का शारीरिक व्यायाम है जो स्वयं में एक चिकित्सा है। यह एक प्राणायाम है जिससे शरीर के समस्त अवयवों का व्यापार हो जाता है। गाने से फेफड़े व स्वर यंत्र मजबूत होते है तथा दमा, तपेदिक इत्यादि फेफड़ों की बीमारी होने का डर नही रहता, साथ ही संगीत का प्रयोग फेफड़े, गले, कंठ, तालु जबड़े व अमाशय का फलफद व्यायाम है। इससे नाड़ियों का शोधन होता है, ज्ञान तंतु सजग होते है, आक्सीजन की वृद्धि होती है तथा दीघार्यु प्राप्त होती है। आयुर्वेद में उल्लेखित है कि एक अच्छा चिकित्सक स्वर विज्ञान का भी ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि संगीत में रोग शामक एवं स्वास्थ्यवर्धक शक्ति नीहित है जिसका प्रयोग रोगोपचार में किया जाना अभिप्रेत था। प्रत्येक स्वर शरीर के विशिष्ट स्थल से उत्पन्न होता है और वही स्वर उस स्थल की व्याधि या स्वास्थ्य के प्रति उत्तरदायी है। रेकी चिकित्सा पद्धति के अनुसार स्वरों का सम्बन्ध शरीर में स्थित सात चक्रों से बताई गई है। योगदर्शन के अनुसार सार स्वर शरीर में स्थित चक्रों तथा बिन्दुओं-विसर्ग स्थान को झंकृत करते है जो इस प्रकार हैं-[18]

क्रम	स्वर नाम	चक्र नाम
1	षड्ज (सा)	मूलाधार चक्र
2	ऋषभ()	स्वाधिष्ठान चक्र
3	गान्धार(ग)	मणिपुर चक्र
4	मध्यम(म)	अनाहद चक्र
5	पंचम(प)	विशुद्ध चक्र
6	धैवत(ध)	आज्ञा चक्र
7	निषाद(नि)	बिन्दू विसर्ग
8	तार षड्ज(सा)	सहस्त्राधार चक्र

इसी प्रकार मानव कंठ को शारीरीवीणा कहा गया है। हमारे शरीर को स्वस्थ रखने, आरोग्य तथा दीर्घायु प्रदान करने में इन चक्रों का विशेष महत्व है जिन्हें संगीत के स्वरों का द्वारा संतुलित रखा जा सकता है। इनके आपसी सुसंवाद पर ही शरीर का स्वस्थ होना निर्भर है। रागों में तानों के लेने का स्थान निर्दिष्ट है। वास्तव में यदि विशुद्ध उद्भव स्थानों की ताने यथा नाद, गमक, कंठ, जबड़े की ताने शुद्ध उद्भव स्थानों यथा नाभि, छाति, कंठ व मस्तिष्क से व्यक्त हो तो इनका स्वास्थ्य पर आश्यर्चजनक परिणाम होता है तथा प्रत्येक तान अपने उद्भव स्थान के प्रत्येक रोग के लिए श्रेष्ठतम औषधि का कार्य करती है। इस संदर्भ में दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रो0 कृष्णा बिस्ट का कहना है कि - स्वामी नाद ब्रह्मानन्द जी जो संयास पूर्व उस्ताद अल्लादिया खां के शिष्य थे, अपने आश्रम के भीतर संगीत द्वारा चिकित्सा हेतु प्रशिक्षण केन्द्र खोला था। इन्होंने विशिष्ट तानों के प्रकार से शरीर के विभिन्न अंगों के विकार दूर करने की प्रक्रिया बनाई थी।[19]

इस प्रकार संगीत मार्तण्ड उस्ताद चांद खां, औषधि से अधिक संगीत-चिकित्सा पर विश्वास करते थे। जैसे- पाचन शक्ति में कमी हो तो कुछ विशेष प्रकार की गमक की तान, जुकाम से नाक बन्द हो जाय तो मुंह बन्द तान (गंथों में उल्लेखित मुद्रित गमक सदृश) आदि का अभ्यास करते थे और स्वस्थ हो जाते थे।[20] संगीत चिकित्सकों जैसे भास्कर खांडेकर, डा0 बाला जी ताम्बे, श्री शंशाक कट्टी, टी0वी0 साइंराम इत्यादि ने संगीत'-चिकित्सा को आयुर्वेद से जोड़कर ही देखा है तथा प्रयोग भी इसी आधार पर कर रहे हैं। इनके अनुसार यदि वात व पित्त के विकार से रोग उत्पन्न हुआ है तो उसे दूर करने के लिए श्रृंगार, शान्त व गम्भीर करूण रस प्रधान रागों का गायन करना चाहिए। जैसा कि विदित है कि पित्त की प्रकृति तेज एवं वातु की प्रकृति चंचल होती है। अतः इन्हें विपरीत गुणों वाले यथा शान्त, करूण रसादि द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

विद्वानों ने संगीत के प्रत्येक राग को किसी न किसी रस से सम्बद्ध माना है। राम भीमपलासी वीर रस से तथा मालकौस का सम्बन्ध शान्त रस से है। बसंत, मधुऋतु के आगमन पर उल्लास की सृष्टि करता है तथा मेघ व मल्हार राग वर्षा ऋतु के आने पर अपनी खुशी प्रगट करता है। भैरवी के माध्यम से भक्ति तथा प्रेम की भावना को बल मिलता है। राग तोड़ी के स्वरों के क़लात्मक उच्चारण में करूणा रस का आभास होता है। विरह की अभिव्यक्ति होती है। प्रातः कालीन भैरव राग में शान्त रस होता है। जोगिया तथा सोहनी राग विकल करते हैं। देश और सोरठ जैसे रात्रिगेय राग विरह तथा प्रेम का भाव पैदा करते हैं। रात्रीगेय राग दरबारी, अपनी गम्भीरता से व्यक्ति में भावुकता पैदा कर देता है। संगीत के प्रत्येक स्वर में एक भाव होता है। अतः रस निष्पत्ति के लिए स्वरों का सटीक उच्चारण मायनले रखता है। पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने अपनी पुस्तक हिन्दुतानी संगीत पद्धति में रागों का वर्गीकरण करते समय रस का भी सामंजस्य किया है। यथा[21]

रेन्ध कोमल स्वर वाले रागो में : शान्त व करूण रस

रेन्ध-शुद्ध स्वर वाले रागों में : श्रृंगार रस

ग-नि कोमल स्वर वाले रागो में : वीर रस

किसी रोग के लक्षणों में दोष का निर्धारण किस प्रकार किया जाए इस विषय में महर्षि चरक ने विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। वातु विकार के बारे में उन्होंने लिखा है- स्त्रंश, भेद, भ्रंस, कम्प, व्यथा, मुख शोध, शरीर या अंगों में शूल, शून्यता, संकोच, जकड़न इत्यादि कर्म वायु के होते हैं। इन लक्षणों से

युक्त कोई भी रोग शरीर में उत्पन्न होता है तो वातज् विकार माना जाता है। पित्त विकार के बारे में लिखा है - दाह (सारे शरीर में जलन), उष्मता, शरीर में ताप की वृद्धि, स्वेदाधिक्य, खुजली, स्राव, लालिमा ये सब पित्त के लक्षण है और पित्त का जो रस, गंध, वर्ण होता है वह शरीर के विभिन्न अवयवों से उत्पन्न होता है। इन लक्षणों से युक्त जो रोग होगा उसे पित्तज विकार माना जाना चाहिए। कफज विकार में - श्वेत्पन, शीतपन, भारीपन, स्नेह, शून्यता तथा रोगों को चिर काल तक बनाये रखना कफ का कर्म है। इन लक्षणों से युक्त रोगों को कफज विकार के अन्तर्गत समझना चाहिए। संगीत चिकित्सा के लिए इन दोषों को देखना-जानना, परखना आवश्यक है।[22]

संगीत के प्रभावों को विश्लेषित करते हुए स्वामी प्रज्ञानानन्द जी ने भी कहा है कि-It should not be forgotten that music or musical culture is a true and surest means to purify the mind and hearts. The sweet tunes of the tones of music bring concentraction and meditation in ones life easily.[23]

भारतीय संगीत चिकित्सा दिवस (13 मई) पर ललित नारायण मिथिला वि0वि0 दरभंगा, बिहार में आयोजित संगीत विषयक गोष्ठी ''संगीत में इलाज की अद्भूत शक्ति'' पर व्याख्यान देते हुए मुजफ्फरपुर के वरिष्ठ प्रख्यात चिकित्सक निशिन्द्र किंजल्क ने कहा कि - भारतीय शास्त्रीय संगीत में विभिन्न रोगों के इलाज की अद्भूत शक्ति है। तनाव जन्य बीमारियों जैसे- रक्तचाप, अम्लता, नींद, सम्बन्धी समस्या, सिरदर्द, कब्ज, दमा, डिप्रेसन, हिस्टिरिया सहित सौ से अधिक बीमारियों का इलाज रागों के सही इस्तेमाल से सफलतापूर्वक किया जा सकता है।[24]

अनुसंधान संगीतज्ञों, चिकित्सकों का यह मानना है कि संगीत चिकित्सा के माध्यम से शरीर में एंडोर्फिन आदि लाभकारक रसायनों का स्राव बढ़ाकर और मस्तिष्क तरंगों पर नियंत्रण कर विभिन्न रोगों का इलाज किया जा सकता है तथा इस पद्धति के माध्यम से एड्स, कैंसर, इल्जाईमर, टी0बी0 आदि के मरीजो की तकलीफों को कम कम करने, प्रसव पीड़ा करने के साथ-साथ आपरेशन के दौरान दी जाने वाली एनेस्थिसिया की मात्रा तक को कम किया जा सकता है। राग-चिकित्सा से न्यूरो हारमोन्स का स्तर बढ़ जाता हैं और इससे प्राकृतिक तौर पर दर्द निवारण, मानसिक तनाव तथा विस्मृति दूर करने का प्रभाव होता है। अनुसंधानों में पाया गया कि ऐसे रोगियों में संगीत श्रवण से वैसा ही प्रभाव हुआ जितना 10 एम0जी0 के बेलियम की गोली लेने से हुआ।[25] मार्क राईजर एवं फ्लायर ने 'General of Music Therapy'(1985) में अपने शोध पत्र में लिखा है कि संगीत के द्वारा तनाव हार्मोन के रूप में जाना जाने वाला 'कार्टीसोल' की मात्रा कम हो जाती है जिससे शरीर तनावमुक्त एवं शान्त हो जाता है तथा मांसपेशियों की जकड़न कम हो जाती है।[26]

समाज में रहने वाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रूचि भी भिन्न-भिन्न होती है। कोई शास्त्रीय संगीत पसन्द करता है, कोई लोक संगीत तो कोई फिल्म संगीत। संगीत चिकित्सा के दौरान मरीज के पसन्द व नापसन्द का जानना इस चिकित्सा पद्धति में अनिवार्य है। लंदन के 'साईकोलॉजी ऑफ म्यूजिक जर्नल' में प्रकाशित एक अध्ययन के अनुसार जिन्हें 'रॉक' पसन्द है उन्हें सामाजिक गतिविधियों को बोध होता है जो 'पाप' सुनते है वे भावुक होते है। शास्त्रीय संगीत पसन्द करने वाले सुस्त पर बुद्धिमान होते हैं। संगीत की रूचि के आधार पर दूसरों के व्यक्तित्व को समझा जा सकता है।[27]

मनोचिकित्सक आरती आनन्द बताती है कि संगीत हमारे मनोभावों को व्यक्त करता है। खुशी के अवसर पर हम थोड़ा तेज संगीत सुनना पसन्द करते हैं परन्तु दुःख की घड़ी में धीमा संगीत हमारे उदासमन को दर्शाता है संगीत सुनने से तनाव कम होता है और मन में सकारात्मक भाव उत्पन्न होते हैं। अकेले है तो संगीत सुने, उदास है तो गीत गुन-गुनायें।[28]

जिस प्रकार सुरीले मनभावन संगीत का मानव मस्तिष्क पर अनुकूल तथा सकारात्मक प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार बेसूरे, अतयन्त शोर गुल वाले, विवादी स्वरों से भरपूर संगीत का मस्तिष्क पर दुष्प्रभाव भी अवश्यम्भावी है। मस्तिष्क विशेषज्ञों का मानना है

कि तीव्र तीक्ष्ण आवाज का मन पर बहुत भयंकर प्रभाव पड़ता है, पेशियों की शक्ति क्षीण होती है, श्रवण शक्ति नष्ट होती है। प्रतिकूल संगीत का शरीर के अन्तः स्रावी तंत्र पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इस विषय में संगीत चिकित्सक भाष्कर खाण्डेकर जी का कहना है कि - "हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग तरीके का संगीत सुकून देने वाला हो सकता है। मन पसन्द संगीत सुनने से मनोरंजन होता है, लेकिन ऐसा संगीत जिसे हम पसन्द नही करते है उसको सुनने से तनाव बढ़ भी सकता है।"[29] उत्तेजक ध्वनि तरंगों का प्रवाह अगणित समस्याओं को जन्म दे सकता है। आज कल शादी-विवाह या अन्य अवसरों पर तेज ध्वनि में बज रहे डीजे से शरीर व मन पर पड़ रहे प्रभावों के बारें में चिकित्सकों का यह मानना है कि - "डीजे की तेज ध्वनि हृदय रोगियों के लिए कुछ ज्यादा ही खतरनाक साबित हो सकती है। यहाँ तक की उनकी जान जाने का भी खतरा हो सकता है। कानफोडु ध्वनी से नार्मल इंसान भी ब्लड प्रेशर का मरीज हो सकता है।"[30] वरिष्ठ हृदय रोग विशेषज्ञ डा0 हरेन्द्र सिंह ने बताया कि - "एक आम आदमी 20 से 25 हजार हर्टज तक की आवाज सुन सकता है लेकिन 500 से 700 हर्टज की ध्वनी उसे सुकून पहुँचाती है। अत": तेज ध्वनि से दिल की बीमारी, ब्लड प्रेशर व मधुमेह के रोगियों को दिक्कत हो सकती है। गर्भवती महिलाओं के गर्भ में पल रहे बच्चे पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ सकता है।"[31]

डॉ0 भाष्कर ख्रांडेकर के अनुसार - "हमारे शरीर में स्थित आठ ग्रंथियाँ जो शरीर को स्वस्थ रखने के लिए विशेष हार्मोन्स का रिसाव करती है, इन्हें जाग्रत करने का कार्य संगीत की ध्वनियाँ अथवा तरंगे (कम्पन) करती हैं। किसी भी ध्वनी का अच्छा या बुरा प्रभाव हमारे मनः स्थिति को प्रभावित करता है। संगीत चिकित्सा का प्रथम चरण है। ध्वनियों का अच्छा या बुरा होना अर्थात मधुर अथवा कर्णकटु होना।[32]

लंदन के 'साइकोलॉजी ऑफ म्यूजिक' जर्नल में प्रकाशित एक अध्ययन के अनुसार - 'खराब संगीत सिर्फ मन और मिजाज ही नही रिश्ते भी खराब कर सकता है। संगीत का यौन आकर्षण से सीधा सम्बन्ध होता है। ऐसे में लोग अगर खराब संगीत सुनते है तो उसका असर रिश्तों पर भी पड़ सकता है।'[33]

अतः संगीत चिकित्सा जहाँ शारीरिक लाभ व आरोग्य प्रदान करती हैं वही इसका गलत ढंग से इस्तेमाल नुकसानदायक भी हो सकता है। मुजफ्फरपुर के वरिष्ठ चिकित्सक डॉ0 निशिन्द्र किंजल्क ने राग-रागिनयों से होने वाली चिकित्सा को गम्भीरतापूर्वक अपनाये जाने पर बल देते हुए कहा कि - "इस पद्धति में किसी राग को सुन भर लेने से फायदा नही होता। इसमें रागों के प्रकार, उनकी ताल, मात्रा, उसमें प्रयुक्त छंद, संगत वाद्य यंत्र, गायक-गायिकाओं के स्वरों की क्षमता, विशेषता तथा साथ ही रोगी की स्थिति, रोग की तीव्रता, रोगी की शारीरिक-मानसिक स्थिति आदि कई बिन्दुओं का ध्यान रखकर ही इलाज के उचित प्रकार का चयन करना पड़ता है अन्यथा हानि भी हो सकती है।"[34]

लाभकारी संगीत वही है जो मधुर एवं मृदुल है। यदि इसे भावनाओं, संवेदनाओं से प्रस्तुत किया जाये तो इसका परिणाम न केवल गाने-सुनने वाले के लिए वरन् सम्पूर्ण परिवेश को श्रेयस्कर परिस्थितियों से भरा-पूरा करने में सहायक हो सकता है। पिछले करीब 10 सालों में तनाव के हल के रूप में संगीत चिकित्सा पद्धति तेजी के साथ उभर कर आई है। दिनों-दिन गम्भीर होती तनाव की समस्या से निजात पाने के लिए पूरे विश्व में संगीत चिकित्सा को एक बेहतर विकल्प के रूप में देखा जा रहा है। प्रसिद्ध संगीत चिकित्सक भाष्कर खांडेकर के अनुसार "भारतीय संगीत चिकित्सा ही संगीत चिकित्सा पद्धति की जनक हैं। वर्तमान में 1993 में आई, प्रारम्भ हुई। 'भारतीय चिकित्सा एवं अनुसंधान परिषद' में संगीत-चिकित्सा, विभिन्न वैज्ञानिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर संगीत के माध्यम से विभिन्न रोगों के मरीजों पर जो प्रयोग किये जा रहे है वे चमत्कारी एवं सम्भावनाओं से परिपूर्ण हैं"।[35]

आज इस विषय पर व्यापक शोध एवं अनुसंधान

हो रहे है जिनमें कुछ शोधपरिणामों का उल्लेख इस प्रकार है-

- चीन के शंधाई कंजरवेटरी ऑफ म्यूजिक के चिकित्सकों ने 'इलेक्ट्रोनिक म्यूजिक थेरेपी' नाम की एक प्रभावशाली उपचार पद्धति विकसित की है जिसमें भिन्न-भिन्न बिमारियों के लिए पृथक-पृथक ध्वनियाँ प्रयुक्त की जाती है। पांचन संस्थान, स्नायु संस्थान एवं हृदय की बीमारियों में यह विशेष कारगर सिद्ध हुआ।[36]

- पेंसिलवानिया के ड्रेक्सेल विश्वविद्यालय में किये गये शोध के अनुसार (जिसमें 1891 कैंसर के मरीजो पर शोध किया गया) यह परिणाम प्राप्त हुआ है - गाना-बजाना, वाद्य संगीत सुनना कैंसर मरीजों की बेचैनी को कम करता है। यह न सिर्फ दर्द के अहसास को कम करती है बल्कि चित्त का शमन भी करती है और जीवन की गुणवत्ता को बढ़ाती है।[37]

- डॉ0 अलिवर स्मिथ ने अपने शोध के परिणाम में यह पाया कि बांसूरी जैसे वाद्यों पर 20-25 मिनट हिंडोल, पूरिया, तोड़ी, भैरवी इत्यादि रागों को सुनने से उच्च रक्तचाप, तनाव आदि मस्तिष्क से सम्बन्धित रोगों पर नियंत्रण किया जा सकता है। पार्किंसन्स व अलजाईमर के रोगों में राम शिवरंजनी प्रभावी है।[38]

- तिहाड़ जेल ने कैदियों को अवसाद से लड़ने के लिए संगीत-चिकित्सा शुरू की है। तिहाड़ जेल में संगीत का कमरा स्थापित किया गया है। इस संगीत कक्ष से जेल में रहने वाले कैदी व्यस्त रहते है और उनके मानसिक स्वास्थ्य एवं मनोबल में सुधार आता है।[39]

नई दिल्ली में 2005 में The Music Therapy Trust काम कर ही है। संगीत चिकित्सा के प्रति जागरूकता लाने के लिए यह संस्था, स्कूल, अस्पताल, नर्सिग हाम आदि पर काम करती है। साथ ही संगीत-चिकित्सा में पोस्ट ग्रेजुएट डिप्लोमा पाठ्यक्रम चलाती है। इसके अतिरिक्त टी0वी0 साईराम जो चेन्नई के प्रसिद्ध संगीत चिकित्सक है तथा नाद सेंटर ऑफ म्यूजिक थेरेपी के माध्यम से राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय विचार गोष्ठियों का आयोजन करते हैं। रागों के माध्यम से अनेक रोगियों को स्वास्थ्य लाभ मिल रहा है। सीडी एवं संगीत चिकित्सा पर लिखे लेखों के माध्यम से लोगों में इस पद्धति के प्रति जागरूकता उत्पन्न कर रहे हैं।[40]

बैंगलोर के 'नेशनल इंसटीट्यूट ऑफ न्यूरो हेल्थ एण्ड मेंटल सांइस' एवं दिल्ली के अपोलो अस्पताल में 'बॉडी, माइन्ड, मेडिसन' विभाग के द्वारा भी संगीत चिकित्सा की पद्धति अपनाई जा रही है। तथा रोगियों पर इसका सफल प्रयोग किया जा रहा है। संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में अन्य अनेक विदेशी संस्थाएं भी है जो कार्य कर रही है। इनके अतिरिक्त जो पहले से ही इस क्षेत्र में विद्यमान है। उनके प्रमुख रूप से डा0 बाला जी ताम्बे, 'आत्म संतुलन ग्राम, महाराष्ट्र, शंशाक कट्टी सुर-संजीवन केन्द्र, मुम्बई, राग रिसर्च सेन्टर चेन्नई, ब्रह्मवर्चस संस्थान, हरिद्वार तथा शिमला के प्रो0 चमल लाल वर्मा जी का नाम उल्लेखनीय है जो इस क्षेत्र में शोध एवं प्रयोग कर रहे हैं।' यद्यपि विदेशों में इस क्षेत्र में व्यापक कार्य हुआ है और निरन्तर जारी है परन्तु हमारे देश में भी इस चिकित्सा पद्धति पर लोगों की संतोषजनक दृष्टि गई है और अपनाया जा रहा है। हीलींगहैड के निदेशक सतीश कपूर के अनुसार - 'यह बहु उद्देशीय चिकित्सा पद्धति है जिसके द्वारा संप्रेषण को बढाया जा सकता है, असामान्य व्यवहार को नियंत्रित किया जा सकता है, तर्क शक्ति को बढाने में सहायक है। इसका सर्वाधिक लाभ तनाव ग्रस्त व्यक्ति को होता है। इस क्षेत्र में शोध की अपार सम्भावनायें हैं। कब, कैसे, किस बीमारी में कौन सा संगीत सुना जाये इस पर शोध जारी है।[41]

भारत जैसी धनी आबादी वाले आर्थिक रूप से कमजोर देश में ऐसी सहायक चिकित्सा पद्धति का विकास होना आवश्यक है। स्वर, राग, लय, ताल का प्रभाव, उसकी विशद् चर्चा अपने संगीत की एक विशेषता रही है। तन-मन पर उसके प्रभाव की बाते केवल कपोल-कल्पित न होकर शास्त्र सम्मत, अनुभव सिद्ध और प्रयोग स्वीकृति होकर गुणीजनो की सम्मति पाया। निष्कर्षतः प्रभाव की बात अधिकांश लोगों द्वारा अधिकांश रूप से स्वीकार होती गई, सुदृढ़ होती गई। यही है प्रभाव से उपचार

की दिशा। संगीत के प्रायः पुराने सभी गुणी जनो का संगीत के प्रति दैवीय भावना ही रही है। बेतियां घराने के संगीत गुरू पं0 राम नाथ मिश्रा का कहना है कि "परम ब्रस्म से पैदा हुई इस विद्या में अपार सामर्थ्य है। यह प्राचीन विद्या है और लोग इसे परमात्मा का आर्शीवाद मानते थे। आज वैज्ञानिक युग है। अतः संगीत चिकित्सा की व्याख्या के तरीके बदल गये हैं। अब ध्वनि तरंग का असर, स्वराधात का प्रभाव, स्वर लहरियों से पैदा स्पन्दन जैसी बातें होती हैं। सभी का प्रमाण चाहिए। युग के प्रभाव से प्रकृति व प्रवृत्ति बदलती है पर जो नही बदलती है वो है-आत्मा। शरीर का सुख मन व आत्मा के सुख से जुड़ा है। जब मन दुःखी होता है तो शरीर रोगी होने लगता है।[42]" संगीत आज ऊर्जा का सबसे बड़ा स्रोत बना है। जिसका उपयोग दिल-दिमाग को तनाव मुक्त रखने में नित नवीन रूपों के किया जा रहा है । संगीत चिकित्सा अपने आप में एक श्रेष्ठ उपचार पद्धति है तथा वर्तमान युग की आवश्यकता है।

संगीत चिकित्सा ऐसा विषय है जिसमें दो विषयों का समावेश है- 1. संगीत शास्त्र 2. चिकित्सा शास्त्र । दोनों ही स्वतंत्र विषय है एवं बेहद गूढ़ विषय है। संगीत चिकित्सा के लिए इस दोनों विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है। प्राचीन विद्वानों को संगीत के साथ-साथ विज्ञान की भी जानकारी रही होगी तभी वाद्यों में अनुनाद के लिये, तंत्रियों के लोहे अथवा पीतल के हो, मोटे अथवा पतले हो, ऐसा उन्हें ज्ञान था। मानव जीवन के मानसिक तथा सांस्कृतिक विकास में संगीत सफल तथा सशक्त भूमि का निभाता है। जहाँ संगीत द्वारा आत्मिक विकास होता है वही उससे उत्पन्न नाद-ऊर्जा द्वारा मानव शरीर, मन व आत्मा एक सूत्र में पिरो दिये जाते हैं। संगीत को हृदय की विषय वस्तु मानते हुए श्री रिंगे जी लिखते हैं - "संगीत मावन मात्र की आत्मा का ऐसा भोजन है जिसके अभाव में मानवोचित् गुण फल-फूल नही सकते।"[43] भारतीय संगीत की सबसे बड़ी विशिष्टता स्पष्टता और सरलता है क्योंकि यह अत्यधिक सैद्धान्तिक एवं वैज्ञानिक है। संगीत का प्रत्येक खण्ड़ अपने स्वरूप नियम व सिद्धान्त में पूर्ण है। साथ ही यह सशक्त सृजनशील अभिव्यक्ति है।

आज इस आर्थिक युग में रोजी-रोटी की दौड़-धूप में मानव सर्वथा मानव मूल्यों से दूर होता जा रहा है। आज की बहुआयामी शिक्षा ने जहाँ व्यक्ति को नये-नये रोजगार के अवसर प्रदान किये हैं वहीं अपनी संस्कृति एवं कलाओं को पीछे छोड़ दिया है। आगे बढ़ने की चाह में उसकी मानवीय वृत्तियां सदैव अस्थिर एवं अशान्त रहती है। तनावपूर्ण एक निराशाजनक परिस्थितियों में यदि हमें आशाजनक विकल्प ढूढ़ते हैं तो हमें संगीत की प्रभावोंत्पादक क्षमता, उपचारात्मक शक्ति से नयी पीढ़ी को अवगत कराना पड़ेगा। संगीत की सामाजिक वैज्ञानिक उपादेयता को समझना होगा। सांगीतिक सिद्धान्तों, नियमों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपनाने की महती वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपनाने की महती आवश्यकता है। संगीत के 'जनरंजन', 'भवभंजन' के साथ ही 'कायारक्षण' विशेषता को उजागर करने की जरूरत है। संगीत शिक्षा को उजागर करने की जरूरत है। संगीत शिक्षा में 'संगीत चिकित्सा' विषय रखकर इसे सर्वव्यापी बनाया जा सकता है। वास्तव में प्राचीनता व नवीनता का मिश्रण ही संगीत को सहज, सुन्दर, जनरूचि के अनुरूप लोकप्रिय एवं उपचारी बन सकता है।

संदर्भ-सूची

1. सबसे प्राचीन संगीत चिकित्सा की पुस्तक 'मेडिसिनाम्यूजिका' है जो चिकित्सक रिचर्ड ब्राउन द्वारा सन् 1729में लिखी गई थी। डा. एडवर्ड पॉडीलस्की की - Music for your health एम. शुलियन की- Music and Medicine, जेन फॉक्स की- The health of music, डा. रामेला की- The Enchanting power of music, डॉ. जैक्सन पाल की 'संगीत-चिकित्सा' इत्यादि पुस्तकों में संगीत-चिकित्सा पर विस्तार से वर्णन है।
2. अखण्ड़ ज्योति- सितम्बर, 2004, पृ0सं0-07।
3. वही पृ0 - 7
4. दोषाः पुनस्त्रयो वातु-पित् श्लेष्माणः।
ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति।। (चरक संहिता विमान स्थान अध्याय 1/5)
5. आरोग्य अंक, सवर्धित संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर ,पृ0सं0-152।
6. मुगल काल में संगीत चिन्तन, राजेश्वर मित्र, पृ0सं0-4-5

7. संगीत चिकित्सा-सतीश वर्मा, पृ0सं0- 182-183 (द्रष्टव्य, संगीत-चिकित्सा, जैक्सनपाल, पृ0सं0-22)।
8. आयुधर्मयशोबुद्धि धनधान्य फलं लभेत्।
रागभिबुद्धि संतान पूर्णरागाः प्रगीयते।।80।।
संग्रामरूपलावण्य, विरहं गुण कीर्तनम्।
षौडवेन प्रगातव्यं लक्षणं गदितं यथा।।81।।
व्याधिनाशे शत्रुनाशे भयशोक विनाशने।
व्याधि दारिद्रय संतापे विषम ग्रहमोचने।। 82।।
कायाडाम्बरनासे च मंगल विष संहते।
ऑडवेन प्रगातव्यं ग्राम शान्त्यथं कर्मणि।। 83।।
- संगीत मकरन्द-नारद, संगीताध्याय, (द्रष्टव्य- संगीत मासिक पत्रिका 1993, लेख-राग)।
- रागिनियों द्वारा राग चिकित्सा पृ0सं0-97 तथा 'संगीत' अंक, जनवरी, 1972, पृ0सं0-77।
9. संगीत चिकित्सा - डॉ. सतीश वर्मा, पृ0सं0-185।
10. वही, पृ0सं0-441।
11. वही, पृ0सं0-442।
12. संगीत, जनवरी , 1972 राग-रागनियों द्वारा चिकित्सा लेख - मधुगंधा मधुव्रत, पृ0सं0-81।
13. संगीत, जनवरी 1994, लेख-नाद चिकित्सा एक अभूतपूर्व, अभियान, लेखक-श्री गोपाल कृष्ण भारद्वाज।
14. वांगमय शब्द ब्रह्म-नाद, ब्रह्म-आचार्य श्री राम शर्मा, पृ0सं0-5.37।
15. Mind and body Researches, Sunday 8 may, 2011, www. ashokbsr. blogspot.
16 राची एक्सप्रेस- 30 नवम्बर 2010
www. ranchiexpress.com
17. वांगमय शब्द ब्रह्म-नाद, ब्रह्म- श्री राम शर्मा आचार्य, पृ0सं0-3.9
18. National Seminar on "The Relevance of music Therapy - Indian perspective, Bhagalpur, Bihar -लेखयोग एवं संगीत, डॉ0 शशी शुक्ला, पृ0सं0-17।
19. संगीत चिकित्सा- डॉ. संगीता श्रीवास्तव, पृ0सं0-3।
20. वही, पृ0सं0- 3-4।
21. संगीत विशारद- बसंत, संस्करण-21, पृ0सं0-549।
22. संगीत चिकित्सा - डॉ0 सतीश वर्मा, पृ0सं0-178-179।
23. Music of nations - Swami Prajnanda Page - 215
24. संगोष्ठि, ललितनारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा विहार, विहार, 13 मई, www.prabhatkhabar.com
25. www.janokti.com मनोरमा शर्मा ,24 जुलाई, 2010
26. संगीत, द्वारा उपचार या म्यूजिक थेरेपी, पत्रिका-म्यूजिक थेरेपी- संस्करण 22 मार्च 2010, लेख
- राजश्री रावत mumsamvet.org.in
27. संगीत से तय होती है आपकी संगत भी- दैनिक जागरण वाराणसी, 31 जनवरी 2011, पृ0सं0-13
28. दैनिक जागरण, वाराणसी, 5 मई 2010, सप्तरंग-मन साधे संगीत
29. सेमिनार- 4 दिसम्बर 2010, डी.जी.पी. कालेज, कानपुर, डा. भाष्कर खांडेकर का उद्बोधन।
30. दैनिक जागरण, वाराणसी, 16 मार्च 2011, पृ0सं0-5 डीजे की तेज ध्वनि ले सकती है जान।
31. वही पृ0सं0- 5
32. 4 दिसम्बर 2010 को आयोजित डी0वी0पी0जी0 कालेज, कानपुर में राष्ट्रीय संगोष्ठी संगीत चिकित्सा में मुख्य अतिथि के रूप में भाष्कर खांडेकर के उद्गार।
33. दैनिक जागरण, वाराणसी, 31 जनवरी 2011, पृ0सं0-13, www.prabhatkhabar.com
34. ललित नारायण मिथिला, वि.वि. में आयोजित संगोष्ठी-13 मई 2011
35. संगीत कला विहार, मई-2005, लेख संगीत चिकित्सा महत्वपूर्ण जानकारी - भाष्कार खांडेकर, पृ0सं0- 38
36. शब्द ब्रह्म-नाद, ब्रह्म- श्री राम शर्मा आचार्य, पृ0सं0-6.4
37. Music soothes Anxiety, pain in cancer patient - www.haaram.com
38. www. janokti.com, 24 july 2010 लेख ,मनोरमा शर्मा
39. तिहाड़ जेल- संगीत से दूर हो रहा अवसाद, www.samaylive.com 15March 2011
40. www. themusitherapytrust.com
41. भविष्य की चिकित्सा है म्यूजिक थेरेपी-अफसर अहमद navbharatimes indiatimes .com. 20 अगस्त 2003।
42. विश्वास व रूचि होगा तो होगा चमत्कार, in.jagaran.yahoo.com. 10 जनवरी 2008।
43. भारतीय संगीत का इतिहास आध्यात्मिक एवं दार्शनिक ,डॉ0 सुनीता शर्मा ,पृ0 सं0 10, भूमिका।

मनुष्यों पर संगीत का प्रभाव एवं सांगितिक प्रभाव का चिकित्सकीय विश्लेषण

डॉ. निशा श्रीवास्तव

प्रवक्ता, चन्द्रकान्ति रमावती आर्य महिला पी0जी0 कालेज, गोरखपुर

यदि आज हम मानव जीवन में संगीत की महत्ता को देखे तो हम बिना संगीत के मानव जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। क्योंकि संगीत मनुष्य के जीवन में हर अवस्था, हर परिस्थिति से पूर्णतः जुड़ा हुआ है एवं उपयुक्त होता रहा है तभी तो संगीत की मनुष्य जीवन में महत्वपूर्णता को देखते हुए किसी ने ठीक ही कहा है -

साहित्य संगीत कला विहिन
साक्षात् पशुः पुच्छ विषाणहीनः।

अर्थात जो मनुष्य साहित्य और संगीत कला से सर्वथा अनभिज्ञ होता है वह बिना संगीत और पूंछ के साक्षात पशु तुल्य होता है।

माताओं द्वारा लोरिया गाकर बच्चों को चुप कराना, सुलाना दैनिक जीवन में देखने को मिलते है। इसी तरह कुछ विशिष्ट सांगीतिक धुनो एवं गीतों के द्वारा सैनिकों में एक प्रकार का जोश पैदा हो जाना तथा मरने-मिटने तक सब कुछ कर गुजरने के लिये तैयार हो जाना भी तो संगीत के प्रभाव का एक ऐसा उदाहरण है जिसे सभी ने देखा है। संगीत द्वारा स्वास्थ वर्धन व विभिन्न रागो के उपचार हेतु संगीत शास्त्रीय व वैज्ञानिक ने अत्यन्त सूक्ष्म व गहन अध्ययन किया है दिन-प्रतिदिन इस विषय पर अनेक प्रयोग किये जा रहे है।

प्रभुशरण मेहता के अनुसार - गठिया रोग में वेदना के शयन हेतु तानपुरे के साथ निम्न स्वर का दो मिनट किया गया दीर्घ स्वरोच्चार अत्यन्त लाभकारी है। 'रे' एड्स के उपचार हेतु निम्न स्वरावली का वर्जित कूच में दीर्घ उच्चारण तुरन्त रोगी को शक्ति प्रदान करेगा उक्त प्रयोग काल के चारों प्रहर लाभकारी है - 'म, रे, गा, नि, धा

हृदय रोग मे तो लय का विशेष स्थान है। हृदय रोग विशेषज्ञ डा0 के0के0 अग्रवाल जो मूलचन्द्र अस्पताल जो दक्षिण दिल्ली में हृदय विशेषज्ञ के अनुसार हृदय की धड़कन स्वयं में सांगीतिक है क्योंकि वह एक लय में चलती है। यदि किसी व्यक्ति के हृदय की धड़कर एक लय में न हो तो वह व्यक्ति अस्वस्थ माना जाता है। बाहरी लय द्वारा हृदय की लय के उतार-चढ़ाव को नियंत्रित किया जा सकता है।

भारत में अनेक प्रांतों में गर्भवती महिलाओं को संगीत सुनाया जाता है। दक्षिण भारत में यह विश्वास है कि गर्भवती स्त्रियां वीणा के सुरीले नाद सुने तो उनका प्रसव पीड़ा रहित होता है, कई बार इस विषय की पुष्टि भी हुई है। मानसिक रोगों के उपचार हेतु किये गये सांगीतिक प्रयोग अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुए है।

डॉ0 कविता चक्रवर्ती के अनुसार- मनोवैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास है कि संगीत में अच्छी औषधियों के मुकाबले रोग-विनाशक गुण है। अमेरिका के लगभग 500 से अधिक डाक्टर अपने रोगियों की चिकित्सा संगीत द्वारा करने का प्रयास कर रहे है। इस सम्बन्ध में उनको सफलता भी मिली है।

संगीत के माध्यम से अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा संभव है। वर्तमान समय में वैज्ञानिकों व संगीतज्ञों ने नित्य नये शोध कार्यो द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित कर दिया है, संगीत द्वारा व्यक्ति को जीविकोपार्जन का मार्ग मिल सकता है, समाज में

14-Front Side K

प्रतिष्ठा मिलती है, अंधे बच्चे संगीत की लय से अपने स्वर के प्रभाव को नियंत्रित कर सकते है, विकलांग व्यक्ति संगीत की आवृत्तियों पर अपने शारीरिक संचालन द्वारा शारीरिक सामंजस्य स्थापित कर सकते है। हीन भावना से ग्रसित रोगी भी संगीत चिकित्सा द्वारा विश्वास से पूर्ण हो सकते है।

प्रसिद्ध संगीत चिकित्सक रिनवीस (Rinweiss) के अनुसार - सम्पूर्ण मानव शरीर ही संगीतमय है, हृदय की धड़कन, नाड़ी का फड़कना, मस्तिष्क की तरंगे, हारमोन्स का प्रवाह और साँस की लय सभी कुछ तो एक वृहत संगीत है।

डॉ0 विलायत हुसैन खॉ के अनुसार - खुदगाने वाले के लिये बहुत बार संगीत बड़ी अच्छी दवा साबित होता है। अक्सर देखा गया है कि गाने वालों को फेफड़ों की बीमारी बहुत कम होती है, क्योंकि उनके फेफड़ो की वर्जिश का मौका मिलता रहता है, उनसे गंदी हवा निकलती रहती है और अच्छी हवा पहुँचती रहती है। जिससे कोई बड़ी बीमारी पास नहीं आने पाती।

संगीत चिकित्सा पर आज भारत के अनेक संगीत चिकित्सक कार्य कर रहे है। संगीत के प्रयोग से मानव क्षमता में अभिवृद्धि नीव गति में सुधार, दर्द की अनुभूति में कमी, हिंसात्मक प्रवृत्ति में कमी इत्यादि का अनुभव किया गया है। इस हेतु भारत के कुछ बड़े अस्पतालों जैसे मुंबई के ब्रीच केन्डी, लीलावती, बंगलौर के नारायण हदृयालय तथा दिल्ली के अपोलो अस्पताल आदि ने सराहनीय कदम उठाये है।

डॉ0 वि0वि0 गौरे ने लिखा है कि "यदि शरीर और मन पर सुस्ती छा गई, आलस्य आ गया। शीतलता प्राप्त हुई, शब्द और आवाज मंद आने लगी, मन श्रृंगार रस में डूबा, पंचम स्वर की आलापिनी, मंयति, रोहिणी, रम्भा श्रुतियों ने कंठ घेर लिया हो तो उसको उस मण्डल में साम्यावस्था लाने के लिए रौडी, क्रोधी, वर्जिका, श्रुतियां, ऋषभ स्वर शब्द को या ऋषभ वादी स्वर वाले राग को सुनाया जाये तो उसकी कफ प्रवृत्ति हो जायेगी इसी प्रकार पिच और बात प्रकृति वाले को साम्यावस्या में लाने के लिए कफ प्रकृति स्वर राग रागिनियां श्रृंगार रस के राग खमाजा, तिलंग, देस आदि सुनाने आवश्यक है।

इसी प्रकार विभिन्न वैज्ञानिकों तथा चिकित्सकों द्वारा स्थापित कुछ रागों द्वारा रोगों के उपचार का उल्लेख किया गया है जैसे सिरदर्द, सर्दी जुकाम, कफ तथा दया के रोगी को राग के द्वारा बवासीर के रोगी को मधुवत्ती निम्न रक्त चाप के रोगी को आसावरी तनाव में रोगी को यमन कल्याण सिरदर्द तथा रक्त चाप के रोगों को दरबारी काहड़ा सुनाना चाहिए।

अस्ट्रियायी वैज्ञानिकों के अनुसार संगीत सुनने से पीठ दर्द से छुटकारा मिलता है। संगीत हमारे Automatic Nervous System पर असर डालता है, जब हम मनपसंद संगीत सुनते है तो हमारा Blood Pressure नियंत्रित रहता है।

मिश्र और यूनान में ढोल और घंटिया बजाकर रोगियों के उपचार काविधान रहता है। संगीत का प्रयोग अस्पतालों में, नर्सिग होम में, गर्भावस्था के दौरान भ्झी किया जा सकता है, शंखनाद द्वारा पेट की कमजोर मॉसपेशियों को मजबूत किया जा सकता है।

अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (AIMS) के एनाटमी विभाग में हुए एक शोध में पाया गया है कि संगीत के प्रभाव से गर्भस्थ शिशु के दिमाग की कोशिकाओं का अच्छा विकास होता है।

North Western University के वैज्ञानिकों ने अपनी रिपोर्ट में दावा किया है कि यदि लोग कोई विशेष प्रकार का हल्का संगीत चलाकर सोते है तो सोने से पहले याद किये गए पाठ को याद रखने में सहायता मिलती है।

पेड़-पौधों में संगीत का सकारात्मक प्रभाव

अल्पना

शोधार्थी

वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संगीत एक ऐसी कला है जिसको सुन कर मनुष्य और जन्तु तो मुग्ध हो ही जाते हैं, साथ ही पेड़-पौधे और लताओं पर भी हरियाली छा जाती है, इसलिए हम कह सकते है कि संसार में शायद ही कोई ऐसा प्राणी हो जिसे संगीत से प्रेम ना हो और जो संगीत को न जान सके न समझ सके और उससे प्रभावित ना हो । आज के वैज्ञानिक भी इस सत्य को स्वीकार करने लगे है कि संगीत के माध्यम से मनुष्य एवं प्रकृति को वशीभूत किया जा सकता है संगीत में प्रकृति और संगीत के पारस्परिक समबन्धो को जागृत करके मनुष्य और प्रकृति को प्रभावित परिष्कृत तथा विशेष रूप से उर्वरक बनाया जा सकता है जिस प्रकार संगीत मनुष्य को प्रसन्न करता है उसी प्रकार वह वनस्पति को भी उल्लासित ही नही विकसित भी करता है पेड़ पौधो को संगीत सुनाकर हम देखते है कि उन पत्तियों में पहले से अधिक चमक और खुशी दिखाई देती है इस प्रकार के प्रयोग का वर्णन प0 ओंकारनाथ ठाकुर ने अपनी पुस्तक प्रणव भारती में किया है। ऋग्वेद में भी इस तथ्य का उल्लेख है कि जब मरूत नर्यागणों के साथ आकाश में विचरण करते हुए गरजते है तो वन के वृक्ष भय से काँप जाते है और छोटी छोटी झाणियाँ इधर उधर हो जाती है। लताऐं अपने आधार के साथ लिपटकर अपने जीवन की रक्षा करती हुई सी प्रतीत होती है।

पाश्चात्य वैज्ञानिको के अनुसार संगीत द्वारा पौधो का विकास होता हैं इसके लिए यदि एक प्रयोग किया जाये जिसके अन्तर्गत दो पौधे एक साथ लगाये जाये और फिर एक पौधे को संगीत सुनाया जाये व दूसरे को नही तो हम निष्कर्ष पर पहुंचेगें कि जिस पौधे को संगीत सुनाया जा रहा है वह जल्दी बढ़ता है। सर श्री जगदीशचन्द्र जिन्होने वनस्पति शास्त्र पर शोध के द्वारा यह प्रमाणित किया कि जब उन्होने प्रयोगशाला मे जाकर भैरवी गायी तो गाने के पूर्व यंत्र द्वारा पौधो के पत्तों की जो अवस्था देखी थी और गाने के बाद उन पत्तो पर आई हुई चमक का दर्शन भी किया था । किसी वनस्पति को छूने मात्र से या उँगली मात्र से यदि वह मुरझा सकती हैं तो फिर स्वर का परिणाम उन वनस्पतियों पर हो और उससे वह प्रसन्न या अप्रसन्न प्रुल्लित या दुखित विकसित या मूर्छित हो उठे तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है। जिस प्रकार संगीत मनुष्यों को प्रसन्न करता है उसी प्रकार वह वनस्पति को उल्लासित हीं नहीं विकसित भी करता है। श्री जगदीशचन्द्र बसु नामक वैज्ञानिक का इस दिशा में विशेष योगदान माना जाता रहा है । जब वे बच्चे थे तब उनकी माता जी ने उन्हे यह बताया था कि तुलसी की पत्ती ही क्यों किसी भी पत्ते को तोड़ना ठीक नही है। पेड़ पौधे हमारी तरहा ही भावुक होते हैं। वे भी जागते सोते है। उन्होंने अपने श्रम साधनों से कृषको ग्राफ नामक पत्र बनाया । इस पत्र से उन्होने पौधो की वृद्धि और चोट पहुँचाने पर उनकी प्रतिक्रिया पोषाक और मारक रासायनिक तथा भौतिक प्रभावों पर परिणति आदि के परीक्षण किए । पिछले कई सालो से छुई मुई, टेलिग्राफ पौधा, तुलसी, हाईड्रिला आदि जंगली पौधो, कासमास, पेटुनिया, कर्णकुडंल आदि फूल के पौधो और तम्बाकू, शकरगन्द व धान आदि के पौधो पर अनेक प्रयोग किए गए प्रत्येक प्रयोग में देखा गया कि परीक्षणाधीन पौधे निरीक्षण पौधो की अपेक्षा अधिक जोरदार अधिक पत्तो से युक्त अधिक हरे भरे और अधिक घने होते थे उनमे फूल जल्दी निकलते थे और फसल भी ज्यादा उतरती थी । सर्वोतम परिणाम वॉइलिन,

बांसुरी और नादस्वरम की ध्वनि तंरगो का देखा गया , गायन का भी प्रयोग करके देखा गया परन्तु यह पाया गया कि केवल नारी कंठ ही पौधो को हरा भरा रहने और अधिक उगने हेतु उत्तेजित कर सकता है। इसका कारण यह है कि स्त्रियों की कंठ ध्वनि की श्रुति (पिच) ऊंची (4से 5तक) होती है,जब कि पुरूष की श्रुति नीची (2 से 3 तक) होती है। इसका अर्थ है कि 4 से नीची श्रुति पर बजाने से वाद्यों का पौंधो पर प्रभाव नहीं पड़ता हैं।

एक बार इंग्लैण्ड में एक विशाल आयोजन में वसु को यह सिद्व करना था कि विष देने से पौधे मर जाते हैं,क्लोरोफार्म सुँघाने से बेहोश हो जाते है और जब इसका प्रभाव समाप्त हो जाता है ,तो फिर पूर्ववत सचेत हो जाते है। एक व्यक्ति ने शीशी में तरल पदार्थ दिया, यह कहकर कि यह जहर है इसे एक पौधे पर डालिये और देखिये कि यह मरता है या नहीं । वहाँ अनेक पत्रकार और वैज्ञानिक भी थे। सभी उत्सुक थे कि देखे कि क्या होता है। वसु ने यह शीशी एक पौधे पर आधी उड़ेल दी, लेकिन पौधा नही मरा ।सभी ने वसु का मजाक उड़ाया कि उनकी निष्पति गलत है। विश्वास से परिपूर्ण वसु ने यह तरल पदार्थ स्वयं पी लिया ।सबकी नजर वसु पर थी। वह यथापूर्व थे। तब उन्होने शीशी देने वाले से कहा, "अब मैं जहर देकर किसी भी पौधे को मारकर दिखाता हूँ और उन्होने यह करके दिखा दिया ।इस पर नकली विष देने वाले ने यह स्वीकार किया कि उसने ऐसा इसलिए किया था ताकि उनका सिद्वान्त गलत ठहराया जा सके दर्शकों ने उसकी निन्दा की और उसे वहाँ से निकाल दिया ।"इस वैज्ञानिक के अनुसार संगीत द्वारा पौधो का विकास होता है। इसके लिए एक प्रयोग सुनाया जाये और दूसरो को नही ,तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जिस पौधे को संगीत सुनाया जा रहा है, वह जल्दी बढ़ता है। भारतीय संगीत के वाद्ययंत्रो का अलग अलग प्रयोग करके भी देखा गया है कि किस वाद्ययंत्र से किस फसल को ज्यादा फायदा हो सकता है। शोधकर्त्ताओं के अनुसार- बाँसुरी सुबह बजाने से पौधो में रस को जैसे-नारियल, खजूर में नीर पात्र को आधे क्षण में भर देती है। तबला वाद्य आलू, मटर तथा काजू की उत्पादन क्षमता को बढाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। वैज्ञानिकों का मानना है कि संगीत के प्रभाव से बीजो के अंकुरण की प्रक्रिया में भी तेजी आने लगती है ।एक प्रयोग में मास्को के कृषि वैज्ञानिको ने इस प्रक्रिया द्वारा गेहूँ और जौ में 10 से 50 प्रतिशत उत्पादकता बढाने में सफलता पायी है। इसी प्रकार के प्रयोग में बीजों को बिजली की घंटी की आवाज प्रतिदिन आधा घण्टा सुनाकर उत्तेजित किया जाता था। परिणामतः यह देखा गया कि परीक्षण किए गए धान, मटर, सरसों, धनिया, रागी (सरसों के आकार का एक धान्य), चना, मूँग, उड़द, सेम, बैंगन तथा अन्य अनेक बीजों की तुलना में बहुत जल्दी फूल जाते हैं इसके अलावा ध्वनि-तंरगों से उत्तेजित अंकुर अधिक सबल भी पाए गए। एक शोध के मुताबिक भरतनाट्यम से पन्द्रह दिन के बन्दर सजावटी फूलों की ऊंचाई औसत से डयोढी हुई। जापान के ओसाका शहर के योशिता ओशाई ने अपने बगीचे में संगीत के कुछ ऐसे चमत्कार की झलक देखी । ओशाई ने चुकंदर, टमाटर और तरबूज की फसल पश्चिम के पारम्परिक संगीत मोजार्ट और बारव के मधुर संगीत से उगाई। इसका परिणाम और स्वादिष्ट फलों के रूप में सामने आया, जिन्हे खरीददारों ने बीस फीसदी ज्यादा कीमत देकर भी खुशी-खुशी खरीदा। पियानो वादक जापानी किसान का अनुभव है कि संगीत फलों को मीठा और पौष्टिक बनाने में भी विशेष रूप से प्रभावकारी है।

इसके अतिरिक्त एक शोध के मुताबिक बरसात के तथा ठंड के गेहूँ की फसल पर प्रयोग किए तो पाया कि अलग अलग मौसम में संगीत की तीव्रता तथा आवाज भी तेज या धीमी होनी चाहिए, अर्थात सभी मौसम में एक सी तीव्रता में संगीत बजाना सफल नही होता। बरसाती गेहूँ को कम तापमान में धीमें संगीतिक उपचार की आवश्यकता होती है। अंकुरण बिना ध्वनि उपचार की फसल की तुलना में तीन गुना हुआ। निम्न तापमान 2 डिग्री सेलसियस के नीचे अंकुरण 6 दिनों में 34 प्रतिशत हुआ, जबकि 5 किलो सांयकाल प्रति सेकण्ड की सांगीतिक ध्वनि से उपचारित किया गया। इसके दूसरी ओर एक नियंत्रित पौधे में अंकुरण बिना सांगीतिक ध्वनि के समान परिस्थितियों में 24 प्रतिशत के नीचे रहा।

इस प्रकार हम कह सकते है कि पेड़-पौधो पर संगीत का सकारात्मक प्रभाव पड़ने से फसल उगने में कम समय लगता है और उनकी गुणवत्ता बहुत अच्छी होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 भैरवी संगीत शोध पत्रिका

2 संगीत-मई, 2012

3 संगीतायन-सीमा जौहरी

4 संगीत कला के विविध आयाम- डॉ0 दीपिका वालिया

संगीत द्वारा विभिन्न मानसिक एवं शारीरिक रोगों का उपचार

रजनीश विश्वकर्मा

बाबा भीमराव अम्बेडकर, बिहार विश्वविद्यालय, मुज़फ्फरपुर, बिहार

संगीत है शक्ति ईश्वर की, हर स्वर में बसे हैं राम
रागी जो सुनाए रागिनी, रोगी को मिले आराम

कर्म कुशलता ही संगीत है। संगीत कला मनुष्य के सामाजिक जीवन का उत्कृष्टतम प्रकाशन है। संगीत समस्त कलाओं में सूक्ष्म व विशुद्धतम कला है यह केवल मनोविनोद की वस्तु नहीं बल्कि ऐसा चिरस्थाई आनन्द है जिसमें हमें आत्मिक सुख मिलता है।

क्षिति जल पावक गगन समीरा
पंच रहित यह अधम शरीरा

इन्हीं पांचो तत्वों से जीवों का निर्माण हुआ है यही तत्व जीवन और प्रकृति के आधार माने जाते हैं स्वर आत्मा का रूप है जिस प्रकार आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से माना गया है उसी प्रकार स्वर का सम्बन्ध आत्मा से माना गया है विभिन्न विपरीत एवं विकृत परिस्थितियों में ध्वनि अथवा स्वरों के प्रभाव द्वारा उत्पन्न शारीरिक क्रियाओं का परिवर्तन ही सांगितिक चिकित्सा प्रणाली अथवा **म्युज़िक थेरेपी** है, आज कल विश्व में कुछ चिकित्सक व विशेषक संगीत के रहस्यपूर्ण तत्वों के अनुसंधान में लगे हैं।

मानसिक शारीरिक रोगों पर संगीत की स्वर लहरियों ने अशातीत प्रभाव डालें हैं अनुसंधान के इस वर्तमान युग में वह दिन अधिक दूर नहीं जब विज्ञानवेत्ताओं द्वारा संगीत की छिपी हुई अनन्त व असीम शक्ति का भण्डार सर्वसाधारण के समक्ष प्रकट की जाएगी और मानव जीवन के सृजनात्मक कार्यों में इसका अधिकाधिक प्रयोग होगा। सम्भवतः तब संगीत जीवन के और अधिक निकट आकर उसे कल्याणकारी पक्ष को अग्रसर करने में सहायक होगा।

अति प्राचीन काल से ही आयुर्वेद में गन्धर्व वेद की सहायता से स्वरों द्वारा चिकित्सा की प्रणाली विकसित हुई है शारीरिक मानसिक थकावट या तनाव के बाद किसी संगीत के सुनने से प्राप्त शान्ति एवं आनन्द भी इसी का द्योतक है।

संगीत का प्रयोग मानव ने ईश्वरोपासना मनोरंजन इत्यादि के अतिरिक्त चिकित्सकीय क्षेत्र में भी किया है संगीत की चमत्कारिक शक्ति के कारण संगीत का चिकित्सा के क्षेत्र में प्रयोग मानव द्वारा किया जाना स्वाभाविक है। विश्व के समस्त देशों में आज संगीत चिकित्सा के विभिन्न प्रयोग किए जा रहे हैं। संगीत द्वारा आध्यात्मिक विकास के गुणों की वृद्धि की शक्ति एवं संगीत का मनोवैज्ञानिक प्रभाव निश्चित रूप से संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में सफलता के सूचक प्रतीत होते हैं संगीत का मनोभावों से गहन सम्बन्ध है मन के साथ हमारी समस्त शारीरिक क्रियाएं जुड़ी हैं अतः संगीत द्वारा चिकित्सा की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता।

आजकल संगीत की उपयोगिता मानसिक चिकित्सा में बड़ रही है वैसे इस थेरेपी के उद्भव से भी पहले बहुकथित प्रसंग है कि आधुनिक संगीताचार्य महान भारतीय गायक पं0 ओंकारनाथ ठाकुर ने द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व इटली के फासिस्ट महानेता मुसोलिनी के द्वारा आमंत्रित होकर रोम जाकर उसके अनिद्रा रोग से दीर्घ काल पीड़ित मस्तिष्क का

संगीत के द्वारा उपचार किया। पं0 ओंकारनाथ ठाकुर के द्वारा राग बिहाग का शास्त्रीय गायन सुनते सुनते उन्हें मानसिक शान्ति मिली और नींद आ गई। इसका विशेष विवरण पं0 पद्मनारायण आचार्य ने अपने संस्मरण निबन्ध में दिया है मनोरंजन के सूक्ष्म किन्तु सशक्त साधन के रूप में संगीत का मनुष्य के उपचार में विशेष महत्व माना जाता है।

प्रसिद्ध संगीत चिकित्सक रिक वीस के अनुसार सम्पूर्ण मानव शरीर ही संगीत मय है हृदय की धड़कन, नाड़ी का फड़कना, मस्तिष्क की तरंगें, हारमोन्स का प्रवाह और सांस की लय सभी कुछ तो एक वृहत संगीत है। एलमीरज के रोगियों को संगीत सुनकर पूर्व की बातें याद आ जाती हैं और पारकिंसन के रोगियों का मोटर कॉर्डिनेशन सुधर जाता है मस्तिष्क के चोट खाए व्यक्ति के पुनर्वास में भी संगीत चिकित्सा के सुखद परिणाम सामने आए हैं ग्रेटफुल डैड, मिकी हार्ट और ऑलीवर सैक्स जैसे न्यूरोलॉजिस्ट भी यह स्वीकार कर चुके हैं कि संगीत के द्वारा मस्तिष्क की चोट के रोगियों के उपचार में सहायता मिलती है।

संगीत के चिकित्सीय आयाम एवं औषधीय प्रभावों का विस्तृत वर्णन चरक ऋषि कृत सिद्धि स्थान नामक पुस्तक के छठे अध्याय में है आयुर्वेद के अनुसार दोष एवं धातु का संतुलन बिगड़ने की स्थिति में ही शरीर में रोग होता है।

यदि संगीत द्वारा शारीरिक एवं मानसिक उपचार किया जाए तो निम्न लाभ प्राप्त होगाः-

- मन को शान्त करने के लिए संगीत काम में लिया जाता हैमानवीय मन चंचल होने के कारण उस मन को अनुशासन में लाने के लिए संगीत एक साधन है।
- संगीत में उच्च विचारों को स्फूर्त करने की शक्ति है।
- संगीत के द्वारा मानसोपचार किए जा सकते हैं मानसिक रोगियों के लिए संगीत द्वारा उपचार करने का विचार आजकल किया जाने लगा है। अगर कोई व्यक्ति मानसिक संतुलन खों बैठा हो और मन तनाव पूर्ण स्थिति में हो तो संगीत द्वारा अस्वस्थ्य मन को स्वस्थ बनाया जा सकता है मनुष्य ही नहीं अपितु जानवर पशु पक्षी वनस्पति को भी प्रभावित करने की शक्ति संगीत में है।
- शिक्षा को ज्यादा सुलभ और मनोरंजक बनाकर बालक का सर्वांगीण विकास करने का कार्य संगीत करता है।
- बाल विकास में सांगीतिक वातावरण का बहुत महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

राग-रागनियों द्वारा रोग निवारण

दिव्या मिश्रा

शोध छात्र (जे0आर0एफ0),

संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संगीत है शक्ति ईश्वर की।
हर स्वर में बसे है राम।।
रागी जो सुनाये रागिनी।
रोगी को मिले आराम।।

उक्त लोकोक्ति निश्चित रूप से संगीत की शक्ति को दर्शाता है। ब्रह्मा, शिव, नारद, गंधर्व एवं सरस्वती से उत्पन्न यह संगीत सचमुच संसार की अनेक अलौकिक शक्तियों में से एक है। चाहे वह ऋषियों की तपस्या भंग करना या कृष्ण द्वारा गायों को सम्मोहित करना सब संगीत की शक्ति ही तो है। धरती, आकाश जल, अग्नि और वायु- इन पाँच तत्वों से ही मानव शरीर की सुंदर रचना हुई है यह पूर्व सिद्ध है कि इन तत्वों में संगीत प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। नाट्य शास्त्र के अनुसार प्रत्येक प्राणी प्रकृति द्वारा निर्मित एक विशिष्ट स्वर रचना है, जिसका सही गायन-वादन, वाणी की समग्र चेतना को प्रभावित करता है। संगीत की ध्वनियाँ चेतना की ऊर्जा ईंधन मानी गयी है यही ऊर्जा मनुष्य को शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करती है। प्राचीन समय से शारीरिक स्वास्थ्य के लिए संगीत का प्रयोग किया जाता रहा है। पाइथागोरस, प्लेटो, अरस्तु जैसे दार्शनिकों को भी यह बात मान्य थी कि संगीत एवं शरीर के स्वास्थ्य का आपसी संबंध है।

मानव शरीर एक वीणा है। उसमें श्वांसों के आवागमन से स्पन्दन होता है और दिल की धड़कन लयात्मकता के प्रवाह को बनाए रखती है। इसी से मानव शरीर में एक प्राकृतिक संगीत सदैव प्रवाहित होता रहता है। इसी कारण आत्मा को एवं चित को संगीत सहज ही प्रभावित करता है। हीगल ने कहा है "Music directly addressed the soul."

शोपेन होवर के अनुसार- "केवल संगीत ही ऐसी कला है जो श्रोताओं से सीधा सम्बन्ध रखती है इसे किसी भी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती है।"

नाद, छंद और लय इन तीनों का सफल नियोजन संगीत है ये तत्व संगीत में प्राण प्रतिष्ठा करते हैं। श्रुति को स्वर, स्वर को राग, राग को रस में बदल कर प्राणी के मन मस्तिष्क पर उत्साह, विनोद, करूणा, चिन्ता आदि भाव उभार कर आनन्दित कर देते हैं। विशेष संगीत मानव को तनावमुक्त कर संतुलित व्यवहार की ओर प्रेरित करता है इसी कला एवं विज्ञान के समन्वय को संगीत चिकित्सा का नाम दिया गया है।

भारतीय संगीत की आत्मा- स्थूलार्थों में कहें तो राग-रागिनियाँ केवल बाह्य स्तर पर व्यक्ति के चेतन को उद्वेलित करके ही अपना कर्तव्य परिसमाप्त नहीं कर लेती, वरन् व्यक्ति में अंतर्निहित सूक्ष्मताओं और वैशिष्ट्यों को, उसके हृदय के प्रत्येक तार को झंकृत करती हुई शरीर और मन के प्रत्येक अणु को अपने स्व में बदल लेती है, अपने रूप में रूपायित कर लेती है। संगीत इन अर्थों में यथार्थतया रूपांबरा है। राग विविध मनोदशाओं के द्योतक हैं और इसी कारण वे अपनी भाव दशा के अनुरूप व्यक्ति में रसानुभूति का संचार कराने में समर्थ होते हैं- उत्साह, विवाद, आवेश, करूणा आदि भाव विशेष- इन रागों से ही उपजते हैं।

किन्तु कुछ स्वरों के इस यदृच्छ संकलन या संगुफन से मान भी ले कि वे किसी रस-भाव-प्रणयन में सक्षम है, तो भी किसी रोग की चिकित्सा हो सकती है, यह बात अधिकांश को संगीत की शक्ति पर अतिरिक्त विश्वास-सी लगती है।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ 'संगीत-रत्नाकर' के स्वराध्याय में स्वरों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए विभिन्न स्वरों से संबंधित स्नायुओं, चक्रों और शारीरिक अंगों का विवरण दिया है (पिंडोत्पत्ति प्रकरण में)। स्वरों के उत्पत्ति से स्नायुओं का संबंध होता है, या हो सकता है, यह मानने को आज व्यक्ति तैयार नहीं हैं। किंतु एक आस्ट्रियन वैज्ञानिक बी0एम0 लैजर लैजरियों ने स्वयं प्रयोग करके देखा कि विभिन्न स्वरों के उच्चारण से शरीर के अंगों का व्यायाम होता रहा। उन्होंने अपने जीवन

की एक घटना बताई ।8 वर्ष की अवस्था में ही मुझे गठिया हो गया था। एक दिन मेरी एक पड़ोसन अपने बच्चे को लाकर मेरे पास छोड़कर किसी काम से चली गई। बच्चा लेटा हुआ 'ला ला ला' गा रहा था। जब-जब बच्चा 'ला ला' कहता था तब-तब उसकी ऊपर की पसलियाँ चलती हुई दिखलायी पड़ती और उन पसलियों के अतिरिक्त और कोई भाग नहीं चलता।

सामवेद में रोगों के निवारण के लिए राग-गायन का विधान मिलता है। चरक ऋषि के सिद्धि स्थान के छठे अध्याय में संगीत के औषधि प्रभाव का वर्णन मिलता है। गंधर्व वेद (संगीत शास्त्र) जिसका अर्थ ध्वनि विज्ञान है जिसका सीधा प्रभाव हमारी तांत्रिका पर बताया गया है। जिस प्रकार वात पित्त और कफ-ये तीन धातु गति, चेतन और मंदता के भौतिक गुणों के धोतक हैं, वैसे ही वे स्वरों की तारता, तीव्रता और माधुर्य के लिए प्रयुक्त होते हैं। तारता वात गुण को द्योतित करता है, तीव्रता पित्त गुण को और माधुर्य युक्त स्वर कफ गुण को। पिंड से ब्रह्माण्ड तक के सभी पदार्थ व घटनाएँ इन तीन गुणों की साम्यावस्था या विषमता से ही उत्पन्न होती हैं। जिस आवृत्ति में तीन गुण है उसका दोष पर असर पड़ता है और ऐसी आवृत्ति सन्निपातज कहलाती है। गान्धर्व वेद में स्वर सात बताये गये हैं और इन्हीं सात स्वरों से राग-रागिनियों का स्वरूप निर्धारित हुआ है। एक शोध के अन्तर्गत धातु दोषों के संतुलक रोगों के प्रति सूचनायें दी गई हैं जो इस प्रकार हैं-

	रोग	**राग**
1.	रस दोष	दीपक, शुद्ध सारंग
2.	रक्त दोष	पूरिया, मालकौंस
3.	मम्स	हिण्डोल
4.	मेघ दोष	कलावती, मेघ
5.	अस्थि दोष	भैरवी
6.	मज्जा दोष	केदार, दरबारी, सामवेद
7.	शुक्र	ललित, आसावरी

शोध में कुछ रोग और उन रोगों के उपचार में सहायक राग भी दिये गये जो इस प्रकार हैं-

	रोग	**राग**
1.	खून की कमी	पूरिया, प्रियदर्शिनी, सामवेद
2.	दमा	पूरिया, मालकौंस, यमन
3.	नर्वस वेकडाउन	अहीर भैरव, पूरिया
4.	खून बहना	आसावरी, मधुवन्ती
5.	आधा सिरदद	दरबारी, सोहिनी, जयजयवन्ती
6.	हृदय रोग	भैरव, शिवरंजनी, अल्थैया वियबल
7.	उच्च रक्तचाप	हिन्डौल, पूरिया, कौशिक कान्हड़ा
8.	उच्च अम्लता	मारवा, दीपक, कलावती
9.	यकृत रोग	पूरिया, पूरिया धनाश्री
10.	मानसिक रोग	ललित, केदार
11.	आस्टियों पोरोसिस	हिड़ोल, मुल्तानी, मधुवन्ती
12.	चर्मरोग	मेधमल्हार, मुल्तानी, मधुवन्ती
13.	डर	सोहिनी, पूरिया
14.	जोड़ों का दर्द	यमन कल्याण, नट भैरव, हिंडोल
15.	ऐनोरेक्सिया	पटमंजरी, शुद्ध सारंग, कलावती
16.	मधुमेह	जौनपुरी, जयजयवन्ती

इन रोगों को दिये गये रोगों से चिकित्सा का क्या आधार था यह तो ज्ञात नहीं हो सका परन्तु इतना तो संभव है कि आगे निरन्तर शोध विधि द्वारा चिन्तक वर्ग उन आधारों को खोजने की चेष्टा करेगा।

अतः राग रागिनियों के द्वारा अधिक अच्छी सफल व फलप्रद चिकित्सा की जा सकती है। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण है इस कार्य को करने के लिए उपयुक्त संगीतकार तथा डाक्टर का तैयार होना।

अब तक पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में कुछ भी कह पाना बहुत कठिन है फिर भी इसमें जरा भी संदेह की गुंजाइश नहीं है कि संगीत चिकित्सा की नई धारा विकसित की जा सकती है और राग-रागिनियों द्वारा रोगों के सामने का उपाय खोज निकाला जा सकता है। आवश्यकता है इन विषयों पर शोध करने के लिए उत्साही कार्य-कर्ताओं के जिनके बिना ये शोध सम्भव नहीं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. संगीत- राग रागिनी अंक जनवरी, 1972
2. संगीत रत्नाकर, चौधरी सुभद्रा (अनु0) राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2008
3. भारतीय संगीत का इतिहास- सिंह ठाकुर जयदेव, संगीत रिसर्च अकेडमी, 1994
4. संगीत कला विहार- अंक मई, 2010
5. निबंध संगीत- गर्ग लक्ष्मी नारायण, संगीत कार्यालय हाथरस
6. संगीत चिकित्सा- शर्मा ड०० सतीश
7. कल्याण आरोग्यांक- 2001

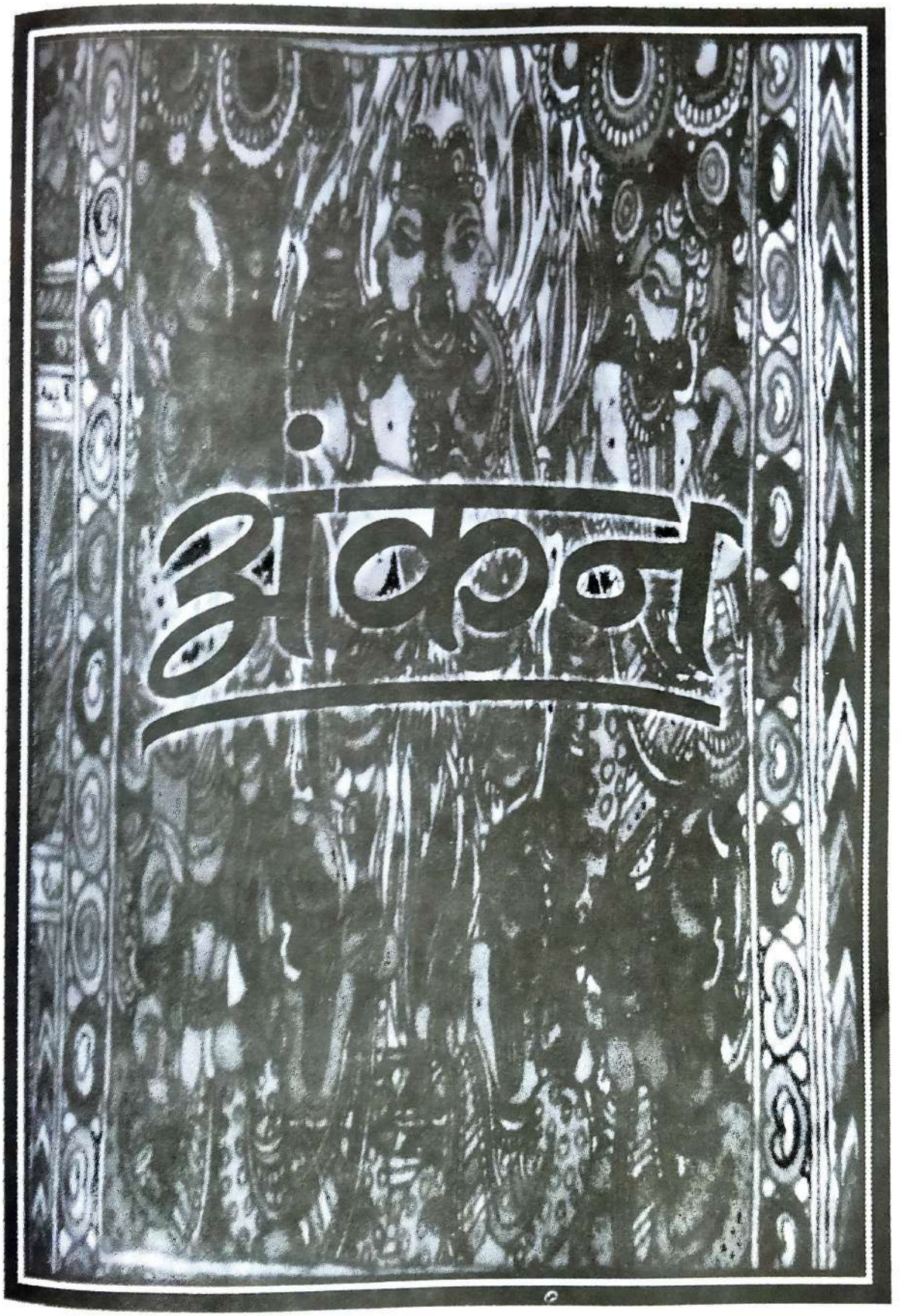
अवनि

हिमालय और हिमालय निकोलोई **रेरिख़** की कूंची से

डॉ. आर. एस. अग्रवाल

चित्रकार तथा कलाविद्

महान रूसी दार्शनिक, दृष्टा, तत्ववेत्ता एवं रहस्यमय चित्र-शिल्पी **निकोलाई रेरिख़** जब 1924 में भारत आए तो हिमालय स्थित कुल्लू घाटी ने उन्हें मुग्ध कर दिया और 'उरुस्वती' नामक स्थान पर एक निजी आश्रम स्थापित किया ताकि यहाँ की रम्य धरती उन्हें नित्य प्रेरणा देती रहे। **रेरिख़** ने चित्रकला की नयी परम्परा क़ायम की। हिमालय के सम्पर्क में आध्यात्मिक अनुभूतियों की कलामय अभिव्यक्ति रंग, रेखा, गति और लय के माध्यम से चरम व्यंजना में हुई। हिमालय ही **रेरिख़** के चित्रांकन का प्रधान विषय बना। **रेरिख़** कहते थे—

'हिमालय जहाँ ऋषियों का आवास है, यहीं कृष्ण की

बाँसुरी प्रतिध्वनित है, यहीं गौतम बुद्ध ने अपने उपदेश दिए,

यहीं वेद रचे गए, यहीं आर्यावर्त था।

हिमालय—अमल धवल सुषमा का प्रसार।

हिमालय—भारत का मुकुट मणि।

हिमालय—मोक्ष का पुनीत प्रतीक।

कला की साधना, **रेरिख़** के लिए योग साधना जैसी थी अतः हिमालय में ही उन्हें सत्य की प्रतीति हुई। हिमालय के अन्तर्दर्शन ने उनकी संवेदनाओं को अनुप्राणित किया जिसने सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना को जागृत कर प्राणों में ऐसी शक्ति भर दी जो मानव मन की गूढ़ रहस्य कन्दराओं में विचरण कर सके। **रेरिख़** की चेष्टा रही—विविधता में एकता की उपलब्धि और प्राच्य एवं पाश्चात्य कलारूपों में समन्वय। उनका कहना था—

'कला में कृत्रिमता आदमी को थका देगी अतः कलाकार की कल्पना को स्पष्ट एवं रचनात्मक होना ही होगा। स्फटिक के अनेक रूप और गीत के विभिन्न शब्द समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत करते हैं और यही सृजन का मूल सिद्धान्त है।'

हिमालय के सान्निध्य में होने वाले अंतर के आलोड़न को आध्यात्मिक उपलब्धि के रूप में **रेरिख़** ने अपने चित्रण की आधार-भित्ति बनाया। उनका कथन था—'प्रकृति का रूपान्तर कलाकार अपने अन्दर ही खोजता है।' हिमालय के चित्रण को वह दृश्यजगत के परम आनन्द के रूप में लेते थे। **रेरिख़** अपनी निजी शैली में हिमालय चित्रित करते थे जो बेजोड़ है और एकरसता के आरोपों से नितान्त परे। **रेरिख़** की कृतियों में प्रकृति एक नया आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करती है। हिमाच्छादित पर्वत शिखर मनुष्य में पवित्रता और शुचिता की भावना पैदा करते हैं। हिन्दू देवताओं, प्राचीन स्लाव व रूसी संतों के चित्र मनुष्य जाति के आध्यात्मिक अन्वेषण और साधना के विविध रूप प्रस्तुत करते हैं। शिखर से जुड़ने और अपना विषय बनाने की छाया इस कविता में मिलती है—

शिखर पर

मैं एक बार फिर आवाज दूँगा
कहाँ चले गए हो तुम मुझे छोड़कर
एक बार फिर से
सुनाई नहीं पड़ रही तुम्हारी आवाज।

चट्टानों के बीच कहीं
चुप सी पड़ गयी है तुम्हारी आवाज,
अलग नहीं कर पा रहा हूँ, उसे
पतली टहनी के गिरने
और पक्षी के अचानक उड़ जाने की आवाज से।

कहीं खो गयी है

तुम्हें पुकारती मेरी आवाज।

मालूम नहीं तुम आओगे या नहीं
पर शिखर पर जाने की
बहुत इच्छा है मेरी।

पत्थर पहले ही नग्न हो चुके हैं,
मुरझा चुकी है धूपचंदन,
कठिन हो रहा है उसके लिए खड़ा रहना
और काई तो जैसे गायब हो गयी है।

मेरे काम भी आ सकती थी तुम्हारी रस्सी
पर मैं अकेला होते हुए भी चढ़ूँगा
शिखर पर

1923 में भारत आने पर **रेरिख़** हिमाच्छादित हिमालय के चुम्बकीय आकर्षण में बँध गये। बादलों की आवा-जाही ने उन उत्तुंग चोटियों को एक अलग ही स्वरूप दे दिया था जो इस दुनिया का नहीं लगता था। **रेरिख़** को अपनी कला और अध्यात्म, दोनों की प्यास बुझाने का अवसर इन्हीं शिखरों के सान्निध्य में मिला और कब इन स्वर्गीय छटा वाली चोटियों ने रेरिख़ की कला साधना को अपना केन्द्र बिन्दु बनाया, पता ही नहीं चला। हिमालय के बारे में **रेरिख़** के उदगार थे—

'ज्ञान की पराकाष्ठा हिमालय की यह ऊँचाई ही सिखात है। आलोड़न पैदा करने वाले गीत, दैवी ध्वनियाँ, अपूर्व छटा वाले रंग सब इन्हीं पर्वतों की देन हैं। सबसे ऊँचा पर्वत सबका गुरू है और उच्चतम वास्तविकता का साक्षी भी। गहरे स्पष्ट नीचे आकाश की नीरवता अपने आप में एक योग साधना जैसी है।

हिमालय की जादुई चोटियों को **रेरिख़** ने अपना प्रधान विषय बनाते हुए अलग-अलग ऋतुओं में, दिन के अलग-अलग समय में, विभिन्न प्रकाश छटाओं में चित्रित किया है। बर्फ की चादर पर हो रहे निरन्तर छाया प्रकाश के खेल को, नंगी चट्टानों को प्रातः की पहली किरण से लेकर दोपहर की पूर्ण प्रकाश छटा और डूबते सूर्य की लालिमा में रंगों ने विस्तार पाया स्लेटी 'सिलहूत' (Silhouette) की छाया में डूबते सूर्य की जलती लालिमा दूर चोटियों पर अपनी छटा बिखेरती हुई **रेरिख़** के कैनवास पर सजीव हो उठीं। पर्वत शृंखलाओं के मध्य बना **रेरिख़** का कुल्लू, आवास ही **रेरिख़** के चित्रांकन विषय का गढ़ था। खिड़कियों से दिखते चोटियों के रंग, रूप, बदलती छायायें, बादलों की आँख मिचौली **रेरिख़** को प्रेरित करते थे। ऐसा कहा जाता है कि **रेरिख़** सदैव सामने के दृश्यों का ही चित्रण नहीं करते थे अपितु छायाचित्र, रेखाचित्र तथा स्मृति के माध्यम से भी अपने विषय का निरूपण करते थे। **रेरिख़** के विशेष आलोचक 'केनेथ आर्चर' ने एक जगह स्पष्ट किया—

रेरिख़ ने बहुत सारे पहाड़ कल्पना से बनाए हैं जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है केवल उनके अन्तर्मन की उपज है। पर्वत की आत्मा को अपनी सुललित रेखाओं, सजीव रंग योजना तथा व्यक्तिगत तकनीक के माध्यम से उजागर किया है।

प्रतीक चित्रकार के रूप में **रेरिख़** ने हिमालय को ऋषियों का आवास, हिन्दुओं और बौद्धों के तीर्थ के रूप में अपनाया और हिमालय को कविता ही नहीं आस्था और विश्वास के प्रतीक रूप में चित्रित किया। **रेरिख़** के हिमालय चित्रण में मानव आकृति का अनुपात हिमालय की विशालता दर्शाता है और यह निरूपित करता है कि मानव इन उत्तुंग शिखरों के आगे अस्तित्व विहीन सा है। **रेरिख़** अक्सर हिमालय को एक भंडार के रूप में प्रेषित करते थे, विशेषता : 'कंचनजंघा को। उनका कहना था कि यह पाँच निधियों का समूह है, निश्चित ही भौतिक सम्पदा नहीं वरन समझ, सोच आत्मज्ञान आदि के रूप में। **रेरिख़** के पहले के कार्य तथा हिमालय शृंखला का चित्रण उनकी दार्शनिकता के परिप्रेक्ष्य में लिया जाना चाहिए। पर्वत समूह का जादू और कलाकार की आत्माभिव्यंजना का मिश्रण ही है। **रेरिख़** का कार्य। लियोनार्ड एन्डोन्स जैसी नामी-गिरामी आलोचक के मतानुसार—

'**रेरिख़** के चित्र देखना एक नए संसार में प्रवेश के जैसे है।'

रेरिख़ का अपना विचार था धरती की बनावट का और पर्वतों के वास्तु शिल्प का। चित्रकला के इतिहास में हिमालय का यह अभूतपूर्व चित्रण विभिन्न

आयामों में, रंगों में, आकारों में अनन्त माना जाता है। **रेरिख़** ने अन्य विषय भी चित्रित किए हैं, संत सेरजियस के चित्रण में मिला जो कैनवास पर अपनी सजीवता और सम्पन्नता से उभरी। **रेरिख़** एक ऐसे विदेशी कलाकार थे जिन्हें महानतम् भारतीय आठ कलाकारों की श्रेणी में सम्मान दिया गया।

रेरिख़ का हिमालय चित्रण अपने आप में नितान्त मौलिक है जो केवल रंग और आकार ही नहीं, छाया और प्रकाश ही नहीं, धर्म और रहस्यवाद ही नहीं वरन भारतीय आध्यात्म की प्रतिमूर्ति है। पंडित जवाहरलाल नेहरू के उद्‌गार थे—

'हिमालय के इन चित्रों को देखो तो बहुतों में मैदानी इलाके के ऊँचे स्तम्भ के रूप में ये पहाड़ सदियों से खड़े अपनी गाथा कह रहे हैं।

भारत में **रेरिख़** पर्वतराज हिमालय के पुरातन गौरव, उसके रहस्यात्मक परिवेश और उसकी प्राकृतिक भव्यता से प्रभावित हुए। उनकी हिमालय यात्रा को चीड़ के पेड़ों, लघु सरिताओं और हिमाच्छादित शाश्वत चोटियों के परे धुंधली पर्वत श्रृंखलाओं वाले सुन्दर प्रदेश नगर में परिणति प्राप्त हुई। यहाँ **निकोलाई रेरिख़** के अन्दर के कलाकार ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने और पर्वतों के रहस्यों को समझने और उनका मंथन करने के लिए वास किया। नगर के शुद्ध वातावरण में उन्होंने मानव और प्रकृति के उच्चता विषयक परस्पर सम्बन्ध का अनुभव किया और साथ ही अलौकिक शाश्वत शांति और प्रसन्नता का भी अनुभव किया। बर्नेट डी0 कनोला के शब्दों में—

वे 'पर्वतों के चित्रकार' बन गए।

हिमालय के राजसी वैभव के दिग्दर्शक उनके चित्र कालातीत संदर्भ में मानव और प्रकृति का सम्पूर्ण दृश्य प्रस्तुत करते हैं और शाश्वत शांति की ओर अभिमुख हैं। **रेरिख़** के हिमालय से सबंधित चित्रों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

मानव और पर्वतों का परस्पर संबंध अन्तर्भूत शून्य की प्राप्ति अलौकिक प्रसन्नता

रेरिख़ के चित्रों की संख्या इतनी अधिक है जो समय के एक लम्बे विस्तार में संजोयी हैं और एक सर्वमान्य धारणा है कि **रेरिख़** केवल रूस के ही नहीं अपितु विश्व के श्रेष्ठ कलाकर्मियों में से एक हैं। रूस की कोई परम्परा उनके चित्रों में परिलक्षित नहीं है, उन्होंने अपनी तकनीक विकसित की जो उनके ही नाम से जानी गयी। सर्ज अर्नस्ट ने अपने मोनोग्राफ में लिखा—

'समकालीन रूसी चित्रकला के इतिहास में **रेरिख़** की अपनी मौलिकता उनकी स्वतंत्रता की अभूतपूर्व अभिव्यक्ति है।'

यहीं पर स्पेन के चित्रकार जूलोगा ने कहा—

'महान कलाकार **रेरिख़**-रूस से निकली एक शक्ति है जो विश्व में छ गयी, अद्‌भुत और वर्णन से परे।'

यदि **रेरिख़** के चित्र पहले स्थान पर मौलिक हैं तो दूसरा गुण सार्वभौम होने का है। उनकी कलाकृतियों की भाषा वैश्विक है जो चित्रों के शीर्षक व्यक्त करते हैं—सर्वधर्म, समभाव और मानव मात्र। मध्य एशिया भ्रमण के दौरान बनाए गये चित्र विशेषतः—Saga of the East, Banners of the East Wisdom Chingizh Khan Daughters of the Earth, His Country आदि और इन्हीं श्रृंखला में रचित Fire Blossom, Chintamani, She Who Leads Burning of Darkness Mother of the World Buddha the Conqueror Signs of Christ Moses, the Leader Padma Sambhava (चित्र संख्या Muhammad on Mount Hira Confucious Nagarjuna-the conqueror of the Serpent आदि जो कलाकार के अन्तर्मन की गहरायी दर्शाते हैं। कला समीक्षकों की राय में **रेरिख़** का कार्य चौथे आयाम की उपस्थिति दर्ज़ कराता है और रंगों का आश्चर्यजनक प्रबन्धन उन्हें रंगों के सम्राट के रूप में स्थापित करता है। एक आलोचक के अनुसार—

'जहाँ कुछ कला-प्रेमियों में **रेरिख़** के चित्र अपने रंगों की व्यवस्था तथा आकृतियों के कारण श्रद्धा उत्पन्न करते हैं, वहीं औरों के लिए आंतरिक चिंतन के आधार स्वरूप बन जात हैं।' चीन के समीक्षकों का कहना था कि—'आप शब्द और छाया के सजीव चित्रण की सामर्थ्य रखते हैं।

रेरिख़ का शिल्पज्ञान भी अगाध था। नये माध्यमों

के प्रयोग से रंगों के विभिन्न सामंजस्य निकाले गये जो चित्रों में लाक्षणिकता के परिचायक हैं।

वाराणसी में राय कृष्णदास जी के उद्यम से भारत कला भवन में संग्रहीत बड़े चित्रपटों के कतिपय शीर्षक अपनी गाथा स्वयं कहते हैं—'नेता का भाग्य-नक्षत्र', 'दाता बुद्ध' 'श्री भगवान' 'चरक' 'कल्कि-अवतार' 'त्रिरत्न' 'मैत्रेय' आदि तथा हिमालय और तिब्बत के अन्यान्य दृश्य चित्र।

'दाता बुद्ध' में नीलिमा युक्त धूमिल सूर्यास्त के रंगों में भगवान बुद्ध के एक यात्री से भेंट करने का आख्यान है। 'श्री भगवान' चित्र स्वामी रामकृष्ण को समर्पित है जिसमें भगवान 'ओम' का चिह्न लेकर हिमाच्छादित गिरि शिखर से उतर कर प्रशस्त संसार की ओर जाते दर्शाए गये हैं। 'कल्कि अवतार' में हिमालय की पर्वत श्रेणी के ऊपर जाज्वल्य बादल-दल के अन्दर से उठते अवतारों की गहरे रंग में कल्पना अपनी सजीवता में है। सघन नील आभा में चित्रित 'चरक' प्रसिद्ध आयुर्वेदिक भिषक हिमालय की उच्च-भूमि में मूल्यवान जड़ी-बूटियों को एकत्र करते दर्शाए गये हैं। 'मैत्रेय' तिब्बत में ऋषि की साधनालीनता का उपाख्यान है। गहरी ताम्र आभा में चित्रित 'त्रिरत्न' घायल हिरण के ऋषि की शरण में जाने का विवरण है। इलाहाबाद में तत्कालीन म्युनिसिपल म्युज़ियम में पंडित ब्रजमोहन व्यास के प्रयत्नों से रेरिख़ दीर्घा बनी जिसमें हिमालय चित्रों की प्रधानता है जैसे 'पवित्र मेषपाल' 'शम्भाला-संदेश' 'ज्योति अंधकार पर विजय प्राप्त करती है' 'अर्हत' 'व्यास कुण्ड' 'गूगा चौहान और नरसिंह' 'मैत्रेय' 'वह जो हमें मार्ग प्रदर्शित करती है आदि।

'पवित्र मेषपाल' प्राचीन स्लैव-जातीय परंपरा के लेल का चित्रण करता है। इस स्लैव-जातीय लेल में और हमारे श्रीकृष्ण में कितना समानता है और यदि विशेष ध्यान दे कर न देखें तो लेल का चित्र श्रीकृष्ण के चित्र से अभिन्न जान पड़ेगा। सम्पूर्ण संयोजन को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया गया है। अग्रभूमि, मध्यभाग तथा पृष्ठभाग यह विभाजन ज्यामितीय रेखाओं पर आधारित है। चित्र का मध्य भाग विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जिसमें मेषपाल को बकरी और भेढ़ों के साथ प्रस्तुत किया गया है। वृक्ष, सघन वन, झाड़ियाँ आदि द्विआयामी तलों के द्वारा दर्शाये गये हैं यद्यपि पृष्ठभूमि में ऊर्ध्वचन्द्राकार स्तूप अथवा झोपड़ी त्रिआयामी प्रभाव लिए हुए अंकित है। पृष्ठभूमि में ज्यामितीय प्रभाव लिए हुए घन-मेघ चीनी प्रभाव लिए हुए ड्रैगन से प्रतीत होते हैं। बादलों में बाईं ओर वृत्ताकार चन्द्रमा अत्यंत ही रोचक लग रहा है। दृश्य में दायीं ओर दूर पर्वत शृंखलायें दर्शा कर परिप्रेक्ष्य को उजागर किया गया है जिससे रहस्यात्मकता का समावेश हो गया है। सम्पूर्ण दृश्य में एक गतिशीलता का आभास होता है। चित्र घनवाद एवं चीनी चित्रण पद्धति के प्रभाव से ओतप्रोत है।

'शम्भाला-संदेश' उपरोक्त चित्र से बिल्कुल भिन्न है। इसमें सूर्योदय के रंग मिलेंगे। एक अज्ञात दूत पहाड़ के गंभीरगर्त को पार करने वाला तीर फेंकता है और इस तीर की नोक पर संदेश लगा हुआ है तथा यह सूर्य की प्रथम किरणों से चुंबित एक पहाड़ी मठ में पहुँचता है। इस प्रकार के चित्रों का चित्रण केवल वही कर सकता है जिसने तिब्बत में स्वयं अपना समय व्यतीत किया हो और जो प्रभात का प्रेमी हो।

'ज्योति अंधकार पर विजय प्राप्त करती है' शीर्षक चित्र में एक बहुत पुराना विषय ग्रहण किया गया है अर्थात् ज्योति और तमस का द्वंद्व। इसमें ज्योति की आत्मा का साकार नेता अंधकार रूपी दानव का दमन करता हुआ दिखता गया है। चमकीला रक्तवर्ण एक महान संघर्ष का वातावरण उपस्थित करता है। रेरिख़ महोदय के अन्य अनेक चित्रों की भाँति यह लाक्षणिक है। यह चित्र गोलाकार है।

'अर्हत' का चित्र भी लाक्षणिक है। परन्तु विषय, वातावरण और रंगों का विभाग अलग है। उपरोक्त चित्र में दिखाया हुआ संघर्ष व्यतीत हो चुका है। अर्हत पर्वत की शिला पर गुफा—मुख पर आसीन एक महत्कल्पना में लीन है। दानव इसमें भी उपस्थित है। गिरिद्वार की रक्षा कर रहा है। अर्हत उसकी अवश्यम्भावी उपस्थिति का ज्ञान रखता है परन्तु वह अविचलित है। उसने प्रकाश प्राप्त कर लिया है और प्रशांत है। वह जानता है कि दानव में उसकी शांति के भंग करने की सामर्थ्य नहीं है।

रोहतंग के दुर्गम दर्रे में, महाभारत के विख्यात

15-Back Side K

संकलनकर्ता व्यास का निवास-स्थान कहा जाता है। यहीं पर चित्र में अंकित 'व्यास कुंड' है। चित्रकार इस प्रकार के पवित्र स्थलों की यात्रा में अपना बहुत समय व्यतीत करता है। इस चित्र में हिमालय की गोद में स्थित एक पुनीत और रमणीक स्थल हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया गया है।

'गूगा चौहान और नरसिंह' कुल्लू की घाटी के संरक्षक माने जाते हैं। यह वही इतिहास-प्रसिद्ध घाटी है, जिसके साथ पांडव अर्जुन तथा मनु के नाम संबद्ध हैं। इसी घाटी में चित्रकार ने, इन्हीं देवदार के वृक्षों के बीच अपने 'उरुस्वती हिमालय रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की है। यहाँ से आगे के रोहतंग दर्रे के दर्शन होते हैं और यहीं से तिब्बत में कैलाश तथा अन्य पवित्र स्थानों के लिए जाने का मार्ग है।

'मैत्रेय' कलाकार की कल्पना का एक प्रिय पात्र है। मैत्रेय के संबंध में **रेरिख़** ने कई चित्र बनाए हैं और ऐसे एक चित्र का बनारस के चित्रों के संबंध में वर्णन आ चुका है। अतिशीतल वायु के कारण हिमाच्छादित पहाड़ों के मार्गों पर, भविष्य के स्वामी ऋषि मैत्रेय की विशाल प्रतिमा प्राप्त होती है।

'वह जो मार्ग प्रदर्शित करती है' एक ऐसी देवी की कल्पना है जो यात्रियों को हिमावृत पर्वत शृंगों पर पहुँचने में मार्ग-प्रदर्शित करती है। यह चित्र भी लाक्षणिक है। हिम-नील-मिश्रित धवल रंगों में यह चित्र दिखाया गया है। पहाड़ की चट्टानें नीचे रह गई हैं। केवल प्रकाश और हिम के प्रदेश में यह देवी यात्री की सहायक बनी है। उसके हलके धूमिल वस्त्र नील-धवल हिम के बीच किंचित चमकते हैं। यद्यपि यह चित्र छोटे चित्रपट पर है, इसके चित्रण की पटुता हृदय में विशाल हिम-प्रदेश को प्रविष्ट सा करा देती है।

इन सभी चित्रों में हमें हिमालय की विशालता के साथ, उसी के समान महान खोज की कामना अंतर्निहित जान पड़ती है।

रेरिख़ के हिमालय—चित्रण के विषय में यथार्थ-रूप से यह कहा गया है आज तक संसार के किसी चित्रकार ने हिमालय का चित्रण इतनी पटुता, इतनी गहन दृष्टि और इतनी विशेषता के साथ नहीं किया है। जिस समय हम इतने विस्तृत भूखंड तथा आकाश मंडल के बहु-संख्यक चित्र देखते हैं उस समय हमारे भीतर मानो हिमालय की आत्मा प्रवेश करने लगती है और हम उसे देखते हुए तन्मय हो जाते हैं। इन विशाल प्राकृतिक दृश्यों को देखकर हमारे मन में यक्षों और किन्नरों की क्रीड़ा भूमि की सहज कल्पना जागृत होती है। इसी संबंध में श्रीयुत् असितकुमार हल्दार कहते हैं कि

"प्राची की यथार्थ कल्पना" जिसका लाक्षणिक आकार हमें विशद हिमालय में प्राप्त होता है,

वास्तव में आधुनिक जगत में श्रेष्ठतम् रचनात्मक दार्शनिक द्वारा अनुभूत हुई है वह हैं कलाकार **निकोलाई रेरिख़** जिन्होंने प्रकृति तथा मानव के गुह्य रहस्यों का सार खींच निकाला है और परदे के भीतर के अनंत जीवन को पहचाना है। उन्होंने इसी जीवन में परम आनंद प्राप्त किया—वह आनंद नहीं जो कि भौतिक वस्तुओं से प्राप्त होता है वरन् वह आनंद जो कि अनंत में स्थित है। इस प्रकार हम उन्हें उत्कृष्ट चिंतन तथा दैवी प्रेरणाओं का आगार, गहन और अपार शक्ति का केन्द्र कह सकते हैं।"

रेरिख़ महोदय के जीवन तथा उनकी कृतियों से परिचय रखने वाले इसे बिल्कुल अत्युक्ति न समझेंगे। **रेरिख़** ने एक स्थल पर लिखा है—

"यह सभी जानते हैं कि साधु लोग पहाड़ों की चोटियों पर रहते हैं। इन शृंगों पर ज्ञान की ज्योति प्राप्त होती है। उच्च शिखरों पर गुफ़ाओं में ऋषि निवास करते हैं। यहाँ से नदियों का उद्गम होता है, यहाँ अनंतकाल से हिम अपनी धवलता की रक्षा कर रहा अपनी कठिनाइयों के कारण ही पर्वत-पथ में हमें आकर्षित करते हैं। यहाँ अघटित घटित होता है। यहाँ पर मनुष्यों के विचार परंतन के चिंतन में लगते हैं।"

कलाकार के इन विचारों में ही हिमालय से अपनी असीम प्रेरणा प्राप्त करने का रहस्य प्रकट होता है।

एक लोकप्रिय कवि ने लिखा—

'पूर्व और पश्चिम कभी नहीं मिल सकते।'

रेरिख़ जो कवि भी थे, इस उक्ति से नितान्त असहमत थे। पाषाण युग की उनकी निरन्तर खोज ने

यह प्रतिपादित किया कि धरती पर असंख्य वर्षों से मानवता वास करती है, केवल समय-चक्र उसके स्वरूप को निर्धारित करता है। **रेरिख़** के चित्रकला कार्य को इसी 'नियोलिथिक संस्कृति' ने समृद्ध किया। सारा जीवन **रेरिख़** कला का ध्वज ऊँचा करते रहे पाषाणों, चट्टानों, पर्वत चोटियों के सान्निध्य में। महान 'बाइजेन्टाइन' कला महारथियों से प्रभावित **रेरिख़** के प्रारम्भिक कार्य The Daughters of the Earth The Heat of the Earth Idols of Ancient Russia The Call of the Sun प्रागैतिहासिक दास एवं पाषाण युग के साक्षी हैं। लगभग सात हज़ार कैनवासों पर विस्तृत **रेरिख़** का कार्य बाइजेन्टाइन, चर्च, फ्रेस्को तथा मूर्ति चित्रण की याद दिलाता है। 1902 से 1912 तक **रेरिख़** की बनायी रूसी चित्र शृंखला में पुरातन नगर मास्को, स्मोलेन्सक, विलना, कोवनोव, मितावा, रिगा, कजान, स्कोव, निजनीनोवगोरोड आदि का काव्यमय सौन्दर्य चित्रित हुआ है जो पहले किसी चित्रकार ने नहीं किया। इन प्रारम्भिक दौर की कृतियों में विषय और तकनीक अपनी सादगी में है और शीर्षक इनकी आध्यात्मिकता प्रस्तुत करते हैं जैसे—The Lake The Forest The White Church The Cloud A Small Town आदि। कुछ एक कैनवास धरती से परे सौन्दर्य का दिग्दर्शन कराते हैं जो प्लेटो के अनुसार—

'वह संसार जहाँ सारी आत्माओं का वास है।'

कुल मिलाकर **रेरिख़** की कला परम्परागत होते हुए भी, अपने विचारों, दर्शन और तकनीक पक्ष की सुदृढ़ता से भरपूर है।

रेरिख़ के रूसी संगीत का ज्ञान दिलचस्प है जो ऑपेरा, थियेटर, और बैले नृत्य के माध्यम से कैनवास पर उजागर हुआ जो दूसरे रूसी चित्रकारों से सर्वथा भिन्न था। रूसी जीवन इतिहास तथा कवितामय जीवन शैली की स्पष्ट छाप **रेरिख़** पर थी जो उनके चित्रों की मुख्य धारा बनी और ऑपेरा सेट के चित्रकार की हैसियत से उन्हें उच्च श्रेणी का कलाकार बनाया। **रेरिख़** की ऑपेरा की समझ, संगीतकारों के भाव, वाद्यवृंद का आलोड़न, नृत्य भंगिमाएँ, ध्वनियाँ सभी उनके रंगों और चित्र संयोजन के जैसे थे। **रेरिख़** कहते थे कि मैं अपने चित्र एक 'सिम्फनी' की भाँति ही गढ़ता हूँ। काव्यात्मक नाटिकाओं, ऑपेरा तथा बैल के लिए जो कार्य **रेरिख़** ने किया वह उनके दिलचस्प आयामों में गिना जाता है। पीछे दृष्टिपात करें तो 1900 के वसंत में सूर्य को पाषाण खण्ड अपना अभिवादन देते हुए पाषाण युग के प्रतीक से लगते हैं।

1913 में **रेरिख़** ने पहली बार पेरिस में अपना ऑपेरा सेट चित्रण प्रस्तुत किया तो मूर्धन्य कलाकारों तथा कला समीक्षकों ने उसे 'क्रान्तिकारी नवीन शैली की मंच सज्जा' का नाम दिया। आधुनिक समीक्षक यह कहने से नहीं चूके कि 1917 में पिकासो द्वारा रूसी बैले के दृश्य चित्र जैसे यह भी 'एकेडेमिक' हैं। 1913 में **रेरिख़** ने मंच सज्जा का बहुत कार्य किया। चार वर्षों बाद 1917 में पिकासो, मतीज, डीरेन द्वारा गिलोव बैले के लिए किया गया कार्य देखने के बाद **रेरिख़** ही उत्कृष्ट पाए गये।

1912 में जब **रेरिख़** ने Rite of Spring का सेट चित्रित किया तो उनकी तकनीक और सोच बहुत मँज चुकी थी और यह प्रश्न खड़ा हुआ कि क्या कोई और कलाकार भी अन्तर्मन की इतनी गहरायी से विषय को मूर्त कर सकता है। युद्ध के पहले The Call of the Sun शीर्षक चित्र, अति आधुनिक शैली में स्वतंत्र तकनीक तथा प्रकृति से भरपूर निर्मित हुआ। 1895 में जाने माने चित्रकारों का एक समूह 'एकेडेमिक' के बहिष्कार में जुटा जो कोर्बे, माने तथा सेजाँ जैसे चित्रकारों से प्रभावित थे।

रेरिख़ के 'बाइजेन्टाइन कला' से प्रारम्भिक परिचय ने उन्हें रंगों के पुरातन प्रयोगों के लिए प्रेरित किया जैसे 'पर्शियन कला' अपने वैभवपूर्ण रचना के लिए मानी जाती है। इन्हीं दुर्लभ तत्वों के आधार पर **रेरिख़** को महान दृश्य चित्रकार (Scenery Painter) के रूप में सराहा गया। **रेरिख़** 'टैगोर' और 'मैतरलिंक' जैसे कवियों की श्रेणी में गिने जाते थे जो अन्य आधुनिक मंच सज्जाकार नहीं थे और उनके पुरातत्व ज्ञान, पाषाण युग की खोजों, तथा पुरातन नगरों की जानकारी ने उन्हें निश्चित ही एक अभूतपूर्व कार्यक्षमता का कलाकार बनाया। **रेरिख़** के बहुत सारे कार्यों की प्रेरणा अपूर्व, मौलिक तथा अपरिभाषित कही जाती है।

महान संगीतकार 'बीथोवन' का कार्य मुख्यतः

15-Front Side K

तीन चरणों में विभक्त किया जाता है, वैसे ही **रेरिख़** का कार्य—प्रारम्भिक रूसी चरण, थियेटर और अन्त में एशिया चरण। **रेरिख़** के सभी चित्रांकन थियेटर तत्व से प्रभावित हैं क्योंकि वह गति (Action) में विश्वास रखते थे। उनके चित्र एक अदृश्य नाट्य से भरपूर कुछ पा जाने के लिए आतुर और भविष्य को इंतिग करते से प्रतीत होते हैं।

रेरिख़ के सूफ़ी कैनवासों की शृंखला जिनमें 'The Last Angel', 'The Cry of the Serpent', 'The Doomed City', ' The Lurid Glare' तथा 'Human Deeds' आदि 1914 के पहले चित्रित सम्भावित युद्ध की विभीषिका दर्शाते हैं। आधुनिक समीक्षकों का ध्यान इन पर नहीं गया अन्यथा वे निश्चित ही 'भविष्योद्घोषी' की संज्ञा से परिभाषित किये जाते।

लगभग सभी आधुनिक चित्रकार किन्ही विशिष्ट वातावरण, विचित्र जीवन घटनाक्रम, स्वाभावगत संवेदनाओं के प्रभाव में रहे जैसे—रेन्वाँ, सेजाँ, सेरत, मॉनेट, गागिन, वान गो, मतीज़, बोनाई, पिकासो, डीरें आदि और इनमें से कुछ महान कलाकार बहुत कम कल्पनाशील थे—उदाहरणार्थ सेजाँ अपनी प्रेरणा दूसरों के कार्य तथा मुद्रित कला विवरणिकाओं से लेते थे। परन्तु टर्नर और **रेरिख़** अति कल्पनाशील थे जिससे उनका कार्य ऐतिहासिक गुणों से भरपूर हुआ। इसी क्रम में 1900 में प्रोफ़ेसर कॉर्मन ने पेरिस की अति आधुनिक कला गति में **रेरिख़** को आधुनिकतम् ठहराया और कहा—

'हमें तुमसे सीखना चाहिए।'

रेरिख़ की मौलिक तथा अद्वितीय प्रतिभा निखर कर तब आयी जब वो अपने एशिया भ्रमण पर आये—कला की पूर्णतम अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत। **रेरिख़** एशिया किसी खोजी, आक्रमणकर्ता या घुसपैठिया जैसे नहीं आए थे वरन एक लामा की तरह ज्ञान पिपासा में जिन्हें अपने देश वापस लौट जाना था। एशिया को पार करने के दौरान **रेरिख़** को अपार विषय सम्पदा के दर्शन हुए जो बहुत कम कलाकार ही देख पाते हैं।

प्रथम दृष्टि में ही पर्वतमालाओं की छवि **रेरिख़** को किसी 'थिएटर' जैसी ही लगी। शुद्ध एवं पवित्र वातावरण में बहुत पास से अध्ययन किए गए रंग अपने आप में अनोखे बन पड़े। एक ही निगाह में **रेरिख़** के कार्य मूल्यांकित नहीं किए जा सकते वह केवल एक रंग योजना के तहत बनाए मूर्त संयोजन मात्र नहीं। **रेरिख़** को समझने के लिए उनके कार्य को गहरायी से विश्लेषित करना होगा तभी न्यायसंगत तथ्य उभर कर आ पाएँगे। कलाकार हेनरी मतीज को 37 वर्ष लगे कला की पूरी ऊँचाई छूने में वैसे ही **रेरिख़** का कार्य समझने में उतना ही समय चाहिए जिनके अपने बहुत से आयाम और कारण हैं। कहा जाता है कि—महान कलाकारों जैसे बीथवर, मौसोरग्सकी, टर्नर, टीटियन, **रेरिख़** आदि ने अपनी अप्रतिम् कृतियाँ पीछे न छोड़ी होतीं तो जीवन नितान्त अधूरा ही रहता।

तिब्बत की विशालतम उपत्यका में खड़े दो विशाल पर्वत बोधिसत्व और शिव के प्रतीक रूप में चित्रित किये गये हैं। प्रकाश पुंज से वेष्ठित आकृतियाँ गति से भरपूर और ओजपूर्ण बन पड़ी हैं। **रेरिख़** के कार्य में पत्थरों और चट्टानों का समावेश किसी से भी नहीं छूट सकता। **रेरिख़** ब्रह्मवाद विषयक महान चित्रकार (Theosophical Painter) कहे जाते हैं जो भ्रामक है। ब्रह्मवाद का आधार धूम्र जैसा आकाररहित कहा जाता है परन्तु **रेरिख़** के चित्र एक ठोस, चौकोर नींव पर खड़े हैं। ब्रह्मवादी साहित्य पढ़ना तथा चित्रांकन दो नितान्त भिन्न विधाएँ हैं।

हिमालय अपनी विशालता से मानव जाति की क्षुद्र धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक सोचों से कहीं ऊपर है इसीलिए विचारों और कला में सार्वभौमिक तत्व लिए हैं। अर्वाचीन भारत के कवि, साहित्यकार, दृष्टा इन्हीं असीमित विचारों के थे कि हिमालय की दैवी सम्पदा अक्षुण्ण, अपरिमाणित और स्थायी है।

रेरिख़ का दृष्टिकोण किसी भी संकुचित दायरे के बाहर था—धर्म, दर्शन, राजनीति से परे केवल धरती को धरती और आकाश को आकाश समझ कर।

इसी से वह हिमालय के अप्रतिम् चित्रकार परिभाषित हुए।

काशी की लोक कला

(मृण्मूर्ति एवं काष्ठ कला के संदर्भ में)

डॉ. रंजना मालवीय

प्रा0भा0ई0सं0 एवम् पुरातत्व विभाग, आर्य महिला पी0जी0 कॉलेज,वाराणसी

'लोक कला' का आरम्भ कब और कैसे हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, पर यह सर्वविदित है कि कलाएं नियम, शर्तों की अपेक्षा परम्पराओं में जीति हैं। इनका स्रोत है प्रकृति और अलौकिक शक्तियां जो मानव मन में स्वतः जन्म लेती हैं और विकसित होती हैं। इनका घर है गांव, जहां हमारी पीढ़ी दर पीढ़ी ने जीवन बिताया। ग्राम्य वासियों के कार्य करने की अपनी कलात्मक रीति रही है। गृह निर्माण, छप्पर बनाने, मिट्टी की मूर्तियों एवं बर्तन, लकड़ी के समान, चारपाई बुनने टोकरी बनाने आदि में सर्वत्र लोक कला का अद्भूत परिचय मिलता है। भारतीय लोक कला जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त है। भारतीय संस्कृति एवं कला में काशी की लोक कला का विशिष्ट स्थान हैं।

लोक कला के अन्तर्गत मृण्मूर्तियों की प्राचीनता प्रागैतिहासिक काल तक जाती है। हड़प्पा संस्कृति से प्राप्त मृण्मूर्तियों के उदाहरण भारतीय मृण्मूर्तिकला के प्राचीनतम साक्ष्य हैं। हड़प्पा युग के पश्चात् एवं मौर्यकाल के पूर्व की मूर्तिकला मात्र साहित्य में सुरक्षित है। साहित्य में सर्व प्राचीन उल्लेख महाकाव्य महाभारत में प्राप्त है जहां शिष्य एकलव्य ने गुरू द्रोणाचार्य की प्रतिकृति बनाया था।[1] मद्रदेश का राजकुमार अश्वपति बचपन में मिट्टी के घोड़े बनाकर उनसे खेलता था।[2] मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा की मिट्टी की मूर्ति का उल्लेख है जैसी अभी तक नवरात्र के समय बनायी जाती है।[3] गुप्तकाल तक मृण्मूर्तिकला लोक समाज में अत्यधिक लोकप्रिय हो गयी थी।

काशी विश्व की प्राचीनतम नगरियों में से एक है, जिसकी लगभग 3000 वर्षो की जीवित परम्परा है। परन्तु ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में काशी की प्राचीनता लगभग 1000 ई0पू0 तक जाती है। काशी प्राचीनकाल में एक जनपद के रूप में विख्यात था और वाराणसी इसकी राजधानी थी। कालान्तर में लौकिक व्यवहार के कारण काशी और वाराणसी नामकरण समान अर्थ में प्रयोग होने लगा। काशी में नगर एवं ग्राम दोनों आते हैं। जहां लोक कला का अपना विशेष स्थान एवं महत्व रहा है। काशी में लोक कला की कई विधाएं जैसे- मृण्कला, धातुकला, काष्ठ कला, भित्ति चित्रकला प्रचलित रही है। इनमें मृणमूर्ति, मृण्पात्र एवं काष्ठ निर्मित सामग्रियों का विशिष्ट स्थान है।

मृण्मूर्तियों को दो वर्गो में रखा गया है एक-पकायी गयी मिट्टी से बनी मूर्तियां दूसरी-बिना पकी मिट्टी से बनी मूर्तियां। प्रथम वर्ग में वे मूर्तियां आती हैं जिन्हें अग्नि में पकाकर बनाया जाता है इनमें मुख्य रूप से खिलौने, सजावटी वस्तुएं, ईंटे, पशु-पक्षियों की मूर्तियां आती है दूसरे वर्ग में मुख्य रूप से देवी-देवताओं की मूर्तियों तथा धार्मिक कार्यो में प्रयुक्त होने वाली सामग्रियां आती हैं। निर्माण की दृष्टि से मृण्मूर्तिकला में दो शैलियां मिलती हैं। प्रथम-हाथ से डौलिया बनाकर बनायी गयी मूर्तियां जिन्हें विभिन्न पर्व, त्योहार, मेले आदि के अवसर पर घरेलू महिलाएं बनाती हैं। सैन्धव संस्कृति से प्राप्त मृण्मूर्तियां इसी रीति से बनायी गयी थी। द्वितीय-सांचे से ढली सुडौल गठन वाली मूर्तियां। ये कुशल कलाकार द्वारा बनायी जाती हैं। वाराणसी में ये कलाकार स्थानीय भाषा में 'कोहार' कहे जाते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ 'कुम्भकार' होता है।

काशी की कलात्मक सम्पदा अति प्राचीन होने के साथ-साथ बहुआयामी और समृद्ध है। प्राचीन काल में वाराणसी का राजघाट क्षेत्र मृण्मूर्तिकला का प्रसिद्ध केन्द्र था। यहां से प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्य मृण्मूर्तिकला की लोकप्रियता एवं निरन्तरता को प्रमाणित करते हैं। राजघाट से 800 ई0पू0 के प्राचीन मृद्भाण्डों का भण्डार प्राप्त हुआ है। 600 से 400 ई0पू0 के मध्य निर्मित मिट्टी की बनी अन्य

कई वस्तुएं मिली हैं। 400 ई0पू0 के प्राप्त साक्ष्य चमकदार ओपयुक्त हैं। गुप्तकाल की मृण्मूर्तियां भी बहुसंख्यक मिली हैं जिनमें झूला-झूलती स्त्री, अर्द्धचन्द्र धारण किये भव्य एवं प्रभावपूर्ण शिव का मस्तक, चक्र, गदा लिये, वनमाला पहने विष्णु तथा मृदंग बजाते हुए युवक की आकृति है जो अपने कला-सौन्दर्य में उत्कृष्ट है। डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल ने झूला-झूलती स्त्री को अजन्ता के नारी चित्रों के समकक्ष कहा है। राजघाट से प्राप्त उपरोक्त मूर्तियों के अध्ययन से पता चलता है कि इन्हे आँवे में पकाने के बाद विभिन्न रंगो से रंगा गया था। काशी में आज भी मिट्टी की मूर्तियां बनाने की यह विधि प्रचलित है।

काशी के लोक-कलाकारों द्वारा निर्मित मृण्मूर्तिकयां दो प्रकार की हैं। प्रथम प्रकार में धार्मिक मूर्तियां तथा दूसरे प्रकार में लौकिक मूर्तियां आती हैं। इनमें पशु-पक्षी, बच्चो के खिलौने, विभिन्न प्रकार की मानव-आकृतियां तथा अलंकरण हैं। इसके अतिरिक्त दैनिक उपयोग में आने वाले मिट्टी के बर्तन जैसे- घड़े, सुराही, कटोरे, परई तथा टोंटी वाले बर्तन आदि हैं।

काशी में लोक संस्कृति से जुड़ें विविध पर्व, मेला उत्सव, महोत्सव आदि की परम्पराएं प्राचीन काल से चली आ रही हैं। इनके साथ मृण्मूर्तिकला का घनिष्ट सम्बन्ध है। मेलों में नवरात्रि, सोरहिया, नागनथैया, विविध पर्वों में बसंत पंचमी, कृष्ण-जन्माष्टमी, गणेश-चतुर्थी, तीज, शिवरात्रि तथा दीपावली आदि के अवसर पर सम्बन्धित देवी-देवताओं की छोटी-बड़ी सुन्दर मूर्तियों के निर्माण की परम्परा है। कलाकार समाज के प्रत्येक वर्ग की मांग के अनुरूप इन मृण्मूर्तियों को बनाता है। ये सजीवता एवं सौन्दर्य में प्रस्तरमूर्ति के गुणों का साम्य प्रस्तुत करती हैं बड़े आकार की मूर्तियां जैसे- दुर्गा, काली, शिव, सरस्वती, लक्ष्मी, गणेश, विश्वकर्मा आदि की आकृतियों के ढांचे बांस तथा लकड़ी की बल्ली के आधार पर तैयार होते हैं। पुआल की सहायता से मूर्ति के जड़, हाथ तथा पैर को तैयार किया जाता है। तत्पश्चात् इसे मिट्टी से आवर्त्त करते हैं। यह कार्य तीन स्तर में होता है। मिट्टी की प्रथम तह लगाकर उसे सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है। सुखने पर जहां-जहां मिट्टी फट जाती है वहां पुनः मिट्टी की दूसरी तह लगाते हैं। यह मिट्टी बालू मिली होती है। तृतीय स्तर में पटसन मिश्रित मिट्टी को मूर्ति पर भलीभांति लगाकर उसे पूर्ण चिकना किया जाता है। आकृति के छोटे-छोटे अंगों को सांचे में बनाकर मूर्ति में संलग्न करते हैं। इसके बाद मूर्ति को रंगा जाता है। पूर्ण रूपेण रंग योजना समाप्त हाने पर मूर्ति को वस्त्राभूषणों, छद्यकेशगुच्छ से पूर्ण सौन्दर्य प्रदान किया जाता है।[4]

छोटे आकार की मिट्टी की मूर्तियां कभी हाथ से डौलियाकार तो कभी सांचे से बनायी जाती है। कभी-कभी सम्पूर्ण मूर्ति के अंग सांचे से बनाकर आपस में जोड़ दिये जाते हैं तो कभी केवल मुख सांचे से बनाते हैं। मूर्तियों को बनाने के लिए बालू कंकड़-पत्थर से रहित पानी में भीगी हुई ऐसी मिट्टी का प्रयोग किया जाता है, जो अधिक से अधिक चिकनी हो। जिससे उसे गूँथ कर उसकी पट्टी बनायें तो वह टूटे नहीं। छोटे आकार की मूर्तियां बनाने के लिए मिट्टी में रूई मिलायी जाती है तथा बड़े आकार की मूर्तियों के लिए मिट्टी में धान की भूसी मिलायी जाती हैं। मूर्तियों की आकृति बन जाने के बाद उसे आँवे में पकाते हैं। इन्हें पकाते समय विशेष सावधानी रखी जाती है क्योंकि यदि ये अधिक देर तक या अधिक तापमान में पकायी गयीं तो इन पर काले धब्बे पड़ जाते हैं। ये सामान्यतया चार से पाँच घण्टे में पक जाती है। पकने के बाद हल्की लालिमा युक्त होती है। मूर्तियों को पकाने के बाद उन्हें रंगा जाता है। सर्वप्रथम मूर्तियों पर सफेद रंग का लेप चढ़ाते हैं। तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार मनमोहक विभिन्न रंगों का प्रयोग किया जाता है। वाराणसी में दीपावली पर मिट्टी से बने गणेश-लक्ष्मी के पूजन की विशेष परम्परा है। इस समय गणेश-लक्ष्मी की मूर्ति को परम्परानुसार सिन्दूरी रंग से रंगा जाता है। सिर पर मुकूट, आयुध तथा आभूषण सुनहले या रूपहले रंग से दर्शाये जाते हैं। रंगने के लिए सुनहला या रूपहला रंग को तारपीन के तेल में मिलाकर प्रयोग में लाया जाता है। मिट्टी के बर्तन जैसे- कड़े, परई, टोंटीदार बर्तन, पोधारोपण के लिए गमला आदि गेरू से रंगे जाते हैं।

वाराणसी नगर में देवनाथपुरा, सोनारपुरा मुहल्ले वृहदाकार की मूर्तियां निर्माण के लिए मुख्य हैं तो लक्ष्मी कुण्ड, लल्लापुरा, औरंगाबाद, कन्दवाँ तथा बजरडीहा छीटी मूर्तियों के प्रमुख केन्द्र हैं। मिट्टी के बर्तन खुर्सीपुर, लल्लापुरा, लठिया, भट्टी, करौता, शिवपुर तथा हरहुआ आदि स्थलों पर विशेष रूप से बनाये जाते हैं। यहाँ से यह सम्पूर्ण नगर में बिक्री के लिये ले जाये जाते हैं। छोटी-बड़ी सुन्दर मृण्मूर्तियां काशी ही नहीं आस-पास के क्षेत्रों में भी लोकप्रिय

हैं। लोग इन्हें बड़े चाव से खरीदते हैं। हल्की होने से ये एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में सुविधाजनक होती है।

जहां तक लोक कला के काष्ठ शिल्प कला का सम्बन्ध है महाजनपद युग से ही काशी में लकड़ी के खिलौने बनने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। जातकों में वर्णन मिलता है कि वाराणसी से थोड़ी दूर पर हजार परिवारों वाला बढ़इयों का एक महाग्राम था। यहां के बढ़ई चारपाई, पीढ़ा तथा घर बनाते थे। इससे अनुमान होता है कि विभिन्न वस्तुओं को बनाने के लिए बढ़ईयों का अलग-अलग वर्ग रहा होगा और वे वस्तु विशेष बनाने में कुशल रहे होंगे। इसी प्रकार का वर्णन अलीनचित जातक में मिलता है जहाँ वाराणसी के एक बढ़ई ग्राम का उल्लेख है। इस ग्राम के बढ़ई वनों से लकड़ियां काटकर एक तल्ले का मकान बनाते थे, वे लकड़ियों पर चिन्ह लगाकर नौका द्वारा नगर में लाते तथा वहां इच्छानुसार वस्तुएँ बनाकर कार्षापण प्राप्त करते थे।[5] इस प्रकार प्राचीन काल से ही वाराणसी में काष्ठ कला के प्रचलन का ज्ञान होता है। परन्तु धातु से निर्मित वस्तुओं के सदृश स्थायी न होने के कारण काष्ठ कला का प्राचीन प्रमाण प्राप्त नहीं है। पर काशी का काष्ठ कला उद्योग विशेष रूप से लकड़ी के खिलौने के उद्योग का आज भी अपनी एक अलग पहचान है, जो अपनी उत्कृष्ठ कलाकारी एवं सुन्दर रंगाई के लिए प्रसिद्ध है। लकड़ी के खिलौने दो प्राकर से बनाये जाते हैं-गढ़कर एवं खरादकर। गढ़कर बनाये गये खिलौने में पशु-पक्षी एवं मानव आकृतियां प्रमुख हैं। पशुओं में गाय, बैल ऊंट, हाथी, घोड़ा तथा हिरण है। मानव आकृतियों में देवी-देवताओं, पुलिस एवं बैण्ड-पार्टी की आकृतियां मुख्य रूप से बनायी जाती है। खरादकर बनाये गये खिलौने अधिकांशतया गोल आकार के होते हैं। इनमें बच्चों के खिलौने चौका, बेलन, लट्टू, फिरंगी तथा सिंघोरा आदि प्रमुख है। आज कुछ खिलौने जैसे-बच्चों की गाड़ी, टिक-टिक मिश्रित पद्धति से बनाए जाते हैं। वर्तमान समय में काशी के काष्ठ कलाकार 300 से अधिक प्रकार के खिलौने बनाते हैं जो देश-विदेश के बाजारों में बिकते हैं। काष्ठ निर्मित रशियन डॉल की मांग रूस, कनाडा, अमेरिका आदि देशों में अत्यधिक हैं। इसके साथ ही लकड़ी की माला, चुड़िया, रिस्ट बैण्ड, लॉकेट आदि की मांग है। बुर्के वाली गुड़िया तथा दाढ़ी वाले गुड्डे अरब देश में लोकप्रिय है।

मृण्मूर्ति एवं काष्ठ कला के लोक कलाकारों ने यह कला किसी विद्यालय या शिल्पशाला से नहीं प्राप्त की है। इसे उन्होंने अपने पूर्वजों से विरासत में प्राप्त की है। इस कला से कलाकार का सम्पूर्ण परिवार जुड़ा रहता है। घर की महिलाएं काष्ठ या मूर्तिकला निर्माण के विभिन्न स्तरों पर पुरूषों की सहायता करती हैं। आज काष्ठ शिल्प उद्योग के सामने कई समस्याएं हैं। सबसे बड़ी समस्या उचित मात्रा में लकड़ी का न मिल पाना हैं जिससे काष्ठ उद्योग प्रभावित हुआ है। दूसरे कारीगर बड़े परिश्रम से विभिन्न वस्तुएं बनाते हैं पर उसका अधिकांश लाभ बिचौलिये व्यापारी ले लेते हैं, उन्हें तो अपने काम का उचित पारिश्रमिक भी नहीं मिल पाता। अतः अधिकांश शिल्पी धन के अभाव में जीते हैं। आधुनिक व्यावसायिक प्रणाली से अनभिज्ञ होने के कारण वे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मशीन द्वारा बने उत्पादों से प्रतिस्पर्धा में पिछड़ रहे हैं।

आज लोक संस्कृति, लोक शिल्प एवं लोककला पारम्परिकता से व्यावसायिकता की ओर अग्रसर होने के कारण लुप्त होती जा रही है। पर काशी अंचल में अब भी जीवंत रूप में मिलती हैं। ऐसे में इसका संरक्षण एवं संवर्द्धन अति आवश्यक है। इसके लिये प्रशासन एवं स्वयं सेवी संस्थाओं को आगे आकर शिल्पकारों की सहायता एवं उनकी समस्याओं को दूर करने का प्रयास करना चाहिए तथा काशी में आने-वाले देशी-विदेशी पर्यटक, जो यहां से स्मृति स्वरूप अपने साथ पारंपरिक कलाकृतियां ले जाना चाहते हैं उनके रूचि को ध्यान में रखते हुए कलाकारों द्वारा हस्तनिर्मित कलाकृतियों को होटलों, इम्पोरियम तथा मॉल में रखा जाना चाहिए। ऐसा करने से जहां कलाकृति निर्माता लाभान्वित होगा वहीं दूसरी ओर हमारी पारम्परिक मृण्मूर्ति कला एवं काष्ठ कला संरक्षित एवं उत्तरोत्तर विकसित होगी।

सन्दर्भ

1. वनपर्व, 278, 13,
2. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी 1966, पृ. 321,
3. मार्कण्डेयपुराण दुर्गासप्तशती, 13, 10
4. संस्कृति सन्धान, भाग-20
5. तिवारी , उ0रा0 एवं पाण्डेय, आ0, वाराणसी की काष्ठ कला-एक संदर्भ परक अध्ययन, संस्कृति सन्धान, भाग-24

ग्राम्य लोककला के परिप्रेक्ष्य में चित्रकला की भूमिका

किरन मिश्रा

शोध छात्रा, व्यवसायिक एवं दृश्यकला विभाग, महात्मा गाधीं चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट सतना, (म0प्र0)

कला भावों की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य सृजन के माध्यम से रस के स्त्रोत तक पहुँचने का मार्ग कला की साधना माना गया है। कला मन में पापवृत्तियों को बढ़ाने के लिए नहीं है, अपितु मन की वृत्तियों को कलुष से खींच कर चैतन्य और आनन्दमय स्थिति की ओर ले जाने के लिए हैं। कला के सौन्दर्य अथवा श्री ''शोभा'' साकार करने का माध्यम माना गया हैं। जैसा कि ''प्लेटो'' ने कहा है - ''कला सत्य रूप की अनुकृति की अनुकृति है'' और ''हीगल'' का मानना है- ''कला'' आदि भौतिक सत्ता के अभिव्यक्ति करने का माध्यम है'' इसी प्रकार कुछ जैन ग्रन्थों में 64 अथवा 72 कलाओं के नाम दिये गये दिये गये तथा शुक्र नीति और तंत्र ग्रन्थों में 84 कलाओं का उल्लेख किया गया है। ''विष्णुधर्मोत्तर पुराण'' के तृतीय खण्ड का श्लोक चित्रकला के सन्दर्भ में है।

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामोक्षदम्।

मंगल्यं प्रथमं चैतद् गृहं यत्र प्रतिष्ठितम्

अर्थात कला में चित्र रचना श्रेष्ठ है और यह धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष प्रदायक है, इसके सृजन का उद्देश्य घर में मंगल भावना का संचार करना है। और कला के सौन्दर्य बोध से सब कुछ संभव है।

लोक कला का परिचय - लोक कला तो ओजस्विनी लोक कल्याणी भागीरथी है लोक कला मनुष्य की अन्तः प्रेरणा का सत्य तथा नैसर्गिक प्रस्फुटन है अपने चारों ओर सभी कुछ सौन्दर्यमय देखने की कामना ने ही प्रत्येक उपयोगी वस्तु को रमणीय तथा शोभायुक्त बनाने की प्रेरणा दी है वही संस्कार सामान्य जन तक आते-आते सरलीकृत होकर लोक कला के रूप में सामाजिक परम्परा में स्थाई होते चले गये। अंग्रजी में फोक (FOLK) शब्द का अर्थ एक स्थान पर रहने वाले मानव समूह से है, और 'फोक आर्ट' का अर्थ उस समूह की परम्परागत कला से लगाया जाता है, तथा इसका सम्बन्ध कृषकों की कला से है, अतः 'फोक' शब्द का अर्थ कृषक समुदाय से ही लिया जाता है। हिन्दी में इसके हेतु 'लोक' शब्द का प्रयोग होता है।

लोक कला, लोक की कला है। वह जन-जीवन में इस प्रकार गुंथी हुई है कि उसे पृथक करके देखने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वर्ह सार्वभौमिक और सार्वकालिक है, लोक कला किसी आश्रय या आलंम्बन से दूर, स्वच्छंद, अपनी स्वाभाविक गति से समय के साथ उसकी मान्यताओं के अनुरूप स्वयं आगे बढ़ती रही है। यदि लोक कला के तत्व को भारतीय चित्रकला में से निकाल दिया जाए तो वह निष्प्राण सी प्रतीत होने लगेगी।

लोक की अंतर्धारा विस्तार-प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय चित्रकला में लोक कलायें शैवे-शैवे परम्पराओं को आगे बढ़ातें हुए चलती आ रही है। आदि काल से ही मानव अपने हृदय की भावनाओं को रंग और रेखा का आकार देकर उसे अभिव्यक्ति किया। लोक कला में ग्रामीण मानस अपने मौलिक प्रयोगों सरल विधियों के साथ परम्परागत उत्तराधिकार

को प्रस्तुत करता आ रहा है। जन्म से लेकर मरण तक साथ देने वाली लोक कला का मूल्यांकन कर पाना आसान नहीं है।

ग्राम्य लोक कलायें परम्परागत विश्वासों, धारणाओं, संकेतों और अतीत की प्रेरणा पर आधारित सामाजिक, रीति-रिवाजों को प्रदर्शित करती आ रही है। समाज में धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित सभी का लोक चित्रकला पर समान रूप से अधिकार रहा है। यह लोक चेतना को व्यक्त करने का सरल माध्यम है। लोक कलाओं में चित्रकला का स्थान है, तथा इसका उल्लेख वेद, पुराण, जैन, बौद्ध साहित्य, रामायण, महाभारत आदि प्रमाणिक ग्रन्थों में उपलब्ध है।

ग्रामीण लोक चित्रकला का उद्देश्य -

- ग्रामीण लोककलाओं के निहित जनभावनाओं की खोज।
- लोक कला में सन्निहित मान्यताओं एवं परम्पराओं का अध्ययन।
- लोक कलाओं के मध्य चित्रकला के महत्व का अध्ययन।
- ग्रामीण लोक चित्रकला के द्वारा सांस्कृतिक एकता का अध्ययन।

ग्रामीण लोक चित्रकला के विभिन्न सृजन स्रोत- ग्रामीण जन जो भी कार्य करता है उसे वह कलात्मक नीति से सम्पादित करता है। ग्रामीण अंचल लोककला में चित्रकला मनुष्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का सहज अनगढ़ रूप होने के कारण आशा, आकांक्षा, आनन्द, उत्साह, उल्लास आदि मंगलमयी भावनाओं से ओत-प्रोत होती है, शास्त्रीय कला के विधान बन्धनों से प्रायः ग्रामीण चित्रकला मुख्य होती है ग्रामीण लोककला की उत्पत्ति धार्मिक भावनाओं, अन्धविश्वासों, भय निवारण, अंलकरण प्रवृत्ति, स्वान्त सुखाय तथा जातिगत भावनाओं की रक्षा के विचार से हुई।

ग्रामीण लोककला में धार्मिक अनुष्ठान होते रहते है, जिनका आदि रूप किसी तन्त्र/जादू टोने अथवा कथानक से जुड़ा होता है, धार्मिक कला, विकास का प्रतीक तथा उदात्त होती है। ग्रामीण लोक-चित्रकला पूर्णतया काल्पनिक होती है जो रचनाकार बनाने वाले की आत्मानुभूति पर निर्भर होती है। रचनात्मक कल्पना उसे आनन्दित करती है, चित्र की रेखायें, माध्यम, रंग व आकृति उसकी अपनी होती है। अपनी परम्पराओं, विश्वास और संस्कृति की रक्षा का लोक-भाव भी उसमें सम्मिलित होता है ऐसी स्थिति आत्म संतुष्टि से उत्पन्न होती है-सत्य व निष्ठा, जो ज्ञान की पृष्ठ भूमि है। ग्रामीण लोक कला के रूप में निहित चित्रकला सम्पूर्ण राष्ट्र में विभिन्न रूपों में बिखरी है, किन्तु उसका मूल-भाव एक ही है। प्रत्येक पर्व, त्यौहार और उत्सव पर लोककला के प्रतीक चित्रित किये जाते है, ऋतु परिवर्तन पर भी त्यौहार मनाये जाते है। ग्रामीण लोक चित्रकला में मिट्टी, खड़िया, गेरू, कोयला, चावल, आटा जो भी मिला उसका प्रयोग किया गया लेकिन वास्तव में विकास की धारा में बहते हुए उसने ही खड़िया और गेरू को पीस कर फूल-पत्तियों में से रंग निचोड़कर चावल, हल्दी का लेप बनाकर उपयोग किया गया। शिलाखण्ड और गुफाओं के स्थान पर घर आंगन तथा द्वार-दरवाजें सजायें होंगे, और इससे भी दो कदम आगे बढ़कर उस लोक कलाकार ने लाल-लाल मेहंदी से किसी के गोरे-गोरे हाथ रचे होंगे, लाल महावर से सलोने-सलोने पैर रंगे होंगे, कोमल-कोमल कपोलों पर और प्यारे-प्यारे ललाट पर मरवट आंक दी होगीं और फिर माथे पर एक बिंदिया जड़ दी होगी। भारतीय संमाज में विभिन्नता के साथ ग्रामीण लोककला में कोई भिन्नता नहीं है, **महाराष्ट्र** की 'रंगोली', **गुजरात** व **हिमांचल प्रदेश** की 'आपना' **बिहार** की 'अहपन' **भोजपुरी अंचल** की 'थापा' सभी में एक ही है। किसी भी प्रदेश के किसी भी अंचल की कला क्यों न हो, सभी में सतिए (स्वस्तिक), शंख, चक्र, कमल, कलश, मंगल घट, वृक्ष, बेल लताएं, दीपक, चाँद, सूरज, ग्रह, नक्षत्र आदि मंगल सूचक प्रतीक-चित्र, सास-ससुर, जेठ-जिठानी, देवर-देवरानी, भाई-बहन, बाल-बच्चे, कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस आदि पारिवारिक तथा हाट-घाट, अटा-अटारी, चक्की-चूल्हे, जैसे नित्य प्रति जीवन के प्रतीक चित्र सर्वत्र मिलेगें, जो नारी वर्ग की अभिरूचियों और उनके जीवन जगत के निकटवर्ती

है। ये प्रतीक सामाजिक, धार्मिक और रीति-रिवाज के लोकाचार का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ग्रामीण लोक चित्रकला के अन्तर्गत बंगाल में पट चित्र, मिट्टी के बर्तनों के 'आलेखन' और 'अल्पना' की कला सुप्रसिद्ध है, अल्पना में फूल पत्तियों से रंग निचोड़ कर देहरी, दरवाजों, आंगन और फर्श पर रोज बनाई जाती है। **महाराष्ट्र** में सफेद पत्थर को तपाया जाता है फिर चूरा करके रंगों में मिलाकर रंगोली रची जाती है। **गुजरात** में भी रंगोली 'कलोटी' के रूप में बनाई जाती है, यहाँ बांस का स्टेंसिल करके छेदों से चूने या रंग के छनने से सुदर आलेखन बनते है। राजस्थान में दरवाजों या दीवारों पर मांडणों, दरवाजों और भित्तियों पर गणेश जी, हाथी-घोड़े, चौकीदार और सारस के जोड़ों के चित्रों तथा हाथों की मेहंदी बनाई जाती है। मांडणा प्रायः खड़िया से माड़ा जाता है। उत्तर प्रदेश में चौक पूरना और सांझी प्रचलित है।

भोजपुर ग्रामीण अंचल व अवध अंचल में जमीन पर चहुंका चित्रकला में जमीन पर 'चौका' एवं दीवालों पर अंकित ठापा 'कोहबर; की चकई-चकवा, पुरइन, बसवार, हंसा-हंसिन, मोर, सुग्गा, मैना, गाय, बछवा, पान-फल, केला, इमली आम आदि के चित्र बनाये जाते है। हल्दी व चावल से दीवाल पर कोहबर लिखते है, चैत्र एवं सावन की शुक्ल पक्ष सप्तमी को हल्दी चावल के घोल से दीवालों पर हाथ से थापे लगाये जाते है, जिसे "शीतला थापा" कहते है, यहाँ पर गोदना, गोदाना भी लोक चित्रकला है।

गांवों में बहुप्रचलित अहोई आठे के वृत के अवसर पर दीवाल पर बनाये गये चित्र में पुत्र के दीर्घ जीवन की कामना का अनुष्ठान है। बुन्देल खण्ड ग्रामीण अंचल की चित्रकला में कृष्ण जन्माष्टमी के भीति बपत चित्र का निर्माण होता है। विवाह के समय घरों में गणेश जी, मंगल कलस धारण किये ग्वालिने, रामसीता के परिणय का अंकलन, जयमाल का दृश्य आदि का चित्रण है। इसके साथ ही मुख्यतः गोदना गयारस का लिखना मृतिका पत्रों पर आलेख, 'सॉझा चौक' और विवाह पर खम्भे में चित्रण करते है। बघेलखण्ड में दीवारों पर भूमि पर सुभि चित्रण कार्य होता है। अल्पना के रूप में कोंडर प्रचलित है, "दुवारी दुल्हा देव" के चित्र बघेलखण्ड में बनाये जाते है सभी गांव में 'कोहबर' 'नागपंचमी' के अवसर पर सिंदूर से नागों के चित्र कुरेहे जाते है। यहाँ 'देव प्रबोधनी एकादशी' में कृषक के उपयोगी सामग्रियों के तिलंगा बना पूजा जाता है जिसे 'डिठवन' के नाम से जानते है। चित्रकूट अंचल में 'महबुलिया' से लोक कला का परिचय मिलता है। इस प्रकार ग्रामीण लोक चित्रकलायें सार्वभौमिक और सार्वकालिक है।

ग्रामीण लोक चित्र कलाएं बहुउपयोगी-

मनोविनोदार्थ शारीरिक सौन्द्रर्य वृद्धि आदि के हेतु भी कुछ कलाएं कलात्मक साज-सज्जा के लिए माड़ी जाती हैं। पैरों में अलक्तक "आलता", पुष्पाभरण अनेक खेल सम्बन्धी उपकरण जैसे- सांक्षी, झांझी, टेसू, गुड़िया, कठपुतली आदि वस्तुएं मनोरंजन के लिए तैयार की जाती है। उपयोगितावादी लोक चित्रकला में दैनिक उपयोग की वस्तुओं को ही आंलकृत किया जाता है। दरवालें, पलंग, झूला, पालना, बर्तन पर आदि पर कलात्मक अलंकरण रहता है। व्यक्तिवादी चित्रकला के अन्तर्गत शरीर के गोदने की आकृतियाँ व्यक्तिगत होती है।

विशेषतायें - ग्राम्य लोक चित्रकला के रूप में अनजाने ही परम्परओं को पोषित करती आ रही है। यह निम्न विशेषताये दृष्टिगत है।

- ग्रामीण चित्रकला में मूलभूत आपूर्ति को अत्यन्त सीधे ढंग से चित्रित किया जाता है।
- ग्रामीण चित्रकला में मन की उन्मुक्ता तथा उल्लास का प्रतिबिम्ब प्रतीकों के माध्यम से देखने को मिलता है।
- ग्रामीण चित्रकला के आकार सरल एवं वेगवान होते है, उनके पीछे पवित्रता तथा उल्लास की भावना होती है।
- ग्रामीण लोक चित्रकलाओं में शुद्ध तीव्र रंगों का प्रयोग व सहज पदार्थों का प्रयोग होता है तथा चित्र आकर्षक और ओज पूर्ण होते है।

महत्व - लोक चित्रकलाओं में स्वाभाविकता की गहनतम छाप होती है। यह ग्रामीण सरल जन

साधारण, मुख्यतः ग्राम्य जनों की सामूहिक अनुभूति का अभिव्यक्तिकरण मानते है। लोकचित्र कलाएं जन समुदाय के सामजिक जीवन में व्यवहृत सहकारी कला हैं, जिसकी जड़े धरती में काफी गहरी पैठी हुई हैं। साथ ही लोक चित्रकलाएं किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक मर्यादा होती है। लोक कला के द्वारा हमें सांस्कृतिक एकता का आभास मिलता है। ग्रामीण चित्रकला की आकृतियां इतनी सुन्दर नही होती जितने उनके पीछे छिपे भाव व विश्वास होते है। लोक कलाये हमारी जातिगत रक्षा वा साधन है तथा जीवन को सुंदर और अंलकारपूर्ण बनाने के साथ मनुष्य के भावगत एवं प्रकृति के शाश्वत सम्बन्ध को निरन्तर नवीन प्रेरणा देती है।

उपादेयता- आज लोक कलायें राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले चुकी है, आज अनेक कलाकार लोक कला के तत्वों को अपनी कलाकृतियों में समाहित कर एक नवीनता एक विजता की सर्जना कर रहे है वहीं दूसरी ओर बहुत से प्रयोगधर्मी लोक कलाकारों ने लोक कला की अपनी परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए उसमें नये तत्वों का समावेश तथा आधुनिक साधनों का प्रयोग कर उन्हें और भी अधिक सौन्दर्यमय एवं लोकग्राह्य बना दिया।

ग्राम्य लोककला के संरक्षण व संवर्धन से स्वतः अतीत की संस्कृति और पूर्व लोक परम्परायें रीतियों को भविष्य के लिए संरक्षित किया जा सकता है।

आज व्यवसायिक युग में ग्रामीण लोक चित्रकला व शिल्प को व्यापक एवं बहुआयामी व्यवसाय का स्वरूप प्रदान हो रहा है। ग्रामीण लोक चित्रकला व अन्य ग्रामीण कलाओं के द्वारा ग्रामीण जन सामान्य व परिवेश में उत्तरोत्तर निरन्तर प्रगति हो रही हैं। इस प्रकार ग्राम्य लोक कला के परिप्रेक्ष्य में चित्रकला की महती भूमिका निरन्तर चलायमान है।

सन्दर्भ

1. कला विचार पृ0-113, 114, 116, 118- डॉ0 शुकदेव श्रोत्रिय
2. उत्तर मध्य क्षेत्र की लोक-संस्कृति- 166, 167, 176, 177,- जय प्रकाश राय, डॉ योगेन्द्र प्रताप सिंह
3. आजकल, साहित्य एवं संस्कृति का मासिक पत्रिका जनवरी 2002-पृ0 6,7, 8
4. बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला पृ0-45, 46, 54, 55- डॉ0 श्रीमती मधु श्रीवास्तव
5. चौमासा, आदिवासी कलां परिषद, भोपाल पृ0-24, 28-बसन्त निरगुणे
6. कला त्रैमासिक, राज्य ललित कला अकादमी लखनऊ उ0प्र0 अंक-35 पृ0 8, 9,11

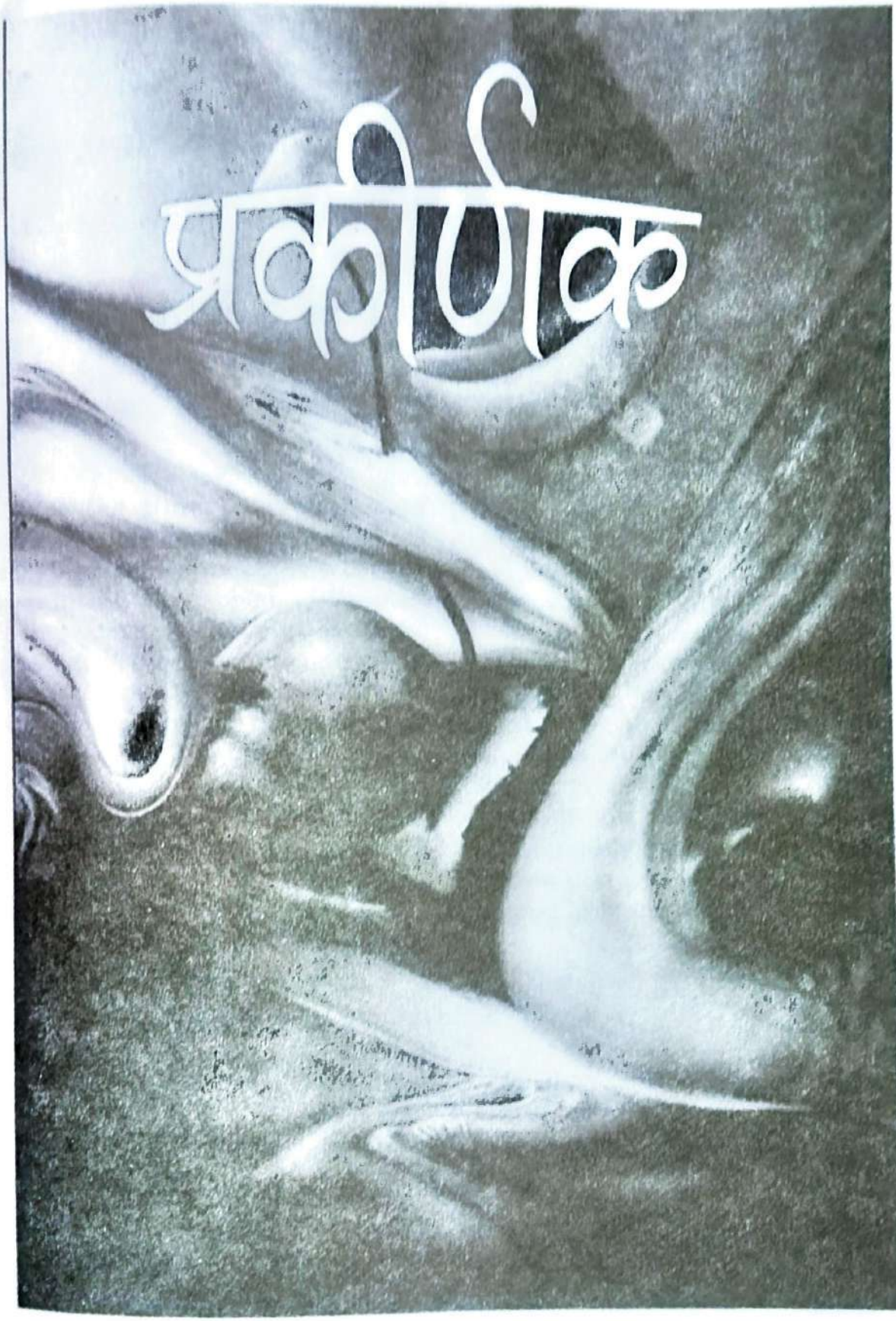
प्रकीर्णक

Music and its Spirituality

Pt. Ronu Majumdar

Famous Flute Maestro

Since the time I have touched Bansuri when I was 6 years old. I felt very special connection with the instrument, atmosphere of Varanasi in those days was full music with the presence of the legendary musiciants Like Pt. Mahadev prasad mishra, Pt. Kishan Maharajjee. Ustad Bismilla Khan and many more. I used to go to the Ghaat's of Varanasi to do my Sadhana. That's the time when I felts very deep connection of spirituality in the music. Rather I felt music itself connects you to God.

I have not seen God in Person but when I play the first note in Bansuri. I feel the exiestence of God right away. Every concert that I play is actually a worship for me and I never try to attract my audience for doing any gimmick or fell any pressure to control them, the sprituality of the music automatically does everything. Every human has the same heart and can feel the presence of God in the perfect shrutis.

The whole earth is actually a combination of Shruti and Laya, engulfed in it and emiting it.

संगीत की उत्पत्ति के रहस्यात्मक स्वरूप

प्रो0 वी0 बालाजी

संगीत एवं मंच कला संकाय वाद्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संगीत का इतिहास जब चिर प्राचीनता की उथल-पुथल की गोद में सिमट कर शिथिल पड़ गया तब पंडितों अर्थात् संगीत शास्त्रकारों ने अपने अनुसन्धान व शोधकार्यों से इसे समय-समय पर परिभाषित करते हुए उसकी मौलिकता का परिचय जनमानस को कराया और संगीत की उत्पत्ति के विषय को बार-बार नये रूप में परिभाषित कर उसे मौलिकता प्रदान की।

"संगीत" शब्द विद्वानों के मतानुसार सम्यक्गीत को जोड़कर बनाया गया। 'संगीत' शब्द में 'सम्' उपसर्ग है। जहाँ तक संगीत के जन्म का प्रश्न है तो मन में उत्कंठा बनी रहती है कि इसका जन्म कब, कहाँ, और कैसे हुआ होगा? इन सब बातों की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें सम्पूर्ण इतिहास की गहराई तक जाना होगा, क्योंकि यह तो इतिहास के असीम गर्भ में शयन करता हुआ प्रतीत होता है। साथ ही जन्म के संदर्भ में संगीत की तह तक हाने के लिए हमें जननी की आत्मानुभूति और ब्रह्मपिता की व्याकुलता के अध्याय में जाना होगा, जो कि एक सहज कार्य नहीं है।

मनु ने तो जननी से दिव्य स्वरूप वाला एक शिशु प्राप्त किया होगा। इस सन्दर्भ में शिशु के शस्य-शाख ने दिया मनु अभिचेतन किया है सृष्टि और रचा हृदय में स्नेह निकेतन पला, बढ़ा और हुआ युग-युग की गोद में युवा संगीत की दशा का हर कलाकार है गवाह संगीत के अंगभूत लय और ताल की प्रथम अवतारणा भी जीवन के प्रथम चरण में प्रविष्ट शिशु में दृष्टिगोचर होती है। शिशु की नाड़ियों का स्पन्दन भी लयबद्ध होता है। उस लय के विशेषज्ञ चिकित्सक होते हैं। नाड़ी की लय के आधार पर उसकी स्वस्थ्य का निर्धारण होता है। आयुर्वेद शास्त्रानुसार नाड़ी संचलन की लयों के उतार-चढ़ाव, द्रुतता और मन्दता की विस्तृत व्याख्याएँ की गई है। नाड़ी की लयों का संगीत की लयों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अर्थात् संगीत को समय के विभिन्न आयामों से सजा-धजाकर वयस्क तो बना दिया, किन्तु हमारा शास्त्रीय संगीत आज भी शिशु की तरह सम्पूर्ण विद्याओं को लिए प्रगति के पथ पर चलता चला जा रहा है।

यह तो सत्य है कि पूरे ब्राह्मांड के हर कण में संगीत परमात्मा के अंश की तरह समाया हुआ है-कहीं शान्त रूप में, तो कहीं मेघों की तरह मनद और गम्भीर ध्वनि, कहीं समुद्र की लहरों की गर्जना, झरनों का कल-कल निनाद, तो कहीं वन-उपवन में विहंगों का कलरव आदि। कहने का तात्पर्य यह है कि संगीत के विभिन्न रूपों का स्वरूप प्रकृति प्रदत्त है।

Devilal Pareidar : Essence of life, Pigments & water colour on paper, 1988

इस बात में एक बात तो स्पष्ट है कि इस समूचे ब्रह्मांड में सारी वस्तुएँ और ललित कलाएँ पहले से ही विद्यमान रहीं, जिसे सर्वशक्तिमान ईश्वर ने समय-समय पर अवतार लेकर हमारे सामने वस्तु स्थिति का बोध कराया। संगीत के ज्ञान की गंगा को बहाया है, जिससे आज हम कलाकार लोग अपनी शक्ति के अनुरूप एवं अपने ज्ञान के अनुरूप अपने-अपने ज्ञानरूपी घड़ों में भरने की कोशिश करते चले आ रहे हैं। कई जन्म लेने पर भी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है क्योंकि इस विद्या का कोई अन्त नहीं है।

कहने का तात्पर्य है कि संगीत समस्त ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है और अध्यात्म की ओर ले जाता है, जिसे विश्व के सारे धर्मों ने अपने-अपने तरीकों से सजाया है। साथ ही शान्ति एवं आत्मिक सन्तुष्टि से पूर्ण अपने स्वरूपों को भी संगीत दर्शाता है।

संगीत की उत्पत्ति के विषय में यहाँ दो परस्पर विपरीत सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए आगे बढ़ना श्रेयस्कर होगा। एक है भारतीय विचार और दूसरा है पाश्चात्य विचार। भारतीय विचार सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, में अपने आप पनपा और जिसके आधार पर सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का विस्तार हुआ है।

पाश्चात्य सिद्धान्त

इसकी प्रत्येक सोच वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित है। ये हमेशा विकावाद को मानते हैं। विकासवाद अर्थात् क्रमशः जो कुछ भी परिवर्तन दिन-प्रति दिन घटित होता जा रहा है, वह अच्छाई की ओर ही ले जा रहा है, ऐसा पाश्चात्य लोगों को मानना है और इसी को विकासवाद मानते हैं।

हमारी भारतीय विचारधारा इससे बिल्कुल भिन्न है। हमारे यहाँ अवतारवाद को मानते हैं। हमारे यहाँ इस बात को मानते हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड में हर वस्तु पूरे उत्कृष्ट रूप में पहले से ही विद्यमान रही और पूरी सृष्टि का जो सबसे श्रेष्ठ रूप था, वह था ईश्वर। ईश्वर एक ऐसी अलौकिक शक्ति है, जिसमें समस्त संसार की सारी वस्तुएँ उत्कृष्ट रूप में समाई हुई है और इसी को ईश्वर ने समय-समय पर स्वयं को इस पृथ्वी पर अवतरित किया है। जैसे कभी इनको राम तो कहीं कृष्ण के रूप में लीलाएँ करनी पड़ीं। भारतीयों के मतानुसार संगीत को पहले से ही श्रेष्ठतम रूप में ईश्वर के पास था, जिसे समयानुसार मनुष्य के रूप में अवतार लेकर धीरे-धीरे मानवों को संगीत के विभिन्न रूपों से अवगत कराया। अर्थात् इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हम मानवों तक पहूँचने पहले ही संगीत दैवीय रूप में विद्यमान रहा। यह तो परमपितामह व सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी के आशीर्वाद से हम मानवों तक पहुँचा।

संगीत की उत्पत्ति के विषय में अनेक धारणाएँ एवं मत-मतान्तर प्रचलित हैं। कुछ विद्वान वेद से संगीत की उत्पत्ति मानते हैं। कुछ अन्य विचारक पशु-पक्षियों की ध्वनियों से संगीत के मूलाधार सप्त स्वरों की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकारकरते हैं। किन्तु ये सभी धारणाएँ भ्रान्त होने के कारण मेरे विचारानुसार सर्वथा असंगत है, क्योंकि मेरी दृष्टि से संगीत प्रकृति की आत्मा है। इसकी उत्पत्ति के साथ ही हुई है। नाद ब्रह्म या शब्द ब्रह्म के सिद्धान्त को दार्शनिकों ने मान्यता प्रदान की है। अतः जैसे ब्रह्म अनादि अनन्त है वैसे ही संगीत भी अनादि अनन्त है। प्रकृति में अनाहत श्रुतियाँ निरन्तर विद्यमान रही है, जिसे ऋषि-मुनियों ने अपने कालानुसार उपलब्ध साधनों द्वारा प्रकृति प्रदत्त नाद रूपी स्वर एवं शब्द को ज्ञात किया तथा सर्वप्रथम वेदों के माध्यम से हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया। मनद्रष्टा ऋषियों को वेदोच्चारण में स्वरों की उत्कर्ष-अपकर्ष या समाहार का जो अनुभव हुआ उस नाद रूपी उतार-चढ़ाव वाली ध्वनियों को ही उन्होंने उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित के रूप में परिभाषित कर हमारे समक्ष व्याख्यायित किया। वस्तुतः ऋषि-मुनियों ने प्रकृति प्रदत्त स्वरों के ही अनुसन्धान से प्राप्त किया, न कि उनकी रचना या आविष्कार किया था। अतः यह स्पष्ट है कि संगीत का प्रादुर्भाव सृष्टि के साथ ही हुआ।

प्रकृति विधि का एक विधान है। इसकी विचिंता एवं रहस्यमयता को शब्दों के माध्यम से पूर्णतया व्यक्त कर पाना सम्भव नहीं है। इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त प्राकृतिक तत्वों का संगीत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः संगीत की उत्पत्ति के समाधान के पूर्व ब्रह्मांड के रहस्यात्मक स्वरूप से पूर्णतया अवगत होना परम आवश्यक है।

संसार की उत्पत्ति प्रकृति और पुरुष के संयोग से सम्भव होती है। यह समस्त सृष्टि द्वितमय है। केवल परमात्मा या पर ब्रह्म ही अद्वैत है। स्त्री-पुरुष, दिन-रात, प्रकाश-अन्धकार, सुख-दुःख, जीवन-मरण, हानि-लाभ, ज्ञान-अज्ञान आदि परस्पर विरुद्ध पदार्थों का समुदाय ही संसार है। इनके योग से ही सांसारिक प्रक्रियाएँ गतिमान होती हैं।

संगीत की समतुल्य प्रक्रिया रसस्वादनपूर्वक स्थापित गर्भ से उत्पन्न शिशु की आरम्भिक क्रियाओं में भी संगीत स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। शिशु का क्रन्दन उसके जीवन में संगीत की प्रथम अवतारणा

है। अथवा, यों कहें कि सृष्टि में सतत प्रवाहमान संगीत शिशु की संवेदनाओं की प्रथम अभिव्यक्तियों में प्रस्फुटित होता है। शिशु के क्रन्दन में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का यथोचित समन्वय विशेषज्ञों द्वारा अनुभव किया जा सकता है। क्रन्दन के माध्यम से शिशु के हार्दिक भावों को माता भली-भाँति समझ लेती है। स्पष्ट है कि उस क्रन्दन में स्वर-व्यंजनों से निर्मित सार्थक शब्द नहीं होते, उसके व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली 'भाषा' नहीं होती, फिर भी शिशु अपनी भावनाओं को माता तक सुगमता से सम्प्रेषित करने में समर्थ हो जाता है। निःसन्देह वह संगीत की 'भाषा' होती है, जो केवल स्वरात्मक होते हुए भी भावभिव्यक्ति का सामर्थ्य रखती है। क्रन्दन में स्वरों को उतार-चढ़ाव, तारता-तीव्रता, मन्द्रता, आरोह-अवरोह, माता को ज्ञात करो देते हैं कि शिशु की क्या चाह है, वह किस कारण से रो रहा है।

भाव सम्प्रेषण के लिए सबसे समुचित एवं सरल माध्यम भाषा को माना गया है। भाषा के अभाव में चेष्टाओं द्वारा भी भावों से दूसरे व्यक्ति को अवगत गराया जा सकता है। किन्तु मेरे मत में भाव-सम्प्रेषण का सबसे उपयुक्त एवं उदात्त माध्यम संगीत हैं पूर्वोक्त माता-शिशु के व्यवहार से संगीत की भाव सम्प्रेषण क्षमता का आकलन भलीभाँति किया जा सकता है। रति आदि नौ स्थायी भाव एवं अमर्षादि तैंतीस संचारी भाव मानव हृदय में जन्म से ही निहित रहते हैं। इनमें से किसीका भी आधान जन्म के बाद नहीं होता। इनकी न्यूनता-अधिकता में तारतम्य हो सकता है। कोई व्यक्ति स्वभावतः अधिक स्नेही, करुणावान या उत्साह सम्पन्न हो सकता है तो दूसरा क्रोधी, भीरु या हासप्रिय हो सकता है। इसका तात्पर्य यही नहीं कि अन्य भावों का उसमें अभाव है, अपितु अन्य भाव भी उसमें होते ही हैं। नवजात शिशु परिस्थितियों के अनुसार अपने हृदय में स्थित उन भावों को यथासमय अभिव्यक्त करते हैं। उनकी उन अभिव्यक्तियों का प्रथम माध्यम संगीत ही होता है। शिशु के क्रन्दन के स्वरों से माता उसके हार्दिक भावों का ज्ञान कर लेती है। कालान्तर में भी भावों की अभिव्यक्ति भाषा की अपेक्षा स्वरों के द्वारा विशदतया सम्भव होती है। व्यवहार जगत में स्वर-भेद के साथ बोला गया एक ही वाक्य अर्थ या भावों को व्यक्त करता हैं संगीत या साहित्य शास्त्र में हम इसे 'काकु' के नाम से जानते हैं। कंठ से निःसृत होने वाली ध्वनि की भिन्नता ही 'काकु' कही जाती है। उसका माध्यम भी स्वर ही है। अतः यह स्पष्ट है कि भावात्मक समस्त व्यवहारों में आदि से अन्त तक संगीतात्मक स्वरों की महती भूमिका होती है। व्याकरण शास्त्र स्फोटात्मक शब्द को नित्य तथा ब्रह्म मानता है, तदनुसार नाद प्रधान, भावाभिव्यंजन समर्थ स्वतः रंजन संगीत भी अनादि नित्य और परमानन्द स्वरूप है।

निष्कर्षतः यह सुनिश्चित है कि संगीत एक शाश्वत, नित्य प्रकृति सम्बद्ध कला है तथा महर्षियों एवं संगीताचार्यों ने अनुसन्धान द्वारा इस कला/विद्या को प्राप्त कर व्याख्यायित किया, तथा इस व्याख्या से संगीत की उत्पत्ति के इतर सिद्धान्तों को मानने वालों का भ्रम दूर हो जाना चाहिए।

16-Back Side K

योग एवं संगीत

डा0 शशि शुक्ला

(H.O.D.)

(एसोसिएट प्रोफेसर),

संगीत विभाग, साहू रामस्वरूप पी0जी0 कॉलेज, बरेली

योग एवं संगीत के परस्पर सम्बन्धों की चर्चा से पहले योग क्या है और इसका लक्ष्य क्या है? इस पर चर्चा करना अधिक उचित होगा।

प्रत्येक योगी का चरम लक्ष्य इस शरीर में मेरूदण्ड स्थित चक्रों को जाग्रत कर मूलाधार चक्र में सुप्त कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करना है और उस परम तत्व में लीन होकर परम आनन्द की प्राप्ति करना है। योग साधना अपनी अनवरत साधना से इन चक्रों को जाग्रत करता है। मूलाधार चक्र में पड़ी कुंडलिनी देवी जाग्रत होकर प्रत्येक चक्रों से होती हुई ऊर्ध्वगामी होकर सुषुम्ना नाडी के पथ से होती हुई कपाल में स्थापित सहस्त्राधार चक्र में स्थित शिव (महा योगी) से मिलकर एकाकार होती है। यही शिव शक्ति, जीव और ब्रहम, आत्मा और परमात्मा का मिलन है, जिसको प्राप्त करने के लिए योगी निरन्तर साधनरत् रहता है। यह बात अलग है कि विरले योगी ही इस चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होते हैं।

योगाभ्यास में यौगिक क्रियायें आसान, आदि मेरूदण्ड के चक्रों को प्रभावित करती हैं और सतत साधना से जागृत होती हैं और प्रणायाम शरीर में प्रवाहित इड़ा पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों को शुद्ध करते हुए ऊपर चढ़ने के पथ को आसान करता है। यह सात चक्र शरीर के महत्वपूर्ण स्थानों में स्थापित है। प्रथम चक्र मूलाधार चक्र के रूप में जिस स्थान पर सिद्धासन में बांये पैर की एड़ी दबाव डालती है ठीक उसी स्थान पर स्थापित है दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान चक्र जहाँ से मेरूदण्ड स्थापित होता है, ठीक मेरूदण्ड के अन्तिम सिर पर स्थापित होता ह, तृतीय चक्र मणिपुर चक्र ठीक नाभि के पीछे मेरूदण्ड में स्थापित होता है, चतुर्थ चक्र हृदय स्थल पर जहाँ छाती के बीचों बीच गड्ढ़ा होता है उसके पीछे मेरूदण्ड पर, पंचम चक्र विशुद्धि चक्र जहाँ गर्दन प्रारम्भ होती है उसके ठीक पीछे मेरूदण्ड पर स्थित है, छठा आज्ञा चक्र दोनो भुकुटियों के बीच है, इसके पश्चात् एक स्थान विशेष है जो बिन्दु विसर्ग के नाम से जाना जाता है इसे अमृत कुंड के नाम से भी जानते हैं। यह वह स्थान है जहाँ ब्राम्हण सिर पर चोटी रखते थे। सप्तम चक्र के रूप में सहस्त्राधार चक्र है जो कपाल में स्थित है, जहाँ बचपन में कोमल स्थान होता है।

अब संगीत में यदि देखें तो मतंग के स्वर निर्णय प्रकरण में कोहल के उद्धरण दिये गये हैं, जिनमें योगतंत्र के अनुसार स्वरों की उत्पत्ति बताई है। वृहद्देशीमें भी मतंग ने योग दर्शन की चर्चा की है और नाद तत्व की विवेचना की है, उन्होंने ध्वनि, ध्वनि से बिन्दु, बिन्दु से नाद, नाद से द्विविध मात्रा (स्वर व्यंजन) तथा षहजादि स्वर, इस क्रम में स्वरों की उत्पत्ति बताई है। ध्वनि, बिन्दु मात्रा आदि सभी संज्ञायें योग दर्शन से ही ली गयी हैं।

संगीत का मुख्य उपकरण स्वर आहत नाद से उत्पन्न है। नाद की उत्पत्ति प्राण और अग्नि के संयोग से है। सृष्टि की उत्पत्ति, वर्धन, संहार का कारण ब्रह्मा, विष्णु, महेश जो नाद रूप हैं इनकी

पराशक्ति को योग में चित्रि शक्ति कहा जाता है। नाद की उत्पत्ति , धारणा एवं विलय का आधार शरीर है। नाद के 22 भेद जो सुने जाने के कारण श्रुति कहलाते हैं। हृदय और सुषुम्ना से संलग्न 22 नाड़ियाँ हैं, जिनके भीतर आघात होने से श्रुतियां उत्पन्न होती है अतः संगीत में 22 श्रुतियां माने जाने का आधार अत्यन्त सूक्ष्म है जो आज वैज्ञानिक युग के उपकरणों की सहायता से तथा कठिन प्रयोगों के बाद भी सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं, जबकि योगियों ने अन्तः प्रेरणा के आधार पर यौगिक क्रियाओं द्वारा सहस्त्रों वर्ष पूर्व सिद्ध कर दिया था। संगीत (ध्वनि, नाद) योग दर्शन से प्रभावित है और संगीत एवं योग वैदिक परम्परा से ही एक दूसरे से प्रभावित रहा है। योग और संगीत दोनो ही विद्याओं का साधन यह पिंड शरीर है, जिसमें आत्मा निवास करती है। दोनो ही विद्याओं का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है, दोनो का प्रयोजन आत्मानुभूति है आत्मावलोकन है और जिसमें ओज प्रसाद माधुर्य गुणों की प्रचुरता मुखरित हो उठती है। दोनो ही साधना से चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास द्वारा सरलतापूर्वक किया जाता है। चित्त का आत्मा की ओर झुकाव और वृत्तियों में निरोध हो जाने पर आत्मा का महान तेजस्वी स्वरूप स्थिर रूप से भासित होने लगता है। योग एवं संगीत से ही मानव का मन उस उच्चतर सूक्ष्म नाद का अनुभव करने योग्य बन जाता है। योगियों ने संगीत को शक्तियों का ऊर्ध्वगामी बनाने के सहायक माना है। इस प्रकार से कहें तो यह कहना अनुचित नही होगा कि यौगिक भाषा में संगीत एक नाद योग है।

अब हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त नाद का मूल स्रोत

संगीत के सात स्वर हैं। संगीत के सप्त स्वर उक्त वर्णित चक्रों तथा बिन्दु विसर्ग स्थान को झंकृत करते हुए निकलते हैं, जो इस प्रकार हैं:-

1. षड्ज सा	मूलाधार चक्र
2. ऋषभ	स्वाधिष्ठान चक्र
3. गांधार	मणिपुर चक्र
4. मध्यम	अनाहत चक्र
5. पंचम	विशुद्धि चक्र
6. धैवत	आज्ञा चक्र
7. निषाद	बिन्दु विसर्ग
8. तारषड्ज	सहस्ताधार चक्र

16-Front Side K

रागों का स्वरूप एवं ध्यान को परिकल्पना

डॉ. रेखा रानी

वरिष्ठ प्रवक्ता,

एस.एस. खन्ना महिला महाविद्यालय, इलाहाबाद

संगीत कला की उत्पत्ति और विकास का मूल कारण माना जाता है उसके मनोवेगों की अभिव्यक्ति करना है संगीत से होने वाली सौंदर्य - सृष्टि कठोर कोमल उग्र सरल उत्साह युक्त व स्फूर्तिपूर्ण तो हो सकती हैं परन्तु उसका निश्चित अर्थ नहीं निकाला जा सकता है अन्य कलाओं की तरह संगीत के पास पद और पदार्थ जैसे दो भिन्न अभिव्यक्ति के माध्यम नहीं है। यही वजह है कि वह सबसे अधिक निरपेक्ष एवं सूक्ष्म है संगीत से केवल हम स्वरों के द्वारा परिस्थिति खड़ी नहीं कर सकते है। इसलिये प्राचीन काल से ही संगीत नाट्यरूपी मनोवृत्तियों में उभरने के लिये प्रयुक्त होता था।

मतंग के पूर्व से ही संगीत नाट्य से अलग प्रतीत होने लगा था, व उसमें भाव की निश्चितता के अभाव में रिक्ततः प्रदर्शित होने लगी थी। इस कमी को पूरा करने के लिये संगीतज्ञों ने राग ध्यान का सहारा लिया। चूँकि श्रोता और प्रयोक्ता के बीच में जो भावसाम्य स्थापित होता है इस भावसाम्य को स्थापित करने के लिये राग ध्यान ही इस समस्या का वैज्ञानिक समाधान था। गायक राग के द्वारा जिस किसी भी भाव विशेष को प्रस्तुत करना चाहता था। उस राग की रूप रेखा ध्यान के द्वारा स्पष्ट कर देता था। जिससे श्रोताओं को समझने के लिये एक विशेष दिशा मिल जाती थी।

श्रीमदभागवत्गीता के दसवें अध्याय में भगवान कृष्ण अर्जुन के समक्ष विभूतियोग का वर्णन करते है:

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेववा।
ततदेवावगच्छत्वं ममतेजों ष्शसंभवम्।।

अर्थात जो-जो विभूतियुक्त, कांतियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उसको तू मेरे तेज से उत्पन्न हुई जानो रागों के आकर्षण और माधुर्य को श्रोतागण व रसिक जन प्रत्यक्ष रूप से मुग्ध होते देखे जाते हैं, उस शक्ति को किसी भी रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। यह अविकल्पित, अद्भुत अनुपम, अद्वितीय आकर्षण भगवान के अंश का ही परिणाम है। चूँकि भगवान की आनंदरूपता औपनिषदिक सिद्धान्त है, इसलिये रागो के द्वारा होने वाली रसानुभूति भी रसानंद रूप ही है, रागों के देवत्व को केवल कल्पना समझकर हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं जिस देश की संस्कृति में नदियों, पहाड़ो, वृक्षों, पशुओं इत्यादि को देवत्व की भावना से पूजा जाता हो, उसमें राग जैसे जड़ चेतन को सम्मोहित करने वाली रचना में देवत्व की भावना को असंभव व असंगत नहीं माना जा सकता है। राग में देवत्व की भावना का सिद्धान्त उर्पयुक्त ''श्रीमद्भागवद्गीता'' के सिद्धान्त पर आधारित है। (श्रीमद्भागवद्गीता - दसवें अध्याय के श्लोक 41)

मध्यकाल में राग-ध्यानों का निर्माण संगीतज्ञों के साथ-साथ कवियों द्वारा भी होने लगा, जिससे उनमें मनमानापन आ गया। काव्य में नायक-नायिका वर्णन की प्रायः एक परम्परा सी दिखाई देने लगी। इन नायक - नायिकाओं से रागों की प्रकृति जोड़ दी

गई, साथ ही उसके बाह्य स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित होने लगा। ऐसी परिस्थितियों में राग ध्यान का जो मूल प्रयोजन था प्रायः लुप्त सा हो गया।

रागों में देवत्व की भावना केवल आगम-पुराण से सम्बन्धित नहीं है, वरन भरत परम्परा से भी इसके बीज दिखाई देते हैं रसों का देवताओं से सम्बन्ध नाट्यशास्त्र अध्याय 6, श्लोक 45-46 में उपलब्ध है, जिसके अनुसार श्रंगार के देवता विष्णु, हास्य के प्रथमगण, रौद्र के रूद्र, करूण के यम, वीभत्स के महाकाल, भयानक के काल, वीर के महेन्द्र तथा अद्भुत के देवता ब्रम्हा बताए गये हैं। भरतभाष्य में जिन रागों के नाम उनके देवताओं सहित वर्णित हैं, वे सभी पुल्लिंग हैं और उनके देवता भी पुरूष हैं। एक और पौरूषता, गांभीर्य, प्रौढ़ता तथा दूसरी ओर कोमलता, तरलता एवं स्निग्धता आदि की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये सूक्ष्म को स्थूल तथा अग्राह्य को ग्राह्य बनाने के लिये पुरूषत्व एवं स्त्रीत्व के सर्वग्राह्य चिरंतन प्रतीको का ग्रहण भारतीय संगीत परंपरा का एक विशिष्ट अंग बन गया। राग-रागिनी परंपरा वर्गीकरण में भी इसी परंपरा का पालन किया गया है। सुधा कलश के "संगीतोपनिषद्सारोद्धार" में सबसे ध्यान देने योग्य बात यह है कि रागिनी संज्ञा के स्थान पर भाषा संज्ञा का प्रयोग किया गया है ठीक उसी प्रकार चित्र परम्परा में भी सर्वप्रथम स्त्री राग के लिये भाषा संज्ञा का प्रयोग मिलता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि मतंग के समय संगीत नाट्य से स्वतंत्र होने लगा था। परिणामस्वरूप राग वर्गीकरण में "ग्राम-राग" को पुल्लिंग और "भाषा राग" को स्त्रीलिंग रागों के रूप में माना जाने लगा। अतः रागों के पुरूषत्व और स्त्रीत्व का बीज यहीं से प्राप्त होने लगा। मतंगोक्त "भाषाओं में से कुछ तो बाद में रागिनियों के रूप में ग्रहण भी कर ली गई। उदाहरणार्थ - त्रैवणा या त्रिवणी का नाम ले सकते हैं। राग रागिनी वर्गीकरण का उद्भव और विकास इसी चित्रवृत्ति के फलस्वरूप पुरूषत्व एवं स्त्रीत्व के प्रतीकों पर आश्रित रहा। राग-ध्यान परंपरा भी इसी आधार पर विकसित और पल्लवित हुई और साथ ही राग चित्रण परम्परा ने इसे और भी स्थूलरूप में उपस्थित किया। इस प्रकार से राग-रागिनी वर्गीकरण, राग ध्यान तथा राग चित्रण इन तीनों में क्रमशः संगीत साहित्य एवं चित्रकला के अंचल में उत्तरोत्तर स्थूल रूप से एक ही विचार धारा अथवा अभिव्यक्ति के माध्यम को पल्लवित किया।

मानव का स्वभाव है कि अमूर्त अनुभूति को मूर्त बनाने के लिये श्रव्य और दृश्य, दोनों माध्यमों का परस्पर विनिमय सहज ही करता रहता है भावपूर्ण गायन अथवा वादन को सुनकर प्रायः उद्गार सहज ही उद्भावित हो जाते हैं।

"ध्यान का अर्थ है - अपने चित्त को अपने इष्ट में तदाकार करना।" किसी भी राग की मूल प्रवत्ति के अनुसार उसकी आकृति की मानसिक रूप से अनुभूति करना ही राग ध्यान है संगीत के क्षेत्र में यह आवश्यकता उस युग में पड़ी, जब संगीत की श्रृंखला नाट्य से एकदम विच्छिन्न हो गई थी। किसी वस्तु के कलेवर की नहीं, बल्कि उसकी आध्यात्मिक चेतना की ही पूजा की जाती है और यही चेतना भारतीय जीवन में "देवता" कहलाती है। इसी चेतना के फलस्वरूप किसी भी मूर्ति में अभीषिक्त देवता की प्राण प्रतिष्ठा कर उसकी पूजा की जाती है संगीत में राग को स्वतः एक शक्ति माना गया है। राग स्वरों का वह संयोजन है, जो निश्चित रंजक भाव को जगा सके अथवा अपने रंग में समाहित कर सके चूंकि रंग की विशेषता है जो भी उसके संपर्क में आता है उसे वह अपने रंग में रंग लेता है। अतः लोक स्तर पर इसे मूर्त रूप देना पड़ा और इसी संधि स्थल पर यह पद्धति पनपी।

भारत का संगीत विशेष रूप से आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पला। भक्तिकाल में तो मंदिरो में ही केवल इसका एक मात्र स्थान था, इसलिये वाग्गेयकारों में देव-ध्यान, छंद ध्यान और ताल ध्यान के साथ-साथ राग ध्यानों की परंपरा चल पड़ी। माना जाता है कि लगभग सातवीं शताब्दीं में मतंग के समय से ही तांत्रिक भाष की लहर उठी। जिसमें बिना ध्यान के कोइ गति नहीं थी। इसी तांत्रिकता के प्रभाव में मतंग ने तांत्रिक राग ध्यान लिखे, ऐसा महाराणा

कुंभा के ग्रन्थ "संगीत राज से अवगत होता है।

आज मतंग के बृहद् देशी का बहुत ही खंडित रूप प्राप्त होता है। उसका राग से सम्बन्धित अध्याय नष्ट हो गया है। ऐसा अनुमान है कि महाराणा कुंभा के समय तक जरूर वह संपूर्ण रूप में प्राप्त रहा होगा। इसीलिये कुभा ने अपने ग्रंथ संगीत राज़ में मतंग के तांत्रिक राग-ध्यानों का प्रसंग दिया है। शास्त्राकारों का विश्वास है कि हर राग के दो स्वरूप हैं - नादमयी एवं भावमयी। नादमयी रूप उसका शरीर है और भावमयी रूप उस शरीर का अधिष्ठात्री देवता अथवा उसकी आत्मा है।उपासना ने देवता के आवाहन के लिये ध्यान करते हैं और उस ध्यान का बीजमंत्र भी होता है, जिसके सहारे ध्यान किया जाता है। इसी प्रकार के देवमय रूप के आवाहन के लिये ध्यान पद्धति अपनाई जाती है। उस ध्यान में वर्णित देव-स्वरूप उस राग के ध्यान का बीजमंत्र होता है।

सोभनाथ ने अपने ग्रंथ "राग विबोध" के पंचम विवेक में राग के नाट्मयी एवं देवमयी, दो स्वरूप इस प्रकार स्वीकार किए हैं -

"सुस्वरवर्ण विशेषरूपं रागस्य बोधक द्वेधा।
नादात्मकं च देवमयं तत्क्रमतो नेकमेंकंतु।।

रागों के नाट्मय रूपों के वर्णन के पश्चात् उन्होंने उनके पुनः देवमय रूपों का भी वर्णन किया है, जो उनके इस कथन से पुष्ट होता है-

उक्त रूपमनेकं तद्रागस्य नादमयमेवम्।
अथदेवतामयमिह क्रमतः कथयेत दैकैकम्।।
(सोमनाथ - राग विबोध, पंचम विवेक श्लोक 168)

रस ही राग का देवमय रूप है। राग में रसत्व विशेष अनुभूति मात्र है, जिसका कोई निश्चित आकार नहीं। इसी तरह भगवद् तंत्व भी रस की ही तरह निराकर होते हुये भी आनन्दमय है। उसमें मन समाहित करने के लिये जिस प्रकार स्थूल आधार की आवश्यकता पड़ने पर मूर्ति पूजा की जरूरत पड़ी, उसी प्रकार राग रस में डूबने के लिये स्थूल अवलम्ब की आवश्यकता पड़ने पर इन राग-ध्यानों के सहारे राग के देवमय रूपों को एक निश्चित रूप दिया गया।

भातखंण्डे जी ने राग के "देवात्मक रूप" अथवा चित्र का ध्यान करने के महत्व के विषय में लिखा है -

ध्यानं बिना राग समूह मेतं।
गायंति रागे निपुणा जना ये।।
संगीतशास्त्रोक्त्रफलानि **रागाः।**
तेभ्यः प्रयच्छन्ति कदापि नैप।।

अर्थात संगीत शास्त्र में कहा गया है कि जो लोग राग में निपुण होते हैं ध्यान के बिना राग समूह को गाते हैं। उस राग का फल कभी नहीं प्राप्त होता है।

ध्यान शब्द के दो अर्थ हैं - चित्त को समाहित करने के प्रक्रिया और वह साधन, जिसके द्वारा समाहित करने की प्रक्रिया हो सके। संगीत में ध्यान इन्हीं दो अर्थो में प्रयुक्त हुआ। जो ध्यान लिखे गये, उनमें अपना चित्त समाहित करने की प्रक्रिया तो ध्यान है ही, साथ ही वह चित्त समाहित करने का साधन भी है अर्थात् राग का वर्णित रूप भी ध्यान की प्रक्रिया के लिये अवलम्ब बन जाता है। नाट्मय रूप की आराधना के द्वारा रागों के देवमय रूप को अवतरित किया जा सकता है। यदि गायन वादन करने पर राग का देवमय रूप अवतरित नहीं होता तो उसके प्रस्तुतीकरण में कोई त्रुटि होती है। यदि गायक या वादक ने राग को शुद्ध रूप में गाया या बजाया है। तो उसके गायन या वादन करते रहने तक, उस स्थान पर राग का चित्र उपस्थित हो जाना चाहिये। जब तक गायक या वादक राग का रूप प्रकट नहीं कर पाता, तो उसका संगीत वृथा हैं राग ध्यान की भी एक विशेष प्रक्रिया है, जैसे जप की प्रक्रिया के तीन रूप हैं -

1. मानसिक 2. उपांशु 3. वाचक

उसी प्रकार राग ध्यान की प्रक्रिया के भी तीन रूप है -

1. मानसिक 2. उपांशु 3. नादात्मक

मानसिक ध्यान में गायक राग के देवता में केवल चित्त समाहित करता है, उपांशु ध्यान में वह अंदर ही अंदर शांत चित्त से गुनगुना कर देवता का आवाहन करता है और नादात्मक ध्यान में गाकर

राग का स्वरूप खड़ा करता है। अब ध्यान मानसिक न होकर वाचिक हो जाता है। भारतीय संस्कृति में देवताओं का बड़ा महत्व है उसके स्वरूपों की कल्पना करते समय प्रत्येक देवता के हाथों में कुछ आयुध, त्रिशूल, खडग, चक्र, कुश, गदा इत्यादि दे दिये गये है। उनकी कुछ मुद्रायें व वाहन भी निश्चित कर दिये गये हैं परन्तु हम संगीत में रागों के रूपों की कल्पना इस प्रकार से नहीं कर सकते क्योंकि रागों का सम्बन्ध मनुष्य की आन्तिरक वृत्ति रस से हैं।

जिस प्रकार से देवताओं के ध्यान निश्चित किये गये हैं ठीक उसी प्रकार से रागों के ध्यान के समय को किसी रस विशेष में उत्पन्न करने के लिये एक विशेष प्रकार के वातावरण को कल्पना की गई। जैसे वीर, करूण, श्रंगार इत्यादि सब प्रकार के रसों के लिये अनेक रागों के रूप हैं उदाहरण के लिये ''वसंत'' राग को प्रकृति के वसंतोल्लास के वातावरण में दिखाया गया है। मेध को वर्षा के साथ रखा है। पूर्वी दिन के समाप्ति के दुःखमय भाव को प्रदर्शित करती है तो ललित रात्रि के उपरांत प्रातः काल के विछोह के दुख की ओर संकेत करती है, तोड़ी जंगली जानवरों जैसे हिरन इत्यादि को वशीभूत कर लेने की ओर इंगित करती है, तो ''मालकोश'' विजयोल्लास का द्योतक है। ''भैरवी'' यदि प्रेम के भाव को व्यक्त करती है तो मधुमाधवी'' उस प्रेम की संतुष्टि की ओर संकेत करती है।

(संगीत पत्रिका अप्रैल 1982 पृ. 6)

1. श्रीमद्भगवत गीता दसवें अध्याय के 41वे श्लोक
2. सुधा कलश ''संगीतोपनिषद्सारोद्धार
3. संगीत पत्रिका
4. सोमनाथ - राग विबोध पंचम विवेक श्लोक 168
5. भारतीय संगीत शास्त्र का दर्शन परक अनुशीलन डा. (सौ.) विमला मुसल गाँवकर का तृतीय खंण्ड।

संगीत एवं योग में 'नादानुसंधान'

डॉ. रैना कुमारी

(संगीत सेवी, भागलपुर)

गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।।[1]

अर्थात् 'गीत, वाद्य एवं नृत्य' इन तीनों का त्रिवेणी संगम 'संगीत' कहलाता है। वास्तव में ये तीनो कलाएँ एक-दूसरे से स्वतन्त्र होते हुए भी एक-दूसरे के अधीन हैं। गायन के अधीन वादन और वादन के अधीन नृत्य।

'संगीत' शब्द 'गीत' शब्द में 'सम्' उपसर्ग लगाकर बना है। 'सम्' यानी 'सहित' और गीत यानि 'गान'। 'गान के सहित' अर्थात् नृत्य व वादन के साथ किया हुआ कार्य 'संगीत' कहलाता है।[2]

"नृत्तं वाद्यनुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतनुवर्तिं च।
अतो गीतं प्रधानत्वादत्रादावभिधीयते।।[3]

अर्थात् , गान के अधीन वादन और वादन के अधीन नर्तन है, अतः इन तीनों कलाओं में 'गान' को ही प्रधानता दी गयी है।

'ब्रह्मा' नें अपनी अपनी 'त्रिगुण शक्ति' यानि सत्चित, आनंद द्वारा इस संसार की रचना की। 'ब्रह्मा' आनंद स्वरूप हैं। और इसी आनंद तत्व से 'संगीत' की उत्पत्ति हुई है। ये तीन शक्ति यानि बह्मा, विष्णु और महेश। क्रमशः 'सरस्वती, लक्ष्मी और काली' इन तीन शक्तियों से सत्चित आनंदमय विश्व की उत्पत्ति हुई है। विश्व के उसी आनंदमय तत्व का साकार रूप 'संगीत' है। जिसकी अधिष्ठात्री देवी 'सरस्वती' हैं।

'योग' क्या है?

'योग' शब्द का सामान्य अर्थ है 'सम्बन्ध'। परन्तु 'महर्षि पतंजलि' के सिद्धान्तानुसार 'चित्र की वृत्तियों' का निरोध ही 'योग' है।[4]

व्याकरणिक पद्धति से योग शब्द 'युज' धातु के बाद करण और भाववाच्य में 'घञ्' प्रत्यय लगने से बनता है। 'युज' का वास्तविक अर्थ समझनें के लिए 'समाधि' का अर्थ जानना होगा। 'समाधि' का अर्थ है - सम्यक प्रकार से ईश्वर में मिल जाना ही 'योग' है। अर्थात्, 'जीव और ब्रह' का पूर्ण मिलन ही 'योग' है।

प्राचीन काल से ही हमारे ऋषि-मुनियों नें 'योग साधना' को अपने जीवन में अपनाया है। योग को मानव कल्याण से जोड़कर जीने की प्रेरणा दी है। योग 'वेद' ,पुराण, उपनिषद, गीता आदि धर्मग्रंथों में देखने को मिलता है। योग साधना द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण जगत में आत्मकल्याणकारी एवं लोककल्याणकारी सिद्ध हुआ है।

'योग' के विषय में अनेक मत सामने आए हैं। कुछ लोगों नें योग को कर्म के साथ जोड़ा, कुछ लोगो नें आचरण के साथ जोड़ा, कुछ ने योग को 'ईश्वर' के साथ जोड़ा तो कुछ ने 'मोक्ष प्राप्ति' का साधन बताया।

''संस्कृत शब्द 'नाद' का अर्थ ध्वनि या व्युत्पत्ति के हिसाब से 'चेतना का प्रवाह' होता है। नाद मौलिक कम्पन, दैविक, सर्वव्यापी, सर्जनात्मक ध्वनि है यह आध्यात्मिक अभ्यास का मूल तत्व है। अनुसंधान का अर्थ होता है खोज। स्थूल से सूक्ष्म, बाह्य से आन्तरिक, मानसिक से कारण तथा उससे परे ध्वनि के कम्पन्न की खोज धारणा का सम्पूर्ण भाग है, जिसे नादानुसंधान कहते हैं, गोपनीय आत्मिक संगीत की कला।''[5]

नादानुसंधान का लक्ष्य है सूक्ष्म ध्वनि की खोज कर उसका शुद्धिकरण एवं नियंत्रण करना। नादसाधना वर्तमान चेतना से आन्तरिक चेतना की एक कड़ी है तो कि सूक्ष्म अवस्था का प्रत्यक्ष बोध कराती है। जैसा कि वाह्य वातावरण में सुख और सुरक्षा का अनुभव करते हैं वैसे ही आन्तरिक रूप से शान्ति एवं आनंद का अनुभव करते हैं।

नादानुसंधान का अभ्यास प्रायः सभी व्यक्ति कर सकते हैं परन्तु यह विशेष कर संगीतज्ञों तथा वैसे लोगों के लिए लाभदायक है जिनका संगीत तथा सृजनात्मक कार्यो के प्रति झुकाव है। नाद योग के सिद्ध पुरूषों ने इस विधि के क्रमबद्ध विकास की प्रक्रिया निरूपित की है, जिसके माध्यम से धीरे-धीरे साधक को नये संवेदी बोध से अभ्यस्त कराते हैं, जो उन्हें आगे बढ़ाने में सहायक होता है।[6]

'संगीत एवं योग' उपासना एवं आराधना है। यह गुरूमुखी विद्या है। 'संगीत और योग' का वर्णन वेद में है। इन दोनों का सम्बन्ध नाद से जुड़ा है। संगीत मे राग ब्रह्म की भांति अमूर्त्त अदृश्य तत्व है। योग शास्त्र के ग्रंथों में देवी-देवताओं की कल्पना रागों द्वारा की गयी है।

संगीत मनुष्यों की ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि के जीव-जन्तुओं में व्याप्त है। और ये सभी अपने-अपने ढ़ंग से इसका उपयोग करते हैं। साधारण रूप से कान को प्रिय लगने वाली ध्वनि को 'नाद' कहते है। कुछ विद्वानों ने ध्वनि अथ्यवा चेतना के प्रवाह को 'नाद' माना है। परन्तु संगीत-शास्त्र के अनुसार नाद वह ध्वनि है, जिसकी आन्दोलन संख्या नियमित हो और जो ध्वनि किसी निश्चित स्थान पर टिकी हो। प्रत्येक ध्वनि संगीत उपयोगी नहीं होता है। जैसे - पटाखे का फटना, कुत्ते का भोंकना, भौंरे का गुंजन, फैक्ट्रियों का साइरन इत्यादि ये सभी ध्वनि नाद की श्रेणी में नहीं रखी जाएगी।

संगीत और योग एक उपास्य विद्या है। कला के सभी क्षेत्रों में व्यापक शब्द 'ब्रह्म' का मिलता है। संगीत में 'शब्द' ब्रह्म को 'नाद ब्रह्म' से विभूषित केया गया है।

'संगीत रत्नाकर' में सम्पूर्ण जगत को नाद के अधीन स्वीकारा है-

''नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद्वाचः ।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्।। [7]

अर्थात् , ''नाद से ब्रह्म की, वर्ण से पद, और पद से वाणी की अभिव्यक्ति होती है। वाणी से ही यह सब व्यवहार चलता है। अतः यह सम्पूर्ण जगत नाद के अधीन है।''

नाद के दो भेद हैं- आहत और अनाहत। 'आहत नाद' को आठ भागों में विभक्त किया गया है- घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फूट, ध्वनि, झंकार, ध्वंकृति। अनाहत को महाशब्द के नाम से जाना जाता है। इन्हें स्थल कर्णेन्द्रिय नहीं सुन पाती, वरन् ध्यान-धारणा द्वारा अन्तः चेतना में ही इसकी अनुभूति होती है।

नाद संगीत का प्राणवायु है। संगीत एक प्रकार की 'योगसाधना' है। जिसमें ध्वनि, कम्पन, नाभि प्रदेश से निकलकर ब्रह्मरन्ध में ले जाना होता है। फिर तालु से पकड़कर मनोमय कोश तक ले जाया जाता है, तब यह मुख द्वारा बाहर निकलता है। इस प्रकार नियंत्रित स्वर गोलाकार चक्र के रूप में निकलता है फिर इसका प्रयोग अलग-अलग रागों में होता है।

'नारद संहिता' में कहा गया है -

''खगाः मृगाः पतंगाश्य कुरंगाद्यपि जन्तवः।
सर्व एव प्रगायन्ते गीताव्याप्ति दिगन्तरे।। [8]

अर्थात्, 'पक्षी, भ्रमर, पतंगे, मृग आदि जीव जन्तु तक गायन करते रहते हैं। गीत ब्रम्हाण्ड व्यापी है।''

'संगीत रत्नाकर' में नाद को बाईस श्रुतियों में विभक्त किया गया है। ये श्रुतियाँ कान से अनुभव की जाने वाली विशिष्ट शक्तियाँ है। इसका प्रभाव मानव के शरीर एवं चेतना पर पड़ता है। इन बाईस शब्द श्रुतियों के नाम है - (1) तीव्रा (2) कुभुद्वती (3) मन्दा (4) छन्दोवती (5) दयावती (6) रंजती (7) रक्तिका (8) रौद्री (9) क्रोधा (10) वज्रिका (11) प्रसारिणी (12) प्रीति (13) मार्जनी (14) क्षिति (15) रक्ता (16) सन्दीपनी (17) अलापिनी (18) मदन्ती (19) रोहिणी (20) रम्या (21) उग्रा और (22) क्षोभिणी।

अर्थात् इन बाईस ध्वनि शक्तियों को सप्त

स्वरों के साथ सम्बद्ध किया गया है इसके द्वारा उत्पन्न ध्वनि भौतिक एवं चेतनात्मक प्रभाव को दर्शाता है। जिस प्रकार औषधि द्वारा रोगोपचार होता है उसी प्रकार बाईस शक्तियों द्वारावस्तुओं और प्राणियों पर प्रभाव डाला जाता है। प्राचीन काल से ही इस रहस्यमयी विज्ञान को नादब्रह्म कहते हैं। यह जड़, चेतना, प्रकृति आदि को प्रभावित कर अवांछनिय परिस्थिति उत्पन्न करता है, एवं चमत्कारी सफलता प्राप्त करता है। नाद-योग की साधना किसी भी उच्चकोटि की साधना से कम नहीं है।

नाद का अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति कर सकते हैं, परन्तु जो लोग संगीत से जुड़े हैं उनके लिए नाद का अभ्यास अति आवश्यक एवं लाभदायक है। नाद का अभ्यास सिद्ध पुरूष एक क्रम-बद्ध तरीके से करते हैं जिससे साधक को सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वर पर नाद की संवेदना का बोध होता है। नाद द्वारा साधक अपनी चेतना एवं अपनी आन्तरिक शक्ति के बीच एक कड़ी बनाता है। स्वर चेतना का अभ्यास कर व्यक्ति बाहरी के बजाय आन्तरिक पर विश्वास करने लगता है। और वह बाहरी रूप से जो खुशी का अनुभव करता है उससे कहीं ज्यादा वह अपने आन्तरिक पर विश्वास एवं आनंद का अनुभव करने लगता है।

यह धारणा कि ब्रम्हाण्ड मात्र स्वर के कम्पनों का प्रक्षेप है, वास्तविक अनुभव के आधार पर निरूपित थी। भारतीय देव कुल में स्वर का आंतिम अनुभवातीत परा नाद उसी स्तर पर है जिस स्तर पर ब्रम्हाण्डीय श्रोत या परब्रम्ह है। मुस्लिम संतो ने कहा है कि संसार की उत्पत्ति स्वर एवं आकार से हुई है तथा इसाइयों का बाइबिल भी कहता है, "आरंभ में शब्द (स्वर) था तथा शब्द भगवान के साथ था तथा शब्द भगवान् था।"[9]

'संगीत की साधना' 'नाद योग' जैसी है परन्तु नाद योग में पूर्ण सजगता द्वारा व्यक्ति अपनी चेतना के स्तर पर भ्रमण करता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए नाद साधना अलग-अलग समय को भी प्रभावित करता है। ऐसा पाया गया है कि जिस राग का जो समय निश्चित है उस समय राग गानें पर उस राग की मधुरता या उसका प्रभाव वातावरण पर कुछ अधिक ही पड़ता है। नाद का प्रयोग कुण्डलिनी जागरण में किया जाता है। इसका प्रभाव पँच कोशों पर भी पड़ता है। जो हमारे शरीर के अन्दर सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। यह शरीर की गहराइयों में प्रवेश कर हृदय, फेफड़े, मस्तिष्क, रक्त संचार आदि में नाद या कम्पन है। नाद द्वारा योगी अपनी आज्ञाचक्र जागृत करते है। जिसे त्रिनेत्र के नाम से जानते हैं। योगी हो या संगीत साधक निरन्तर अभ्यास द्वारा वह अपने स्वैछिक विन्दु पर विजय प्राप्त करते है।

स्वर साधना का उपयोग अभ्यास सजगता से खींचते है एवं उसका अनुभव करते है। यह बैखरी अभ्यास कहलाता है। साधक स्वर को साधना एवं ऊपर नीचे कर गीतों को सुनते है एवं चक्रों से जोड़ कर स्वर को गति प्रदान करते है, एवं कम्पन महसूस करते है। चक्रों द्वारा उर्जा का प्रवाह तीव्रता से महसूस कर सकते हैं। और धीरे-धीरे सूक्ष्म रूप से मानसिक स्वर का अनुभव करते हैं। स्वर साधक इस अभ्यास को शुरू में अपनी क्षमता अनुसार करते हैं और धीरे-धीरे इसके समय को बढ़ाते हैं।

अतः संगीत एवं योग दोनों में नाद तत्व को देखा गया है इसका अभ्यास योगी साधक ही नहीं बल्कि संगीतज्ञ के लिए भी आवश्यक है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक ओर जहाँ योग में नादानुसंधान के माध्यम से अनाहत नाद को प्राप्त किया जा सकता है एवं वहीं दूसरी ओर संगीत की असीम शक्ति को महसूस किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(1) संगीत रत्नाकर 1/21
(2) संगीत विशारद पृ0 सं0 33
(3) संगीत रत्नाकर 1/24-25
(4) योगांक पृ0 सं0 11
(5) धारणा दर्शन पृ0 सं0 423
(6) वही पृ0 सं0 425-426
(7) संगीत रत्नाकर पृ0 सं0 1/2/2
(8) नारद संहिता पृ0 सं0 3/27
(9) धारणा दर्शन पृ0 सं0 427

संगीत एवं मनोविज्ञान

प्रशान्त कुमार तिवारी एवं
डॉ. इभा सिरोठिया
रिसर्च स्कॉलर तथा एसोसिएट प्रोफेसर

संगीत अर्थात् सुर, लय व ताल से सजी, एक भावाविभोर कर देने वाली ललित कला, जिसका मूल उद्देश्य मानव-हृदय का रंजन करना है। संगीत ईश्वर द्वारा प्रदत्त, एक नादमय, सुरमय व आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को सृजित कर देने वाली एक अनुपम कला माना गयी है। हमारे ऋषि-मुनियों ने इसे भगवत् प्राप्ति, का सुलभ व सरल माध्यम माना है। संगीत मानव मन में बसा एक अनाहद नाद है जिसे समझने व मानने के लिए, व्यक्ति को सबसे पहले अपने मन पर स्थिर होने की जरूरत होती है। हमारे मानसिक भावों का दर्पण ही, हमारे संगीत में भी मुखरित होता है। मानव का अपना चरित्र, व्यक्तित्व, कृतित्व, साहित्य, स्थायित्व व किसी ललित कला के प्रति के प्रति उसका आकर्षण उसके मन में उठने वाले भावों, उद्वेगों, संवेगों, अभिरूचि, तथा उसके व्यक्तिगत मानसिक स्तर पर निर्भर करता है, जो संगीत के साथ जुड़कर आज संगीत व मनोविज्ञान के रूप में उभर कर हमारे सामने आ रहा है। मानव के व्यवहार का गहन व सुव्यवस्थित अध्ययन मनोविज्ञान का मूल क्षेत्र है। व्यापक रूप से मनोविज्ञान का सम्बन्ध मानव के व्यवहार, आचरण और उसके अनुभव से है। अनुभव मन का धर्म है और व्यवहार, मन का कर्म। अतएव मनोविज्ञान का सम्बन्ध प्रायः सभी ज्ञानात्मक क्षेत्रों से जुड़ जाता है। संगीत एक ललित कला होने का साथ ही, मनोविज्ञान से जुड़ा एक यथार्थ सत्य है जो जन्म से मृत्यु तक उसके साथ-साथ चलता है। संगीत कभी तो उत्तेजना का रूप ग्रहण करता है, तथा दूसरों को प्रभावित करता है और स्वयं भी उन उत्तेजनाओं से प्रभावित होता है। इन दोनों ही स्थितियों में संगीत व मनोविज्ञान का सीधा सम्बन्ध होता है। संगीत के उद्गम और विकास में जब कभी क्यों ? और कैसे ? ऐसे प्रश्न आये हैं, वहाँ हमें मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ा, क्योंकि मानव की क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं ही मानव व्यवहार को अभिव्यक्त करती है, और इसी क्रम में संगीत अध्ययन को एक तर्क संगत, मनोवैज्ञानिक आधार मिला, जिसके सहारे संगीत के आदिमय अर्ध विकसित और अरूपान्तरित रूप को समझने का प्रयास चला।''[1]

संगीत अध्ययन में मनोविज्ञान व परीक्षण अपनाने का औचित्य भी है, और आवश्यकता भी। आचार्य रजनीश के अनुसार ''मन, पदार्थ और चेतन के बीच, स्थूल व सूक्ष्म के बीच या फिर बाहर व भीतर के बीच एक सेतु है, जिसके माध्यम से एक भाव दूसरे भाव तक पहुँचता है। मस्तिष्क यदि तर्क पूर्ण विवेचन करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है तो मन अनायास ही सुख व सौन्दर्य के प्रति आसक्त हो उठता है।''[2] मनोविज्ञान व संगीत के प्रयोग के सन्दर्भ में कहा गया है कि ''प्रत्येक मंत्र से पहले का उच्चारण या फिर ऊँ का पुनरुक्ति से किया गया। उच्चारण क्रमबद्ध, लयबद्ध या वृत्तकार रूप से ध्वनि तरंगों से निर्मित होता है, जो एक गति चक्र को जन्म देता है जिसके फलस्वरूप हुए परिणामों को ही मन्त्रों का चमत्कार कहा जाता है।''[3] स्पष्ट

है कि मन्त्रों का सम्यक उच्चारण व श्रवण हमारे मन को प्रभावित कर, व्यक्ति में ऊर्जा का संचार करते हैं जो संगीत स्वर लहरियों से ओत-प्रोत होता है। संगीत व मनोविज्ञान दोनों साथ-साथ चलने वाली नदी की दो धारायें हैं जो साथ रह कर भी अलग-अलग विशेषताओं को अपने अन्तः में समेटे हुए है, अतएव इनका संक्षिप्त विवरण देना भी आवश्यक हो जाता है-

मनोविज्ञान

ग्रीक भाषा मनोविज्ञान का अर्थ 'Psyche' अर्थात् 'आत्मा' तथा Logas का अर्थ 'ज्ञान का विज्ञान' अथवा 'विचार-विमर्श' कहा गया है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 'रूडोल्फ गोयकिल' ने सन् 1950 में दार्शनिक रूप में किया। शाब्दिक अर्थों में मनोविज्ञान को 'आत्मा का विज्ञान' कहा गया है। दैहिक शास्त्र (Physiology) शरीर संरचना में आत्मा की कोई व्याख्या नहीं करता। इसीलिए 'आत्मा' का विज्ञान बाद में 'मन का विज्ञान' (Science of Mind) के रूप में सामने आया।[4] प्राचीन काल के विचारकों के अनुसार ''मनोविज्ञान दर्शन शास्त्र की वह शाखा है जिसमें मन और मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।''[5]

मैकडूगल ने कहा है- ''चेतना एक बहुत ही बुरा शब्द है और मनोविज्ञान के लिए बहुत ही दुर्भाग्य की बात है कि यह शब्द साधारण प्रयोग में आ गया है।''[6]

"Consciousness is a thoroughly bad word It has been a great misfortune for Psychology that the word has come into general use." मनोविज्ञान के सन्दर्भ में विभिन्न विचार व परिभाषाएं समय परिवर्तन के साथ दी गयी, जिसमें से कुछ विद्वानों का अभिकथन प्रस्तुत है- वुडवर्थ- ''सर्वप्रथम मनोविज्ञान ने अपनी आत्मा का त्याग किया। फिर अपने मन का त्याग किया, तत्पश्चात अपने चेतना का त्याग किया और अब वह, व्यवहार के ढंग को स्वीकार करता है।''

वाटसन- ''मनोविज्ञान व्यवहार का शुद्ध विज्ञान है।''

विल्सबरी- ''मनोविज्ञान व्यवहार का विज्ञान है।''

स्किनर- ''मनोविज्ञान जीवन की विविध परिस्थितियों के प्रति प्राणी की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करता है।''

प्रस्तुत परिभाषाओं के आधार पर यह तथ्य विदित होता है कि मनोविज्ञान के अध्ययन से हमें प्राणी मात्र के क्यों, कैसे, कितना आदि प्रश्नों के उत्तर प्राप्त होते है। किसी प्रकार का विशेष व्यवहार, मनुष्य क्यों एवं किस प्रकार से करता है, उसकी क्या-क्या विशेषताएं है ? वे कितने प्रकार के है ? उसके अनुभवों की रूपरेखा क्या है ? तथा उनकी पहचान क्या है ? आदि प्रश्नों का उत्तर भी हमें अन्य विज्ञानों की भाँति मनोविज्ञान द्वारा ही प्राप्त होते हैं।[7]

मनोविज्ञान का आधुनिक स्वरूप :

पहले मनोविज्ञान, मन के स्थान पर सीधे ही मानसिक क्रियाओं अथवा व्यवहार पर अपना बल देता है। इसमें मानव तथा पशु की व्याख्या करना कठिन था। अतएव मनोविज्ञान के इस रूप को अत्यधिक आलोचनाओं के फलस्वरूप त्याग कर दिया गया और इस चेतना का विज्ञान (Science of Consciousness) नए प्रकार से परिभाषित किया गया। वर्तमान मनोविज्ञान की ल्हू इन शब्दों में परिभाषित किया है।'' "Psychology is the science of behaviour and congnitive processes."[8]

20 वीं शताब्दी के आरम्भ में मनोविज्ञान के अनेक अर्थ बताए गये जिनमें सबसे अधिक मान्यता इस अर्थ को दी गई कि- ''मनोविज्ञान व्यवहार का विज्ञान है।'' दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि इस शताब्दी मे मनोविज्ञान को, व्यवहार का निश्चित विज्ञान माना जाता है। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख लेखकों के विचारों को निम्नांकित पंक्तियों में दर्शाया जा रहा है-

वाटसन- ''मनोविज्ञान, व्यवहार का निश्चित विज्ञान है।''

"Psychology is the positive science of behaviour"- Watson (P.2)

यदि हम आधुनिक लेखकों के विचारों का विश्लेषण करें तो हमें निश्चित विज्ञान के रूप में मनोविज्ञान के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं -

(अ) मनोविज्ञान एक विधायक विज्ञान (Positive Science) है।

(ब) मनोविज्ञान भौतिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के वातावरण का अध्ययन करता है।

(स) मनोविज्ञान न केवल व्यक्ति के व्यवहार का अपितु पशु-व्यवहार का भी अध्ययन करता है।[9]

संगीत एवं मनोविज्ञान का सम्बन्ध

मनोविज्ञान एक विज्ञान है, जिनमें क्रमशः आत्मा, चेतना मानव मन व्यवहार, अनुभव, वातावरण आदि के सन्दर्भ में क्रियाकलाप, प्रेरक शक्तियों, मानव पशु के मानसिक जीवन आदि का उल्लेख है, जो वस्तुतः मनोविज्ञान के उतरोत्तर विकसित स्वरूप एवं परिवर्द्धित क्षेत्र का परिचायक है। आरम्भ में मनोविज्ञान का क्षेत्र भले ही आत्मा तक सीमित था, लेकिन बाद में उसका स्थान चेतना ने लिया। तत्पश्चात् चेतना के साथ मन, व्यवहार, अनुभूतियाँ, प्रेरणास्रोतों आदि का अध्ययन होने लगा।[10]

संगीत और मनोविज्ञान के सम्बन्ध के बारे में पाश्चात्य विद्वान फ्रायड् ने कहा है कि "संगीत की उत्पत्ति एक शिशु के समान मनोविज्ञान के आधार पर हुई है, जिस प्रकार बालक रोना, हंसना, चिल्लाना आदि क्रियाएं मनोविज्ञान के आवश्यकतानुसार स्वयं सीख जाता है। उसी प्रकार संगीत का प्रादुर्भाव मानव में मनोविज्ञान के आधार पर स्वयं हुआ।"[11] प्लेटो संगीत को सभी विज्ञानो का मूल आधार माना है, तो डॉ0 हरदारी लाल शर्मा ने संगीत की भावों का स्पन्दन का विज्ञान कहकर सम्बोधित किया है। रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार "आनन्दमय संगीत में मस्ती एवं आत्म विस्मृति को पाकर, मैं अपने प्रभु को भी अपना मित्र कह डालता हूँ।"[12] इस्लाम में कहा गया है- "आवाज अल्लाहताला की उस सांस से पैदा हुई है, जिसका जन्म 'कुन' शब्द से हुआ है।"[13] 'कुन' यह शब्द सांस की एक प्रतिक्रिया तथा अल्लाह पर विश्वास व श्रद्धा, एक मनोविज्ञान है।

इस विस्तृत विवेचन के पश्चात् हम यही कह सकते हैं कि मनोविज्ञान मानव की व्यक्तित्व सम्बन्धी विज्ञानों का लेखा-जोखा है, तो संगीत ईश्वर द्वारा प्रदत्त एक ललित कला का उपहार, जो मानव मन को संगीत स्वर लहरियों से झंकृत कर, उसे आनन्द प्रदान करने में पूर्णतया सक्षम है। संगीत व मनोविज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू है, जिसका एक पक्ष मानव मन से जुड़ा है तो दूसरा संगीत कला के रूप में उसे प्राप्त एक आनन्द, रंजक कर देने वाली एक विधा है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय संगीत के मूलाधार सुधा श्रीवास्तव।
2. संगीत मधुबन राकेश बाला सक्सेना।
3. अखण्ड ज्योति दिसम्बर 1991 ।
4. सामान्य मनोविज्ञान डॉ0 वीरेन्द्र सिंह।
5. शिक्षा मनोविज्ञान के0पी0 लाल श्रीवास्तव।
6. Online of Psychology Mc Dougall
7. शिक्षा मनोविज्ञान प्रो0 गिरधारी लाल श्रीवास्तव।
8. Source book - Psychology Robert A Baron
9. शिक्षा मनोविज्ञान पी0डी0 पाठक, ममता चतुर्वेदी।
10. रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन डॉ0 गणपति चन्द्र गुप्त।
11. भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास प्रो0 स्वतंत्र शर्मा।
12. संगीत पत्रिका महाराजा कुम्भा संगीत परिषद् उदयपुर।
13. भारतीय संस्कृति पर मुसलमानों का प्रभाव डॉ0 मोहम्मद उमर।

संदर्भ

1 भारतीय संगीत के मूलाधार सुधा श्रीवास्तव, पृ0 60
2 संगीत मधुबन राकेश बाला सक्सेना, पृ0 130
3 अखण्ड ज्योति दिसम्बर 1991, पृ0 27
4 सामान्य मनोविज्ञान डॉ0 वीरेन्द्र सिंह, पृ0 7
5 शिक्षा मनोविज्ञान के0पी0 लाल श्रीवास्तव, पृ0 4
6 Online of Psychology Mc Dougall, P 16
7 शिक्षा मनोविज्ञान प्रो. गिरधारी लाल श्रीवास्तव, पृ0 1
8 Source book-Psychology Robert A Baron, P 7
9 शिक्षा मनोविज्ञान पी0डी0 पाठक, ममता चतुर्वेदी, पृ0 7
10 रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन डॉ0 गणपति चन्द्र गुप्त, पृ0 204
11 भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास प्रो0 स्वतंत्र शर्मा, पृ0 13
12 संगीत पत्रिका महाराजा कुम्भा संगीत परिषद् उदयपुर, पृ0 100 (2001-02)
13 भारतीय संस्कृति पर मुसलमानों का प्रभाव डॉ0 मोहम्मद उमर, पृ0 225

भारतीय फिल्म संगीत में ताल-निर्वहन

डॉ. इन्दु शर्मा 'सौरभ'

विभागाध्यक्ष—संगीत, इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद

गीत संगीत का भारतीय जीवन शैली में अभिन्न स्थान रहा है इसलिए सवाक् फिल्मों में भी प्रारम्भ से ही गीत संगीत की प्रधानता रही है बिना गीत संगीत के फिल्म की सफलता की कल्पना भी नहीं कि जा सकती है। भारतीय फिल्मों में संगीत का महत्व उस समय से है जब मूक फिल्में बन रही थीं इन मूक फिल्मों हेतु पर्दों के सामने एक पिट में साजिन्दे बैठा दिये जाते थे और वे दृश्य के अनुकूल धुनें बजाते रहते थे। बोलती हुई फिल्मों का निर्माण शुरू होने पर संवादों के साथ गीत भी जुड़ गये।

भारत में 14 मार्च 1931 को पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' से ही फिल्मों में संगीत प्रवेश कर गया। इस फिल्म में फिरोज शाह एम0 मिस्त्री एवं वी0 इरानी ने संगीत दिया था। इसमें पहला गाना 'दे दे खुदा के नाम पे' डब्ल्यू0 एम0 खान ने गाया था। तब रंग मंच पर पारसी शैली के नाटकों का पूरा पूरा प्रभाव था। इन नाटकों में तड़क-भड़क थी और गीतों में रामबद्ध संगीत का प्रयोग इनकी मुख्य विशेषता थी। इस फिल्म में हारमोनियम, तबला एवं सारंगी का ही प्रयोग किया गया था व इसमें सात गाने थे। जैसे जैसे फिल्म तकनीक का विकास हुआ और फिल्मकला की संभावनाएँ बढीं वैसे वैसे इस कला में निजीपन आने लगा। जल्दी ही पारसी रंगमंच के गीत संगीत की शैली फिल्म संगीत ने त्याग दी। उसने अपनी नई शैली विकसित कर ली। उन दिनों पार्श्वगायन की तकनीक आज जैसा प्रचार नहीं था और सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं थी। इतने सारे वाद्ययंत्रों का प्रयोग भी नहीं हुआ करता था। फिल्मों में काम करने वाले कलाकारों को ही माइक के सामने खड़े होकर गाना होता था, जिसे पार्श्वगायन की तरह प्रत्यक्ष गायन मानना उचित होगा।

'आलम आरा' के बाद कुछ संगीत प्रधान फिल्में आईं जैसे 'शीरी फरहाद', इसमें 17 गाने थे इसके गानों को जहाँ आरा कज्जन ने गाया था और मास्टर निसार ने अभिनय के साथ गाया। जहाँ आरा कज्जन की सुरीली आवाज और बेहतरीन रिकार्डिंग के कारण देश भर में इसने खूब प्रशंसा और पैसा कमाया। यही वो फिल्म थी जिसने आगामी प्रत्येक फिल्म के लिए संगीत को अनिवार्य कर दिया था। इसके बाद की फिल्म "लैना मजनू' में 22 और 'शकुन्तला' में 41 गाने थे। इसके बाद तो सभी फिल्मों में गीत संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका रही। 1932 से 1940 के बीच आई फिल्में—'राजा हरिश्चन्द्र, पूरन भगत, यहूदी की लड़की, भाग्यचक्र, चंडीदास, देवदास, धूपछाँव, अछूत कन्या, पुकार, प्रेसिडेंट, स्ट्रीट सिंगर, आदमी, बड़ी दीदी, कपाल कुण्डला, कंगन, बंधन व जिन्दगी आदि' फिल्मों में संगीत का जादू सर चढ़कर बोला।

फिल्म 'पूरन भगत' से संगीत निर्देशक आर0 सी0 बोराल ने फिल्मों में आर्केस्ट्रा भी प्रारम्भ कर दिया। 'भाग्य चक्र' से पार्श्व गायन की परम्परा शुरू हो गयी। 'आदमी' फिल्म में पं0 वी0 शान्ताराम जो कि इसके संगीत निर्देशक थे, उन्होंने भारत की छः भाषाओं का गीत इस फिल्म में पेश किया। फिल्म 'बंधन' में सरस्वती देवी के संगीत निर्देशन में गीत 'चल चल रे नौजवान' कोरस में गाया गया राष्ट्रीय चेतना की भावना से ओत-प्रोत था जिसे कविवर प्रदीप ने लिखा था। इस प्रकार 40 के दशक से ही फिल्म संगीत के सुनहरे सफर की शुरुआत हो गयी।

1950 से ही फिल्म संगीत ऐसे दौर से गुजरा जिसे आज स्वर्ण युग के नाम से जान जाता है। उस समय के संगीतकारों की खासियत थी कि उनके पास संगीत की अपनी शैली थी। सबकी अपनी मौलिकता उनके किये गये नये-नये प्रयोगों में झलकती थी। 1950 से 1975 तक अविस्मरणीय संगीत प्रधान फिल्मों की कतार लग गयी।

इस प्रकार फिल्मों में संगीत दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही चला गया। नये-नये संगीत निर्देशकों ने फिल्मों को संगीत प्रदानकर इसे इतना लोकप्रिय बना दिया कि आज फिल्म-संगीत सभी की आवश्यकता बन गया है। कुछ प्रमुख संगीत-प्रधान गीतों में ताल-निर्वहन की भूमिका की भी बताने का प्रयास किया है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रत्येक गायन शैली के साथ एक विशेष ताल और लय का चुनाव होता है। जिस प्रकार सप्तक के स्वर मूड से सम्बन्धित हैं, जैसे—शृंगार, वात्सल्य, हास्य, करुण, शांत रस के गायन वादन के लिए तीन ताल, झपताल, एकताल, कहरवा, दादरा, रूपक, दीपचंदी, धुमाली आदि चंचल तालों का प्रयोग किया जाता है। इन तालों का प्रयोग भजन, गजल, ठुमरी, टप्पा, ख्याल एवं तराना आदि के लिए होता है। ध्रुपद, धमार, ख्याल आदि गंभीर प्रकृति की शैलियों के चारताल, धमार, तीव्रा, सूलताल, रुद्र, मत्त एवं शिखर आदि गंभीर प्रकृति की तालों का प्रयोग होता है। उपयुक्त तालें वीर, रौद्र, अद्भुत, शान्त आदि रस की द्योतक हैं।

मध्यलय में कहरवा ताल में निबद्ध फिल्मी गीत

फिल्म संगीत में अनेक शास्त्रीय तालों तथा उनके विविध स्वरूपों का प्रयोग समय-समय पर संगीतकार करते रहे हैं। फिल्म संगीत में सर्वाधिक प्रचलिततताल कहरवा व दादरा है। ये तालें चंचल प्रकृति की तथा शृंगार प्रधान हैं। इन तालों का निर्वाह फिल्मी गीतों में सर्वाधिक किया गया है। इन्हीं तालों से फिल्मीगीतों को भी सुन्दरतापूर्वक, वैचित्र्य-विविधताओं से विभिन्न ताल स्वरूपों द्वारा सजाया गया है। यहाँ हम केवल मध्यलय में कहरवा ताल में निबद्ध कुछ प्रसिद्ध फिल्मी गीतों को ताल लिपिबद्ध कर रहे हैं—

मध्यलय में कहरवा ताल में निबद्ध फिल्मी गीत और तालप्रकार

(1) गीत के बोल–पपीहा रे, मोरे पिया से कहियो जाय 'किस्मत' (अनिल-विश्वास)

1. धाती तीताा ताता धित्रा।
2. धाऽ धाती ताऽ धाती।
3. धाती धिन धाती ऽऽ।

(2) धीरे-धीरे आरे बादल–'किस्मत' अनिल-विश्वास

1. धिन धागे नधि नक।

(3) हम आज कहीं दिल खो बैरू– 'अंदाज' नौशाद

1. धाड धिंधिं ताऽड धिंधि।

(4) जाऊँ कहाँ बता ऐ दिल–लता जी

1. धीऽऽता ऽऽताऽ ऽऽताऽ धीऽताऽ।
2. धिंता धिंता धिंता तिंता।
3. धिऽऽत्त धिधित्ताऽ तित्ताऽ धित्ताऽ।

(5) कहीं दूर जब दिन ढल जाए– सलिल चौधरी संगीतकार

1. धिंऽताऽ ऽऽतिंऽ धिंऽताऽ तततत।
2. धेत्ताऽ ऽऽतिट धेऽत्ताऽ तततत।

तत् को तबले पर दबाकर बजाया गया है।

(6) दिन ढल जाये– गाइड- एस0 डी0 वर्मन

1. धाऽधिंऽ धाधाधिंऽ धाऽतिंऽ ताताधिंऽ।

(7) माहे भूल गये सांवरिया–बैजूबावरा–नौशाद

1. धाऽधिन धिऽधिंऽ ताऽताऽ धिंऽधिंऽ।
2. धागेधेधे धेधेताऽ ताऽताऽ धिंऽधिंऽ।

(8) ओ मितवा ये दुनिया क्या– 'जल बिन मछली, नृत्य बिन बिजली लक्ष्मीकान्त प्यारेलाल

1. धाधा धिंति ताति धिंऽ

धाधा पर बायें से जोर दिया गया है।

(9) जो मृत तोड़ो पिया– झनक-झनक पायल बाजे– बसंत देसाई

1. धीकधाऽ गिध्धाऽ तित्धाऽ धिध्धा।
2. धीऽकधा धित्राना तित्धाऽ धित्रा।
3. धीऽगधा धिन्ताऽ तिंऽतानातिंऽताना।

(10) <u>ये कौन आया रौशन हो गई–</u> साथी-नौशाद

1. धिंति ऽतिं ताता धिंधि।

(11) <u>निर्बल से लड़ाई भगवान की–</u> दिया और तूफान–वसंत देसाई

1. धि नन धिं ना। धिं नन तिं ना। **कुछ अलग वाद्य बजा है।**

(12) <u>मुरलिया बाजे री जमुना के तीर-</u> <u>दिया और तूफान</u>– वसंत देसाई

1. धिंऽ तातिं नक धिंऽ।
2. धाऽ धातिं ऽऽ तिंऽ।

(13) <u>हर दिल जो प्यार करेगा</u>– संगम–शंकर-जयकिशन

1. धाऽ तिट ताऽ धिट।

(14) <u>साथी हाथ बढ़ाना–</u> नया दौर–ओ. पी. नैयर

1. धिंऽ ताधिं धिंधिं ताऽ।
2. धाधिं ताधिं ताधिं धाधिं।

(15) <u>ना तो कारवाँ की तलाश है–</u> बरसात की रात–रोशन

1. धित्ता तित्ता तित्ता धित्ता।
2. धाधिं धिधि नातिं धिंऽ।

(16) <u>तुम रूठ के मत जाना–</u> फागुन–ओ. पी. नैयर

1. धेत्ता धेत्ता ऽऽ धेत्ता

(17) <u>मिलो ना तुम तो हम घबरायें–</u> लता जी 'हीर-राँझा' मदन मोहन

1. धाधि धिंधिं नक धिन।
2. धाऽ ऽधि नक धिन।
3. धिधि ऽधा नक धिन।

(18) <u>हे शिवशंकर, हे करुणाकर–</u> सुरसंगीत–लक्ष्मीकान्त प्यारेलाल

1. धाऽऽधि किटधाऽ धाऽऽधि किटधाऽ।

(19) <u>धन्य भाग्य सेवा का अवसर पाया–</u> सुर संगीत–लक्ष्मीकान्त प्यारेलाल

1. धिंऽधाधिं ऽधिंधाऽ तिंऽतातिं ऽतिंताऽ।
2. धिंऽधाधिं ऽधिंधाऽ धाधाधाधिं ऽधिंधाऽ।
3. घेघेधागे ऽघेधागे ऽघेधागे धाधाधाऽ।
4. धाधाधाधिं ऽधिंधाड तातातातिं ऽतिंताड।

(20) <u>साध रे मन सुर को साथ रे–</u> सुर संगीत–लक्ष्मीकान्त प्यारेलाल

1. धिंऽधाधिं ऽधिंताता तिंऽताता धिंधिंधाऽ।
2. धिंऽधाधिं धिंऽधाऽ तिंऽतातिं तिंऽताऽ।
3. धीऽधाधि धिधिनाना तीऽगताति तितिनाना।
4. धाधाधाति नकधिन धाधाधाति नकधिन।

(21) <u>का करुँ सजनी, आये ना बालम–</u>

1.धाधाधाऽ धीऽगधाऽ तातााऽ तीऽगताऽ।
2. धाधिं ऽधिं नक धिन तातिं ऽतिं नक तिन।
3. धाधिं ऽधिं नक धिन तातिं ऽतिं धाधा तिरटिक।
4. धाधिं ताधिं ताधिं तातााकिट।
5. धाधिं धातिं ताधिं धातिं।
6. धिधि धाति नक धिन।

बाएँ से घिसकर भराव दिया गया है, दाएँ से उंगली दबाकर बजाया गया है जिसे चिप्पी कहते हैं।

7. धाऽऽधीं ऽगधाऽ ताऽऽधीं ऽ
8. धातीधिन धाधिऽन्त तातीगिन तातिऽन्त।
9. धातीधिन धाधानाना तातीगिन तानानाना।

(22) <u>सुर ना सजे क्या गाउँ मैं–</u>

1. धाऽ धिनकधिं ताता धिंधिं।
2. धाऽ धिंधि ताऽ धिंधिं।
3. धाऽ धिनकधिं ताऽ धिं।

(23) <u>मोहब्बत की झूठी कहानी पै रोये–</u> मुगल–ए-आजम- नौशाद

1. धाऽग धाधि नक धिन।

(24) <u>खुदा निगेहवा हो तुम्हारा धड़कते दिल का–</u> मुगल–ए-आजम-नौशाद

1. धाऽकधि नकधिन तकतक धिनधिन।
2. धाऽऽधि नकधाऽ ऽऽताऽ ऽऽताऽ।

(25) मिलते ही आँखें दिल हुआ- बाबुल-नौशाद

1. धिन्ना धिन्ना नाकि धिन।
2. धाती ताति नाकि धिन।
3. धिन्ना धिन्ना तिन्ना धिन्ना।
4. धिन्ना धिन्ता धिन्ना धिन।
5. धाऽधेधे नाति नक धिन।

विशेष–नौशाद जी के संगीत में जब कहीं गीत में तबला बजा है तो बोल 'धा' से शुरू हुआ है, जब ढोलक बजी है तब धिन' से शुरु हुआ क्योंकि तबले में चाँटी व मैदान है जो ढोलक में नहीं है।

(26) इन आँखों की मस्ती में– उमरावजान-खैयाम

1. धिंऽ धाधिं ऽधिं तकतक।
2. धिंऽ धाधिं ऽधिं ताताटिट।
3. धाऽतिट धाधातिट ताताटिट धाधातिट।
4. धिंधि ताधिं धिंधिं ताताटिट।

(27) जिन्दगी जब भी तेरी-उमराव जान- खैयाम

1. धाऽऽऽधि नकधिंऽ ताऽऽधि नकधिंऽ।

(28) ये क्या जगह है दोस्तो–उमराव जान-खैयाम

1. धिंऽ धाधिं ऽधिं धाऽ।
2. धाऽऽधि नकधिन ताताताधि नकधिन।
3. धाती ताधा धाति धित्ता।
4. धिंऽ धाधिं ऽधिं धाधातिट।
5. धाधिं धातिं ताधिं धाधातिट।

(29) दिल की आरजू थी–निकाह-रवि

1. धिंधिं ताधिं तिंधिं धातिं।

(30) बीते हुए लम्हों की कसक-निकाह- रवि

1. धिंधिं ताधिं ऽधिं धातिं।

(31) आज पुरानी राहों से–आदमी नौशाद

1. धाऽधिंऽ नाऽधिंऽ ताऽताऽ धिंऽधिंऽ।

(32) रुक जा रात रूहर जा रे चंदा- दिल एक मन्दिर-शंकर-जयकिशन

1. धाता धिंधिं ताता धिंऽ।

(33) रसिक बलमा-चोरी-चोरी-शंकर- जयकिशन

1. धाऽतिट ताऽतिट ताता धिंऽ।

(34) एहसान तेरा होगा मुझ पर–जंगली- शंकर-जयकिशन

1. धाऽतिट धिंधिं ताता धिंधिं।

(35) मिलती है जिन्दगी में–आँखें-रवि

1. धाति तेत्त ताती धाती।

इसमें तेत्त बोल पर जोर से थाप दी गई है।

(36) सत्यं शिवम सुन्दरम्–लक्ष्मीकान्त- प्यारेलाल

1. धाऽऽधि नकधिंऽ धाधातिट धाधातिट।

इसमें ताल संगत हेतु घडा भी बजाया गया है।

(37) लो आ गई उनकी याद–दो बदल -रवि

1. धाऽ तिति नकतिंऽ धिंधिं।

(38) दिखाई दिये –बाजार-खैयाम

1. धिंता ऽतिं ऽता धिंधिं।
2. धिंता तिंतिं तिंता धिंधिं।
3. धातिं तातिं ताता धिंधि।

(39) दिल के अरमाँ आँसुओं में–निकाह- रवि

1. धित्ता तित्ता तित्ता धित्ता
2. धिध्धा धिध्धा धिध्धा तित्धा।

(40) रंगीला रे तेरे रंग में–प्रेम पुजारी – एस0डी0 वर्मन

1. धिंऽ तक धिंऽ ऽऽ धिं ताक ताक धिंऽ।

(41) तुम्ही मेरे मंदिर–खानदानूमत

1. धाधि धाती ताधी धाती।

इसमें धा बोल पर बाएँ से जोर दिया गया है। इसमें संतूर का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

17-Back Side K

हिन्दी चित्रपट गीतों में शास्त्रीय रागों का प्रयोग

सुप्रिया सोढी

रिसर्च स्कॉलर, म्युजिक डिपार्टमेन्ट, पंजाब युनिवर्सिटी, चंडीगढ़

जैसा कि हम जानते और देखते-सुनते हैं कि चित्रपट गीतों ने आज के समय में हर तरफ अपनी एक पहचान बना ली है जो कि लोगों के मनोरंजन का एकमात्र साधन होने के कारण काफी पसन्द किया जाता है। यूं तो पूरे भारत वर्ष में अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। हर प्रान्त की एक अपनी संस्कृति है, अपनी भाषा है, खान-पान, रहन-सहन का ढंग है। यहां तक कि हर प्रान्त का अपना लोक संगीत है। परन्तु इतना सब अन्तर होने के बावजूद भी सिर्फ एक संगीत ऐसा है जिसे भारत वर्ष के हर कोने में सुना जाता है और हर जगह उसे उसी जोश और प्यार से अपनाया भी गया है। इस संगीत को हिन्दी चित्रपट संगीत कहा जाता है। भारत में चित्रपटों का निर्माण भी अनेक भाषाओं में होता है जैसे तेलगू, मराठी, बंगाली, पंजाबी इत्यादि। किन्तु सिर्फ हिन्दी चित्रपट गीत-संगीत को ही इतनी सराहना क्यों मिल रही है? इसका विशेष कारण यही है कि भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी होने के कारण यह हर प्रान्त में बोली जाती है और इसी कारण से यह हर व्यक्ति के लिए समझने में आसान है। हिन्दी चित्रपट गीतों में ऐसा क्या है जो जनता द्वारा इतना पसन्द किया जाता है, तथा हर तरफ सुनाई देता है चाहे वह देश हो या विदेश? व्यक्ति कहीं भी, किसी भी समय उस संगीत/गाने को सुन कर उसका आनन्द उठा सकते हैं। गीत-संगीत मन को शान्ति और सुकून का एहसास करवाता है और थके हारे मन को और शरीर में स्फूर्ति का संचार करता है।

आज कल बहुत तरह का संगीत सुनने में आता है जैसे-Jazz, Country, Remix, Fussion, Punjabi इत्यादि, किन्तु जो सबसे ज़्यादा संगीत सुनाई देता है वह है हिन्दी चित्रपट संगीत, क्योंकि हिन्दी चित्रपट संगीत ही ऐसा संगीत है जिसमें सभी तरह के संगीत की झलक मिलती है। आज के समय में तेज़ भागती दौड़ती ज़िन्दगी में ठहराव की कमी दिखाई देती है, इसलिए देखा जाए तो गीत-संगीत की दृष्टि से भी लोगों को तेज़ धुनों वाले गीत अधिक पसन्द आते है और उन गीतों को सुनकर, गुनगुना कर व्यक्ति अपनी थकान को भूल कर तरोताज़ा महसूस करता है। सभी गीत तेज़ धुनों पर ही आधारित नहीं रहते। बहुत से गीत धीमी मध्यम लय में भी बनते हैं और वह भी सुनने में उतने ही आकर्षित करते है। चित्रपटों में हमें तेज़ धुनों वाले गीत, रोमांटिक गीत, भक्ति गीत इत्यादि हर प्रकार का संगीत सुनने को मिलता है, जो कि हर उमर के व्यक्ति की अपनी-अपनी पसन्द बन जाता है। कुछ गीत ऐसे भी होते हैं जो लोगों कि पहली पसन्द बन जाते हैं। अब उसमें कारण या तो गीत की धुन है, बोल हैं, गीत के भाव है, या फिर गीत को पर्दे पर फिल्माने का ढंग। हर व्यक्ति गीत को अपनी अलग नज़र से देखता है, महसूस करता है।

व्यक्ति को जो सबसे पहले चीज़ आर्किषत करती है वह है गीत की धुन। यहां हम चित्रपट गीत-संगीत की बात कर रहें हैं लेकिन अगर हम इसकी उत्पति देखें तो पता चलता है कि ये पूरा गीत-संगीत कुल 12 स्वरों पर टिका हुआ है और इन्हीं 12 स्वरों को मिलाकर ही संगीतकारों ने अनगिनत गीतों का निर्माण किया है। यह संगीत तो काफी समय से चला आ रहा है और इसकी जो

नींव है वह भारतीय शास्त्रीय संगीत है जिसके कारण हम आज भी उस संगीत का आनन्द गीतों के माध्यम से उठा रहे हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत टिका है राग पर, तथा राग की उत्पति कैसे हुई? इसके बारे में यही ज्ञात होता है कि जो हमारे महान संगीतज्ञ थे जिन्होंने स्वरों के बारे में जाना-पहचाना और उन्होंने इन 12 स्वरों को इस ढंग से व्यवस्थित किया, यानि कि उन्होंने इन 12 स्वरों में से कुछ-कुछ ऐसे स्वर समूह बनाए जो राग बन गए। राग में कम से कम 5 स्वर और ज़्यादा से ज़्यादा 7 स्वर प्रयोग होते हैं तथा संगीतज्ञों ने स्वरों को लगाने के ढंग से, उनकी प्रकृति के ढंग से उन्हें अलग-अलग रागों में विभक्त किया और उनका नामकरण किया ताकि अन्य लोगों को समझने में कोई मुश्किल न हो। जब से चित्रपटों में संगीत का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो वह शास्त्रीय संगीत पर आधारित रहा, प्रारम्भिक चित्रपटों में तो शास्त्रीय संगीत की बन्दिशों का भरपूर प्रयोग किया गया था। धीरे-धीरे आवश्यकता अनुसार इन में बदलाव किया जाता रहा और पहले आम लोगों के मनोरंजन का एकमात्र साधन भी यही था। पहले संगीतिक सम्मेलनों की शुरूआत हुई, जिसमें महान संगीतज्ञ अपनी कला का प्रदर्शन करते थे और जिसमें उन्हें काफी सराहना मिली या यूं कहें कि काफी लोकप्रियता मिली। फिर धीरे-धीरे लोगों के मनोरंजन के लिए नाटकों का प्रचार शुरू हुआ जिसमें गीत-संगीत भी रहता था और वह भी सिर्फ शास्त्रीय संगीत रागाधारित। फिर धीरे-धीरे समय के साथ परिवर्तन होते रहे और लोगों के मनोरंजन का एक और माध्यम सामने आया। जिसे चित्रपट या चलचित्र के नाम से बुलाया गया। चित्रपट या चलचित्र से भाव है फिल्मों से। जैसे कि पहले बताया गया है कि जब से संगीत की शुरूआत हुई या उसको जाना वह शास्त्रीय संगीत से यानि रागाधारिता संगीत से हुई और नाटकों में भी वही गीत-संगीत गाया जाने लगा। और उसके पश्चात् जब चित्रपटों का निर्माण शुरू हुआ तब उसमें भी शास्त्रीय संगीत पर आधारित ही गीत-संगीत का प्रयोग हुआ। पहले तो चित्रपटों में गीत की जगह राग की बन्दिश को ही हू-ब-हू लिया जाता था और चित्रपट के सभी गीत रागों पर आधारित रहते थे। जिन्हें लोगों ने काफी पसन्द किया। लोगों को जिस चीज़ ने आकर्षित किया वह था मधुर संगीत। यानि चित्रपट के गीत-संगीत को लोगों ने काफी पसन्द किया। कुछ लोग तो फिल्म को देखने ही उसके गीत-संगीत के कारण जाते थे, और जिस चित्रपट के गीतों ने उन्हें अपनी ओर ज़्यादा आकर्षित किया, वो उस चित्रपट को बहुत बार देखने के लिए सिनेमा घर में जाते थे। एक चित्रपट का ज़िक्र यहां मैं करना चाहती हूँ जिसमें सबसे ज़्यादा गीतों का निर्माण हुआ। यह चित्रपट था इन्द्रसभा 1932, जिसमें 72 गीतों का प्रयोग हुआ था। यह उर्दू भाषा में लिखित एक नाटक था, जिसे अगाह हसन अमानत द्वारा 1853 में लिखा गया था तथा बाद में यह इन्द्र सभा नाम पर आधारित चित्रपट बना। यह अब तक का एक ऐसा चित्रपट है जिसमें सबसे ज़्यादा गीतों से सजाया गया था।

पहले चित्रपट गीतों को सुन कर शान्ति, सुकून का एहसास होता था, उन गीतों में मधुरता थी, गीतों के शब्दों में ओछापन नहीं था। गीतों में रस, भाव, सुन्दरता, आकर्षण, मधुरता पूर्ण रूपेण विद्यमान रहती थी और वहीं अपनी ओर आकर्षित करती थी। पहले गीतों में कुछ ज्ञान होता था, कुछ सन्देश मिलता था। और इस सब कार्य का पूर्ण श्रेय संगीत निर्देशकों को जाता है जो गीतों का संगीत बनाते थे तथा गीत-निर्देशकों को जो गीत को उस कहानी के अनुरूप अपने शब्दों में सुन्दरता से पिरो कर सामने रखते थे।

गीत	राग	फिल्म/वर्ष	गीतकार	संगीतकार	गायक/गायिका
1. कान्हा-कान्हा आन पड़ी	खमाज	शार्गिद 1968	मजरूह सुल्तानपुरी	लक्ष्मीकान्त-प्यारेलाल	लता
2. तेरे मेरे मिलन	खमाज	अभिमान 1973	मजरूह सुल्तानपुरी	एस. डी. वर्मन	लता, किशोर कुमार
3. हम को मन की शक्ति	केदार	गुड्डी 1971	गुलज़ार	वसन्त देसाई	वाणी जयराम
4. मोसे छल किए जाए	झिंझोटी	गाईड 1965	शैलेन्द्र	एस. डी. वर्मन	लता
5. तेरे मेरे सपने	जय जयवन्ती	गाईड 1965	शैलेन्द्र	एस. डी. वर्मन	रफी

17-Front Side K

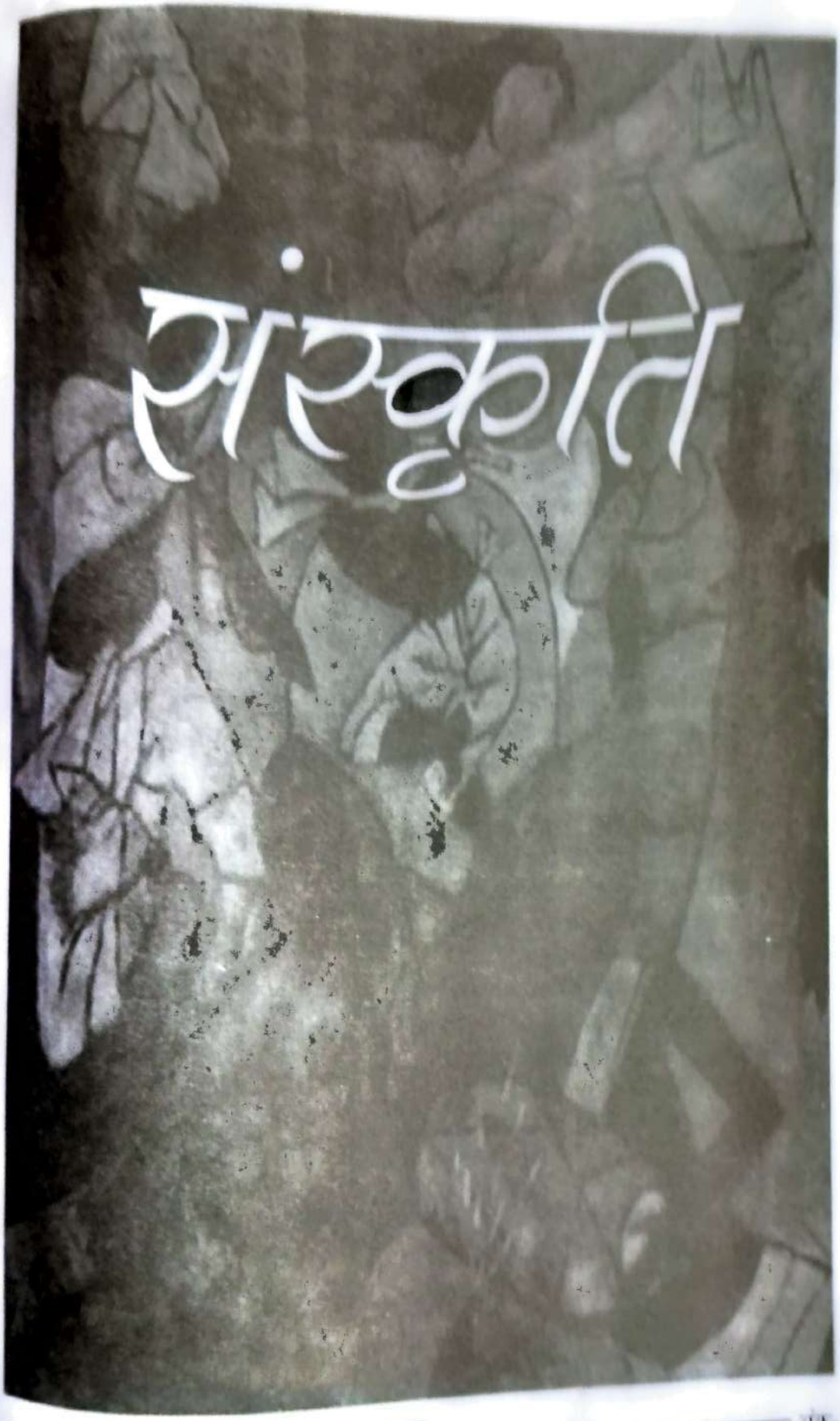
संस्कृति

1857 की क्रान्ति का कला एवं संस्कृति पर प्रभाव

संगीता गौतम, प्रवक्ता -चित्रकला

एस.एस. खन्ना महिला महाविद्यालय, इलाहाबाद

आज भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम को समाप्त हुये 151 वर्ष हो चुके है, परन्तु आज भी इतिहास कारों एवं विचारकों में इसके सफल एवं असफल होने के सन्दर्भ में मतान्तर है। भले ही 1875 का यह स्वतन्त्रता संग्राम अपने उद्देशो की प्राप्ती में पूर्ण रूप से सफल न हुआ हो परन्तु इसमें कोई दो राय नही हैं कि असफल होने के बावजूद भी इस इंकलाब ने एक ऐसा प्रकाश पुज छोड़ा जो स्मृतियों मे हमेशा चमकता रहा और आगे के सधषो के लिऐ प्रेरणास्रोत बनी जो आगे के सधषो के लिऐ प्रेरणास्रोत बना। यही 1857 की क्रान्ति बाद मे बंगाल के पूर्नजागरण की प्रेरणास्रोत बनी जो आगे चलकर स्वयं राष्णीय स्वधीनता संग्राम का मार्ग दर्शक बना हिन्दुस्तान को आजादी प्राप्त हूई।

प्रत्येक क्रान्ति चाहे वह सफल रही हो या असफल उसके तात्कालिक एंव दीर्धकालिक प्रभाव विभिन्न सकरात्मक एंव नकरात्मक गतिविधियो में देखे जाते हैं। 1857 की क्रान्ति के बाद ही ब्रिटिश शासन का ध्यान भारत की और गया और विभिन्न प्रकार के सुधार किऐ गये। भले ही 1857 का विद्रोह पूर्णयताः सफल न रहा किन्तु भारत मे अंग्रेजी शासन के लिए यह एक प्रबल और प्रत्यक्ष संकट के रूप में उभरा। विद्रोह के दमन के बाद विद्रोह नेताओं तथा विद्रोही भारतीय सैनिकों को इसकी कीमत अपनी जान से चुकानी पड़ी। अंग्रेजी सेनाओं ने भारतीयों पर बहुत अमानवीय अत्याचार किये। परिणाम स्वरूप भारतीय जनमानस अब अंग्रेजी शासको से पहले से कहीं दूर हो गये।

विद्रोह के परिणाम स्वरूप भारत में विभिन्न प्रकार के राजनैतिक, धार्मिक, विधायी, प्रशासनिक, सैनिक एवं आर्थिक परिवर्तन किये गये। इस विद्रोह का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम था महारानी विक्टोरिया की उद्घोषणा जो। नवम्बर 1857 को इलाहाबाद के दरबार में लार्ड कैनिंग द्वारा उद्घोषित की गयी। उद्घोषणा में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की समाप्ति और भारत के शासन को सीधे ब्रिटिश क्राउन के अन्तर्गत लाने की घोषणा की गयी। साथ ही यह भी घोषित किया गया कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार नहीं किया जायेगा। इसमें लोगों के धार्मिक मामले में हस्तेक्षप न करने तथा लोगों के पुरातन अधिकारों एवं रिवाजों का सम्मान करने का वचन भी दिया गया। अंग्रेजी सेना का पुनर्गठन किया गया, जिसमें यूरोपीय लोगों का अनुपात बढ़ा दिया गया। बड़ी कुटिलता पूर्वक "फूट डालो और राज करो" की नीति का अनुसरण करते हुये सेना की रेजीमेन्टों को जाति समुदाय और धर्म के नाम पर विभाजित किया गया ताकि सैनिकों में राष्ट्रीय भावना जाग्रत न हो सके। मुसलमानों के प्रति तुष्टिकरण की नीति का अनुशरण किया गया, जिसके परिणाम भारतीय राष्ट्र के लिए विनाशकारी हुये। विजय और विलय की नीति का पूर्णतया परित्याग कर दिया गया और देशी राज्य के शासकों को उत्तराधिकारी गोद लेने की अनुमति दी गयी। परन्तु इन देशी राज्यों के शासकों की स्थिति को घटाकर विशेषाधिकार युक्त अधीनस्थ और आश्रित शासक बना दिया गया। ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए जमीदारों, तालुकेदारों एवं देशी राज्यों के शासको जैसे रूढ़िवादी और प्रतिक्रिया वादी तथ्यों को विशष संरक्षण प्रदान किया गया।

1857 के द्रिदोह के परिणाम स्वरूप भले ही प्रादेशिक विस्तार का युग समाप्त हो गया परन्तु भारत के आर्थिक शोषण का युग आरम्भ हो गया।

इसने अंग्रेज व्यापारियो एवं पूजीपतियों द्वारा भारत के शोषण के द्वारा भारत के शोषण के द्वार खोल दिये। भारतीयों को व्यवस्थापिका और प्रशासनिक मामलों से सम्बद्ध किया गया और "इण्डियन काउन्सिल" एक्ट 1861, के द्वारा इस दिशा में मामूली शुरूआत की गयी। न्यायिक सुधारों हेतु 1861 का "इण्डियन हाई कोर्ट एक्ट लाया गया। भारत में कला एवं संस्कृति के संरक्षण हेतु 1861 में ही "भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण" की स्थापना की गयी।

उपरोक्त सभी क्षेत्रों में परिवर्तनकारी कदम ब्रिटिश सत्ता एवं उसके प्रतिनिधियों की तरफ से उठाये गये थे। जिसके मूल में था "फूटडालो और राज करो" तथा भारत को औपनिवेशिक गुलाम बनाकर यहाँ के समस्त संसाधनों (आर्थिक एवं मानव संसाधन इत्यादि) का सम्पूर्ण दोहन करना। अंग्रेजों द्वारा किये गये सुधारों में भारतीयों का कल्याण कम उनका स्वार्थ ज्यादा था। विद्रोह के परिणाम स्वरूप भारतीय बुद्धि जीवी वर्ग चैतन्य एवं जागरूक हो उठा जिसके चलते विभिन्न धार्मिक सामाजिक एवं शैक्षिक संगठनों के माध्यमों से नवजागरण का युग प्रारम्भ हुआ, जिसका केन्द्र बंगाल था परन्तु प्रभाव क्षेत्र क्रमशः सम्पूर्ण भारत में फैला। समाचार पत्रों के माध्यम से सुदूर क्षेत्रों तक जनमानस जागरूक होने लगा और शनैः-शनैः राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होने लगी।

यद्यपि 19वीं शताब्दी के प्रथमार्थ में अंग्रेजों की भारत में राजनैतिक सर्वोच्चता स्थापित हो चुकी थी, किन्तु पश्चिमी संस्कृति की अंग्रेजी विविधता, जो नये शासक अपने साथ लाये थे, तब तक भारतीय मन पर गहरा प्रभाव नहीं डाल सकी थी। रेलवे और टेलीग्राफ आदि के रूप में यांत्रिकी विकास पश्चिमी सभ्यता का एक मात्र पहलू था, जिसने लोगो में सामान्य तौर से आश्चर्य एवं प्रशंसा के भाव पैदा किये। अंग्रेजी संस्कृति केवल कलकत्ता तथा कुछ अन्य शहरों के भारतीयों के एक छोटे से समूह को छोड़कर बाकी अन्य पर कोई प्रभाव दिखाने में असफल रही।

सन् 1857 के बाद स्थिति अचानक एकदम बदल गयी। भारतीयों को उनकी अपनी राजनैतिक कमजोरी के परिणाम महसूस होने से एक ऐसा धक्का लगा कि उनका अपनी संस्कृति से विश्वास हिल गया, जब अंग्रेज शासकीय कर्मचारियों की नयी पीढ़ी जो अपनी जातिगत श्रेष्ठता और अपने पवित्र साम्राज्यवादी मिशन पर निष्ठापूर्वक विश्वास करती थी, भारत आयी और सम्पूर्ण देश को भय से शक्ति हीन तथा समर्पित देखा, तो उनके मस्तिष्क में कोई संदेह नहीं रह गया कि उन्हें दबे हुये लोगो से व्यवहार करना है, जिन्हें पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से ऊपर उठाना उनका पवित्र कर्तव्य है। आधुनिक पश्चिमी संस्कृति जो भारत पहुँच वह वास्तविक रूप में नहीं, बल्कि यह उसका एक निर्यात् रूप था जिसके पुर्जे इंग्लैण्ड से आये, किन्तु भारत मे उन्हें मुख्य रूप से अति सामान्य योग्यता वाले व्यक्तियों के द्वारा जगाया गया, जिन्हें अपने देश के लिए राजनैतिक बुद्धिमान नेता चुनने के बाद अलग किया जा सकता था। अपने सांस्कृतिक केन्द्र से हजारों मील दूर भेजे गये, बौद्धिक स्वतंत्रता के वातावरण से दूर लाखों लोगों पर शासन करने के लिए एक नयी शिक्षा पद्धति तैयार करने तथा एक नया सांस्कृतिक संसार बनाने के लिए, वे बहुत युवा थे। जहाँ तक राज्य के प्रति स्वामिभक्ति पर आधारित राजनैतिक एकता लाने के लिए समान संस्कृति का सम्बन्ध है, अकबर की नीति के साथ नयी शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक नीति की बराबर करना दिखावा मात्र था, किन्तु आधार भूत अन्तर यह था कि राज्य जिसके लिए अकबर स्वामिभक्त नागरिक बनाना चाहता था, वह इस प्रकार का था कि उसमें राजा की सर्वोच्च सत्ता के अधीन सभी लोगों को बिना जाति या धर्म के भेदभाव के बराबरी का दर्जा और अधिकार प्राप्त था। इसमें कोई संदेह नहीं कि शासक परिवार विदेश से आया था, किन्तु वह भारत में बस गया था और भारत को अपना घर बना लिया था। अकबर और उनके अधिकांश उत्तराधिकारियों ने उनके और प्रजा के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न किया और उन्हें ऐसा महसूस कराया कि राज उनकी महत्वाकांक्षाओं और भावनाओं का प्रतिरूप हैं। किन्तु "राज्य" जिसमें अंग्रेज भी भारतीयों को एकत्रित करना चाहते थे, यथार्थ में वह बिल्कुल ही राज्य का रूप नहीं था। वह ब्रिटेन पर आश्रित एक अधीन राज्य था, जिस पर नाममात्र को सम्राट शासन करता था। यथार्थ में उस पर ब्रिटिश पार्लियामेंट, सम्पूर्ण ब्रिटिश राष्ट्र का शासन था। इसका अर्थ यह था कि अब भारतीयों

की निष्ठा एक व्यक्ति या एक राजवंश के लिए नहीं थी, बल्कि एक सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए थी, जो उनके इतिहास और संस्कृति, उनकी महत्वाकांक्षाओं और भावनाओं के बारे में कुछ नहीं जानता था, जो हजारों मीलों की दूरी पर था और उनके द्वारा न वहाँ पहुँचा जा सकता था, न ही उसे प्रभावित किया जा सकता था। अकबर के समान उन्होंने भारत की संस्कृति के साथ अपनी संस्कृति का मेल करने तथा बराबरी के सामाजिक सम्बन्ध बनाने का नहीं, बल्कि ऊपर से भारत पर जितनी भी पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति उनके हित में समझते थे, उन्होंने अपने को अलग रखते हुए लादने का प्रयास किया।

1857 कि क्रान्ति का असफल हो जाने से अंग्रेजों की शक्ति बढ़ गयी और भारत के अधिकाशं भागों पर ब्रिटिन शासन थोप दिया गया। भारत की अनेक संस्थाओं को भी अंगेजों ने अपने हाथों में ले लिया। पश्चिमी कला की शिक्षा के निर्देशन में भारतीय विद्यार्थियों को कला एवं शिल्प सिखाये जाने लगे। इनका आदर्श लन्दन की "रायल एकेडमी ऑफ आर्ट्स" के अनुरूप रखा गया। इन कला विद्यालयों ने धीरे-धीरे जन रूचि को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। किन्तु इन्हीं कला-विद्यालयों में आगे चल कर भारतीय कला प्रशंसक, शिक्षक तथा विद्यार्थी आये जिनके कारण इनमें प्रचलित पाठ्यक्रमों में भी समय-समय पर परिवर्तन किये गये। औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति का घातक प्रभाव स्कूल और विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम से प्रयोग में लाया गया, जो एक मात्र माध्यम था जिसके द्वारा ब्रिटिश भारतीय सरकार ने उस संस्कृति को फैलाने का प्रयत्न किया। जहाँ तक प्राथमिक शिक्षा का सम्बन्ध है, सरकार का उसकी ओर इतना कम ध्यान था उसका प्रशासन म्यूनिसिपत तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डो को हस्तान्तरित कर दिया गया। प्राचीन पद्धति में बुनियादी परिवर्तन यह हुआ कि धार्मिक शिक्षा को पाठ्यक्रम से अलग कर दिया गया। भूगोल, इतिहास तथा अन्य कुछ उपयोगी विषय शमिल किये गये। माध्यमिक स्कूलों को दो हानियां सहन करनी पड़ी। व्यक्तिगत मानसिक झुकाव की ओर ध्यान दिये बिना विशुद्ध साहित्यिक ढंग का पाठ्यक्रम बनाया गया। इस कारण पाठ्यक्रम बनाया गया। इस कारण पाठ्यक्रम में अन्य विषयों की कीमत पर, अंग्रेजी को प्रमुख स्थान दिया गया। विश्वविद्यालय शिक्षा भी अंग्रेजी के माध्यम से दी जाती थी किन्तु इस सम्बन्ध में अध्ययन के विषयों की पसंदगी का कुछ प्रावधान था। विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़ाने के बहुत से बुरे परिणामों में सबसे हानिकारक यह था कि पढ़ने वाले की, लिखे या बोले गये शब्द को उसके अर्थ के स्पष्ट ज्ञान से सम्बन्धित करने की, आदत समाप्त हो गयी।

भारत में अंग्रेजी शासन से फलस्वरूप कला के क्षेत्र में दो प्रभाव पड़े। एक तो यह कि स्थानीय चित्रकारों ने अपनी समझ के अनुसार पश्चिमी कला के मिश्रण से एक कला शैली का सूत्रपात किया जिसे "कम्पनी शैली" कहा गया दूसरा यह कि समाज के उन सभी वर्गो में, जो कलाओं के संरक्षक समझे जाते है, पश्चिमी कला के प्रति आदरभाव और अपनी कला के प्रति दीनता की भावना उत्पन्न हुई। अंग्रेजों ने इस भावना को बढ़ाने तथा पश्चिमी चित्रकारों को भारत में प्रोत्साहित करने का भरपूर प्रयत्न किया। जहाँ तक ललित कलाओं का सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत होता है कि, उस समय की कम्पनी सरकार तथा एग्लो-इंडियन समाज का योगदान उसमें बहुत कम था। सौन्दर्य बोध छोटे समुदाय तक ही सीमित था, जो अपने ड्राइंगरूम को, सरजोशुआ रेनाल्डस या नार्थ कोट की मूल पेंटिंग तथा उसकी प्रतिलिपियों से सजाने से अधिक और कुछ नहीं कर सकते थे। कभी-कभी कुछ भारतीय नरेश, विशेष कर अवध के नरेश योरोपीय कलाकारों को चित्रांकन के लिए नियुक्त करते थे, किन्तु भारत में कला के विकास को आवश्यक गति प्रदान करने के लिए यह पर्याप्त नहीं था। अकुशलतापूर्ण नृत्य और नाटक एंग्लो-इंडियन समाज में आयोजित किये जाते थे।

संक्षेप में, औपनिवेशिक, अंग्रेजी संस्कृति का बौद्धिक तथा आध्यात्मिक आधार खोखला और कमजोर था। इसके बाद भी उस पर बना सामाजिक ढ़ाचा पहली दृष्टि में, वास्तविक अंग्रेजी संस्कृति की राजकीय इमारत की भ्रामक समानता लिए हुए, भव्य दिखाता था।

भारतीय संस्कृति और मूल्यपरक संगीत शिक्षा की व्यवस्था

डॉ0 आकांक्षी वर्मा

संगीत सेवी, वाराणसी

शिक्षा, संस्कृति और मूल्यों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। प्रत्येक समाज अपनी शैक्षिक, सांस तिक विरासत एवं ज्ञान विज्ञान के संरक्षण तथा संवर्धन हेतु शिक्षा की व्यवस्था करता है। शिक्षा के माध्यम से नयी पीढ़ी को ज्ञान-विज्ञान, नैतिक-मानवीय मूल्यों, परम्पराओं दूसरे शब्दों में कहें तो संस्कृति का हस्तान्तरण किया जाता है साथ ही उसे भविष्य की चुनौतियों का सामना करने योग्य बनाने का प्रयास किया जाता है। किसी भी देश या समाज की अक्षुण्णता, जीवन्तता तथा विकास उसकी सांस तिक अक्षुण्णता तथा जीवन्तता पर निर्भर करती है और संस्कृति की अक्षुण्णता तथा उसकी सतत् जीवन्तता एवं प्रवाह बनाये रखने और उसके माध्यम से सामाजिक, सांस तिक अभ्युन्नति के लिये शिक्षा सर्वाधिक सशक्त साधन है, जिसका मूल्यपरक होना अनिवार्य है।

भारतीय संस्कृति का इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। विद्वानों के अनुसार भारत की ऋग्वैदिक संस्कृति का विकास सिन्धु सभ्यता के आधार पर हुआ था। विश्व की प्राचीनतम् संस्कृतियों में से एक भारतीय संस्कृति युगों तक मानवता का अनुप्राणित करती रही है। हमारी भारतीय संस्कृति में मूल्यपरक शिक्षा का अतिमहत्वपूर्ण स्थान रहा है।

मूल्य परक शिक्षा से तात्पर्य - शिक्षा स्वयं अपने आप में एक मूल्यपरक अवधारणा है। समान्य तौर पर जब भी हम शिक्षा की बात करते है तो हमारा आशय एक ऐसी प्रक्रिया से होता है जो व्यक्ति को एक सुशिक्षित, सुसभ्य, सुसंस्कृत नागरिक बनाने का कार्य करती है। यह बालक को अपने वातावरण से स्वस्थ सामन्जस्य स्थापित करते हुए व्यक्ति और समाज के सदस्य के रुप में अपने उत्तरदायित्व के बेहतर निर्वहन की क्षमता प्रदान करती है। मूल्य परक शिक्षा का विषय उस शिक्षा से है जो बालक में नैतिक मानवीय मूल्यों का विकास करे और इस प्रकार उसे समाज का एक उपयोगी सदस्य बनाने में योगदान दे। यह कार्य शिक्षा के सैद्वान्तिक पक्ष की अपेक्षा उसके व्यावहारिक पक्ष पर निर्भर करता है क्योंकि मूल्यों का सम्बन्ध आस्था तथा विश्वास से होता है। डॉ0 एच0एस0 बैस के अनुसार ''वस्तुतः मूल्य न तो कौशल है और न ही ज्ञान के अंश है जिन्हें सीखा जाय। यह तो आस्था और विश्वास है, आदर्श और प्रतिबद्धतायें है। जिनका सम्बन्ध मानसिक और मनोवैज्ञानिक निर्माण से हैं यह अर्जित की जा सकने वाली ज्ञान की ईकाई नही, यह तो अपनाई जाने वाली और आदत व व्यवहार में अभिव्यक्त मानक तत्व हैं इनका संबंध अभिवृत्तियों और आदतों से होता है, सोचने विचारने निर्णयन से इनका सम्बन्ध होता है।[1]

अतः संक्षेप में जो शिक्षक बालक में सद्प्रवृत्तियों, अच्छी आदतों, तर्क एवं निर्णय क्षमता तथा नैतिकता का विकास करे उसे ही मूल्यपरक शिक्षा की संज्ञा दी जा सकती है।

मूल्य परक शिक्षा के लिये लोककथा, कहानियाँ, कवितायें, महापुरुषों की जीवनी इत्यादि अत्यंत उपयोगी हैं। साथ ही हमारे जीवन में मूल्यों की नीव में मजबूत करने के लिये संगीत नाटक इत्यादि जैसी सांस तिक गतिविधियाँ[2] भी बहुत सहायक हैं।

हमारे सांगीतिक मूल्य

संगीत को ईश्वर प्राप्ति का तथा आत्म दर्शन का उत्तम साधन प्रत्येक धर्म ने माना है। अनेक संत, महात्माओं ने संगीत की सहायता से भक्ति रस का पान किया तथा ईश्वर को प्राप्त किया।

हमारा भारतीय संगीत मूल्याधारित है। उसमें गुरु-शिष्य का पवित्र संबंध है। गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश के समान स्थान दिया गया है। हम गुरु के इसलिये' आभारी है क्योंकि वह निर्माता है। आज भी परशुराम कर्ण, द्रोणाचार्य-एकलव्य, रामानन्द, कबीर जैसे गुरु शिष्यों की गाथायें तो लोक में प्रचलित ही है। इसी क्रम में पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी भी चर्चा करने अत्यन्त आवश्यक है। वे एक संगीत विद्यालय चलाते थे जहाँ पर विद्यार्थियों को संगीत की निःशुल्क शिक्षा के साथ-साथ रहने खाने की भी व्यवस्था थी। इस विद्यालय को चलाने के लिये उन्हें बहुत कष्ट सहने पड़े परन्तु फिर भी वे पीछे नहीं हटे। इस विद्यालय ने कितने संगीत विद्वान और कलाकार हमें दिये है यह सर्वविदित है। गुरु के साथ-साथ भारतीय संगीत से सम्बद्ध अन्य पक्षों को भी उतना ही महत्व दिया गया है। यथा संगीतकार अपने वाद्यों की पूजा करता है तथा वाद्य-वादन से पूर्व उसको प्रणाम करता हैं मंच पर जाने से पूर्व गायक, वादक, नर्तक इत्यादि सभी मंच को प्रणाम करके की मंच पर आसीन होते है। नृत्य के आरम्भ में किया जाने वाला भूमि प्रणाम भी इसका उदाहरण है। यहाँ तक कि नाट्य प्रस्तुतिकरण के पहले मंच पर पूरे विधि-विधान से पूजन किया जाता है। कि उनके द्वारा जिस नाट्य का मंचन किया जा रहा है, वह सफल हो जाये, क्योंकि उसमें बहुत सारे लोगों का परिश्रम जुड़ा हुआ है।

इसके अतिरिक्त हमारा भारतीय संगीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं वरन् मोक्ष प्राप्ति का साधन भी है। यह सोच भी आदि काल से ही चली आ रही है। चूँकि भारतवर्ष आध्यात्म प्रधान देश है, इसलिये आदि काल से ही भारतीय संगीत का उद्देश्य पारलौकिक आनन्द को प्राप्त कर उसके माध्यम से मोक्ष प्राप्त करना रहा है। अर्थात भारतीय जीवन दर्शन में संगीत आध्यात्म से गहराई से जुड़ा है और संगीत मोक्ष प्राप्ति का उत्कृष्ट साधन माना जाता रहा है।

मूल्य परक संगीत शिक्षा में शिक्षकों की भूमिका

भारतीय मनीषियों ने इस तथ्य को हजारों वर्ष पूर्व भली-भाँति समझ लिया था कि व्यक्ति के विकास सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रगति सभ्यता तथा संस्कृति के उत्थान के लिये शिक्षा अनिवार्य है।

प्राचीन भारत में संगीत शिक्षा पुस्तकीय ज्ञान का पर्यायवाची अथवा जीविकोपार्जन का साधन मात्र न होकर व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास तथा मोक्ष प्राप्ति में सहायक मानी जाती थी। डा0 अल्तेकर के अनुसार वैदिक युग से आज तक शिक्षा के सम्बन्ध में भारतीयों की मुख्य धारणा यह रही है कि शिक्षा प्रकाश का वह स्त्रेत है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रें में हमारा सच्चा पथ प्रदर्शन करता है।[2] प्लेटों के अनुसार, "शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समग्र विकास है"।

डॉ0 आर0 के0 मुखर्जी के अनुसार "शिक्षा का उद्देश्य पढ़ना नहीं था अपितु ज्ञान और अनुभव को आत्मसात करना था"।[3]

यह वास्तविकता है कि शिक्षा का मूल्यपरक होना इस बात पर निर्भर करता है कि शिक्षा के सूत्रधार शिक्षकों में कितना मूल्यबोध है और उन मूल्यों को जिन्हे बालक में वे विकसित करना चाहते है स्वयं कहाँ तक उसने आचरण या व्यवहार में अमल करते है। बच्चा अनुकरण से सीखता है। अतः शिक्षकों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। क्योंकि छात्र उनका अनुकरण करते है।

परन्तु आज इतनी आदर्श स्थिति तो नहीं ही है लेकिन उसके भी अपने ठोस कारण है। उदाहरण स्वरुप गुरु-शिष्य परम्परा जो शास्त्रीय संगीत की मौखिक विद्या का मेरुदण्ड बनी, वैश्वीकरण के परिणामस्वरुप बदलती हुई परिस्थितियों ने उसकी नींव पर कुठाराघात किया है। एक ओर जहाँ शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में हुई सामूहिक शिक्षा की परिपाटी में गुरु-शिष्य परम्परा अपना मूल रुप खो बैठी है। तो वहीं दूसरी ओर उनके वैज्ञानिक उपकरणों ने गुरुमुख

से ली हुई विद्या के साथ सीखने-सिखाने का एक ऐसा सुलभ मार्ग उत्पन्न किया कि शिष्य गुरु की विद्या को पुस्तकों, कैसेटों, सी0डी0 इत्यादि में बन्द कर कठोर श्रम से विलग होने लगा है।

घरानों की दीवारें टूटने लगी है क्योंकि आज गुरु-शिष्य परम्परा की यह शैलीगत विशेषता दूसरे घरानों की शैलियों के साथ मिली-जुली शैली के रुप में पनपने लगी है। कलाकार रेडियों, टी0वी0, इण्टरनेट इत्यादि की सहायता से सभी तरह का संगीत सुनता है एवं घराने के आकर्षक तत्वों को ग्रहण करता है फिर वह शिक्षक हों विद्यार्थी हो या कलाकार।

इस क्रम मे बताना चाहूंगी- एक समय था जब यह कहा जाता था कि जिसे तानपूरा मिलाना आ गया समझो आधा संगीत उसने सीख लिया। लेकिन आज तो बस एक बटन दबाया और इलेक्ट्रॉनिक तानपूरा बजने लगा।

आज विद्यार्थियों की बात छोड़ दे, तो बहुत सारे ऐसे शिक्षक भी मिल जायेंगे जो अपनी कक्षायें इसी इलेक्ट्रानिक तानपूरे को बजा कर ही लेते है, क्यों कि उन्हें तानपूरा मिलाना ही नहीं आता। तो ऐसे में विद्यार्थी किस राह पर जायेगा? आगे जब वह शिक्षक बनेगा तो वो भी इसी तानपूरे पर सिखायेगा तो फिर दोष किसे दें?

आज हमारे सामने मूल्यों का संकट है। मूल्यों और परम्पराओं का क्षरण गंभीर चिंता का विषय है। ये क्षरण कैसे रोका जाये? 21वीं शताब्दी का सभ्य संसार बर्बरता आतंकवाद की ओर क्यों बढ़ रहा है? आज संवेदनशील होते हुए मानव समुदाय के स्वभाव में आयी उग्रता और उद्दण्डता को नियंत्रित करने के लिये तथा पारस्परिक सौहार्द और सद्भावना बढ़ाने के लिये हमें निश्चय ही मूल्याधारित जीवन पद्धति अपनानी आवश्यक है।

परन्तु स्थिति इतनी जटिल भी नहीं है जितनी हम सोच रहे है। शास्त्रीय संगीत हमारी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर है और उसकी परम्पराओं और मूल्यों का संरक्षण करना हमारा कर्तव्य है। परन्तु हमें यह भी समझना होगा कि समय सदैव से परिवर्तनशील रहा है, इसलिये कोई परम्परा जो प्राचीनकाल में थी वह आज भी उसी रुप में रहे ऐसा अनिवार्य नहीं है। क्योंकि लोग रुचि के अनुसार परम्परायें एवं मूल्य बदलते रहते है, किन्तु जड़े हमारी वहीं है हमें यह भी स्वीकार करना ही होगा। इसलिये आज के इस व्यवसायिकता के दौर में हमें मूल्यों एवं परम्पराओं का संरक्षण करते हुए समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना आवश्यक है।

संदर्भ सूची

1. डॉ0 एच0 एस0 बैस : शिक्षा की रुप रेखा, पृ0 सं0 367
2. डॉ0 ए0 एस0 अल्तेकर, एजुकेशन इन एनिश्एन्ट इण्डिया : पी0डी0 पाठक, भारतीय शिक्षा और उसकी समस्यायें पृ0 सं0 04
3. डॉ0 आर0 के0 मुखर्जी, एनशिएन्ट इण्डियन एजुकेशन : पी0डी0 पाठक- भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याऐं, पृ0 सं0 06

भारतीय किसानों की समस्यायें और उपाय

रज्जन द्विवेदी

शोध छात्र-समाज कार्य विभाग

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (सतना) म0प्र0

हमारा देश एवं राज्य कृषि प्रधान है। हमारे देश एवं राज्य की अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित है। कृषको की विभिन्न समस्याओ को हल किये जाने हेतु हमारे देश व प्रदेश मे विभिन्न योजनाओ की जमीनी स्तर पर क्या सफलतापूर्वक संचालन हो रहा है? विभिन्न विषयो जिनका सीधा सम्बन्ध कृषको से है, कृषको का हित क्या सर्वोपरि है? क्या हमारे कृषक को साधन सम्पन्न बनाये जाने हेतु यथा सम्भव प्रयास वास्तविक रूप से हो रहे है? अर्थव्यवस्था की विभिन्न समस्याओ मे उन समस्याओ पर कृषको के हित मे व्यापक दृष्टिकोण अपनाया गया है, क्या सीधा सम्बन्ध कृषको के जीवन यापन, रहन-सहन आदि से है? ये सभी प्रश्न आज भी हमारे सामने प्रश्नो के रूप मे खड़े है और यदि कृषको की वर्तमान स्थिति पर गंभीरता से विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि हमारे अर्थव्यवस्था मे सुधार हो रहा है परन्तु कृषक उसी स्थिति मे है जिसमे वह वर्षो पूर्व या सम्भवतः उसकी स्थिति और भी खराब हुई है। यह एक चिंतन का विषय है।

यह प्रकरण किसानो द्वारा आत्महत्या करने संबंधी समाचार पत्रो मे छपे विभिन्न समाचार पत्रो, व शोध छात्र द्वारा अपने शोधकार्य के विषय से लिया गया है। इस शोध पत्र मे उन समस्याओ के बारे मे चर्चा की जायेगी जो एक दो किसानो से न होकर सम्पूर्ण कृषि से है ही साथ ही साथ सभी समस्याओ की जननी भी है। समस्याये अधिक है इन समस्याओ पर शासन व प्रशासन स्तर पर विस्तृत विमर्श की अवश्यकता है। ये सभी समस्याये ऐसी है जिनका एक दो लिखे गये पृष्ठो के आधार पर सामाधान नही निकाला जा सकता है। कई समस्याओ पर तो विशे ाज्ञो का मत भी लिया जाना आवश्यक है। यदि शासन व प्रशासन गंभीर प्रयास करे तो समस्याओ को कम और फिर समाप्त किया जा सकता है। अतः इस प्रपत्र मे दी गयी अनुसंशाये एक प्रयास है।

वैकल्पिक तंत्र : भूमि नीलामी-

घटक और घोष (2011) के अनुसार नीलामी आधारित मूल्य निर्धारित तंत्र 2013 के भूमि अधिग्रहण कानून द्वारा निर्धारित और कठोर प्रणाली से ज्यादा वेहतर काम करता। यहाँ हम विचार का सार पेश करेगें किसी भी परियोजना के लिए जमीन अधिग्रहण की दिशा मे पहले कदम के रूप मे सरकार को परियोजना स्थल से आकार के बराबर जमीन नीलामी के माध्यम से पड़ोस मे खरीदनी चाहिए। अगला परियोजना स्थल के भीतर आने वाले विना बिके भूखण्डो के मालिको को उनके स्थान के बाहर बराबर क्षेत्र की कृषि योग्य भूमि देकर, भूमि के लिए भूमि का मुआवजा दिया जा सकता है। यह अधिग्रहीत भूमि से संलग्न भूमि को परियोजना स्थल पर जोड़कर अधिग्रहीत भूमि को मजबूत करेगा।

इस तंत्र के दो फायदे है। पहला यह भ्रष्ट अधिकारियो के हाँथो से लेकर स्वयं मूल्य निर्धारित करता है जो एक पारदर्शी तरीका है। यह किसानो की ओर से खुद प्रतिस्पर्धी बोली के माध्यम से तय किया गया मूल्य होता है। यह विकास के विरूद्ध राजनीतिक प्रतिशोध के आक्रामक तत्व कम कर

उसे शांत करेगा। साथ ही मौजूदा से पूर्व बाजार के मालिको की भूमि का असली मुआवजा तय करेगा न कि कृतिम मानको के आधार पर। दूसरा यह उन किसानो की भूमि की शेष भूमि का पुर्ननिर्धारण करेगा जिनके पास उच्च कीमत की भूमि है। उम्मीद की जा सकती है कि इन किसानो से उच्चतम कीमत पूछकर बोली लगाने के लिए और भूमि के बदले नगद मे मुआवजा दिया जाना खत्म हो जायेगा। निश्चित रूप से नीलामी खोये हुये भूमि बाजार को नयी गति देगा।

द हिन्दू के एक लेख मे केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्री जयराम रमेश और उनके सहयोगी मोहम्मद खान ने इस सम्बन्ध मे लिखा- ''भारत मे भूमि बाजार अपरिपक्व है इसलिए यहाँ राज्यो को अधिग्रहण मे एक भूमिका रखनी चाहिए क्योकि यहाँ जमीन के खरीददारो और विक्रताओ के बीच शक्ति और जानकारी सम्बन्धी विशाल विषमताए है। यदि बाजार का अभाव है तो तंत्र के लिए जरूरी हो जाता है कि (क) कीमत की खोज की जाये परियोजना तथा उसके अर्थिक प्रभाव सभी को उपलब्ध हो और इस बारे मे यह सूचना तब प्रभावी होगी जब बाजार सुचारू रूप से प्रबल होगा (ख) भौतिक व्यापार वाले किसानो को अधिग्रहण के बाद के बाजार मे अपनी भूमिका निशा पाते हमारा प्रस्तावित नया कानून, ठीक यही करता है ''नन सिक्विटर'' (यह पालन नही करता है) से प्रभावित है। यह बाजार के किसी भी दोष को स्थान नही देता है। यह पूर्ण अटकलबाजी के आधार पर मामले को सुधारने की कोशिश करता है।

प्रचार-प्रसार-

सामान्यतः यह देखा गया है कि कृषको के हित में कृषि सम्बन्धी जानकारी के पर्याप्त प्रचार-प्रसार की कमी है। जिसका प्रचार प्रसार वास्तविक रूप मे होना चाहिए था वह अभी भी नही हो पा रहा है। उदाहरण के लिए कृषको को टी०वी० के माध्यम से प्रसारित किसी भी कार्यक्रम मे ऐसी सामान्य जानकारी खेती के सम्बन्ध मे दी जाती है जो भोगोलिक एवं अन्य दृष्टि से किसी क्षेत्र के लिए लाभप्रद हो सकती है परन्तु वह जानकारी किसी अन्य क्षेत्र के लिए व्यर्थ है विभिन्न फसल चाहे वह अनाज हो, सब्जी हो, फल हो अथवा अन्य कोई पैदावार हो, अलग-अलग क्षेत्रो मे अलग कारणो से सफल व असफल होती है। यह आवश्यक नहीं कि सभी कारण सभी दर्शको के लिए ठीक व सही हो। इस कारण इसका विशेष लाभ कृपको को नही होता है। यही स्थिति समाचार पत्रो के माध्यम से दी जाने वाली जानकारी के सम्बन्ध मे भी है।

प्रचार प्रसार के लिए प्रदेश मे जो कृषि विश्वविद्यालयो की जो भूमिका है। उसे बढ़ाते हुए उनके माध्यम से इस प्रकार से प्रचार-प्रसार हो, ताकि उन्हे उपलब्ध जानकारी का लाभ जमीनी स्तर पर कृपक जगत प्राप्त कर सके।

राज्य के जन सम्पर्क विभाग पर दायित्व डाला जाये कि जब भी कृषको द्वारा आत्महत्या जैसे संवदेनशीलता समाचार आते है तो उसके सम्बन्ध मे कृषको को समझाइस देने के लिए समाचार पत्रो मे साहित्य का प्रकाशन करे ताकि कृषक को वास्तविक स्थिति की जानकारी हो और वे आत्महत्या जैसे संवेदनशील कृत्य की ओर अग्रसर न हो।

राज्य का जन सम्पर्क विभाग, मीडिया आदि से चर्चा कर निश्चित करने का प्रयास करे ताकि सनसनीखेज एवं विवादास्पद समाचार जनता के सामने न आये एव वास्तविकता ही उनके द्वारा बतायी जाये। सनसनी खेज या विवादास्पद तथ्यो की जानकारी दिये जाने पर अन्य अनेक कृषक भी ऐसा करने के लिए प्रेरित होते है जो किसी भी स्थिति मे उचित नही है।

भूमि अधिग्रहण विधेयक-

भारत मे अब तक मुख्यतः 1989 के ही भूमि अधिग्रहण के ढाँचे को स्वीकार किया गया है। यह कानून सर्कल दरो और हाल के दर्ज बिक्री के दरो के दस्तावेजो के आधार पर भूमि के लिए स्थाइ बाजार मूल्य के बराबर अवश्यक मुआवजा देने की बात करता है।

इस कानून का मूल्यांकन करने के लिए पहले यह समझना जरूरी है कि इस कानून मे क्या कमी है। सीधे शब्दो मे कहे तो बाजार भाव पर मुआवजा एक गहरा त्रुटिपूर्ण सिंदात है। भूमि के बाजार भाव

और स्वामी को भूमि से मिल रहे मूल्य के बीच मे भ्रमित नही होना चाहिए। दूसरा मूल्य फसल उत्पादन, परिवार श्रम, खाद्य सुरक्षा, गौण स्तर पर प्रयोग, मुद्रास्फीति और सामाजिक स्थिति कम खिलाफ संरक्षण सहित कई कारणो से निकला है। भूमि का मूल्य (स्वयं मालिक जिस कीमत पर देना चाहता है) विशिष्ट है जो मालिक के अनुसार स्वयं काफी भिन्न होता है।

मुआवजे के लिए एक प्रतीक के रूप मे पिछले लेन देन की कीमतो पर आधारित बाजार मूल्य के निर्धारण के दो अतिरिक्त कारण है। बड़ी मात्रा मे खेत का अधिग्रहण स्थानीय कृषि अर्थव्यवस्था के लिए एक आपूर्ति झटका है जो माँग और आपूर्ति के सामान्य नियमो द्वारा जमीन कीमते और किराए बढ़ा देगा। यदि जमीन की कीमते काफी तेजी से बढ़ रही है तो पुरानी कीमते पर्याप्त नही है क्योकि विस्थापित मालिक कृषि भूमि के शेष राशि के बराबर कृषि क्षेत्र वापिस खरीदने मे सक्षम नही होगें। परियोजना स्वयं अपनी आर्थिक गिरावट के माध्यम से भूमि मूल्य वृद्धि पैदा कर देती है और क्षेत्र मे खासकर सहायक उद्योगो को आकर्षित करती है। हाल मे लेन देन मे दर्ज की गयी कीमतो पर भरोसा नही करने का एक अतिरिक्त कारण यह है कि भारत मे अक्सर वास्तविक लेन देन की कीमतो पर स्टाम्प शुल्क से बचने के लिए उन्हे दर्ज नही कराया जाता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मुआवज हमेशा बाजार मूल्य के तहत है इसमे कितना वृद्धि की जानी चाहिए यह मामले के आधार पर और स्थानीय स्तर पर भिन्नताओ पर निर्भर होना चाहिए। भूमि बाजार की स्थिति का दोष, भूमि का लिया जा रहा अंश, इस परियोजना की प्र ति अधिग्रहीत भूमि पर आ जायेगी, जमीन खोने वाले किसानो की विशेषताए निर्धारित करेगी कि क्या इजाफा स्वीकार है। (घटक ईटी ए एल 2012) मालिको की ओर से बताया गया कि पश्चिम बंगाल सरकार द्वारी दी गयी मुआवजे की पेशकश बाजार मूल्यो के औसत के बराबर भी। इन मालिको के एक तिहाई लोग मुआवजा से इंकार कर भूमि अधिग्रहण का विरोध करते थे।

ग्रामीण भूमि बाजारो का पुनर्जीवन-

ग्रामीण भूमि बाजारो को बेकार बनाने मे कई कारण जिम्मेदार है- भूमि का खराब लेखा जोखा जो अधिकारिक तौर पर स्वामित्व हस्तान्तरण करने मे परेशानी पैदा करते है किरायेदारी और भूमि हशबन्दी कानूनो की उपस्थिति स्वामित्व की गुप्तता को बढ़ावा देते है तथा बिक्री के रास्ते मे बाधाए, संभावित खरीद खरीददारो की सीमित गतिशीलता दलाली सेवाओ और अवसरो को खरीदने और बेचने के बारे मे जानकारी के सीमित प्रवाह की कमी भी उल्लेखनीय है। औपचारिक बैकिंग क्षेत्र की सीमित पहुँच को देखते हुए इसका एक और पहलू भूमि खरीद के वित्त-पोषण की कठिनाई है।

दूसरा पहलू एक ऐसी दूनिया मे है जहाँ बीमा, शाख और बचत के अवसरो के औपचारिक सूत्रो का बहुत कम उपयोग होता है, भूमि केवल आय भुनाने की परिसम्पत्ति ही नही बल्कि एक बीमा पालिसी व जमानत व पेंशन योजना के रूप मे है। इसलिए भूमि बाजारी का संचालन ठीक से हो तो भी गरीब किसान को कृषि से प्राप्त अपेक्षाकृत कुछ सरल लाभ को भूमि बेचने पर निश्चित रूप से वरीयता देगें।

भूमि आसान व्यापार के योग्य परिसम्पत्ति नही है, मालिक अक्सर ऋण प्राप्त करने के लिए जमानत के रूप मे इसका प्रयोग करने मे असमर्थ होते है और ऋण बाजार की खामियों को बढ़ावा देते है। दूसरी ओर वित्त-पोषण की कठिनाई, भूमि बाजार मे ज्यादा समस्याए पैदा करता है और किसानो को कम उत्पादन से अधिक उत्पादक करने से रोकता है इसके अलावा, ऋण बाजार मे स्वामियो के कारण किसानो द्वारा भूमि मे अपर्याप्त निवेश करने को बढ़ावा, नयी तकनीको को अपनाने, खाद एवं पानी मे बाधा पैदा होती है।

यह सब न केवल सामाजिक न्याय और समानता की दृष्टि से। बल्कि पैदावार बढ़ाने और विनिर्माण और सेवाओ मे संसाधनो की पारी को सक्षम बनाने के प्रयोजन के लिए, भूमि सुधार के महत्व को रेखांकित करता है। भूमि पर बेहतर परिभाषित सम्पदा अधिकार सम्पत्ति तक पहुचने के लिए न

केवल रास्ता देते है बल्कि ऋण बाजार को मजबूत बनाने और गुणक प्रभाव के लिए परोक्ष रूप से उत्पादकता मे वृद्धि होती है। यह सरकार द्वारा अधिगृहीत की जा रही भूमि के लिए सही मुआवजा प्राप्त करने के लिए भी महत्वपूर्ण है।

भूमि सुधार और भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया के बीच जहां पूर्व मे सुधार की सुविधा होगी वैसे ही भूमि अधिग्रहण की सम्भावना भूमि हदबंदी के कार्यान्वयन को आसान करेगा। अन्य प्रतिफलो पर भी विचार किया जा सकता है जैसे विभन्न सरकारी सेवाओ और लाभ, सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको से ऋण के रूप मे, इस तरह की अन्य सेवायें जैसे नरेगा या सार्वजनिक वितरण प्रणाली, सब्सिडी आदानो, भोजन के अधिकारो आदि के माध्यम से हको को बढ़ाया जा सकता है।

कृषि औद्योगिक नीति-हमारे देश मे अभी भी स्वतन्त्रता के बाद भी कृषि को उघोग का दर्जा नही दिया गया है जबकि कृषि का भारतीय अर्थव्यवस्था मे अत्यन्त महत्व है। जब तक कृषि को उद्योग का दर्जा नही दिया जायेगा तब तक कृषिको की उन्नति सम्भव नही है। समान्य रूप से जब कोई उघोग प्रगति करता है तो सम्बन्धित प्रगति उघोगपति की होती है इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ कुछ प्रतिशत तक देश को प्राप्त होता है हालाकिं यह अवश्य कहा जाता है कि उद्योगो की प्रगति देश की प्रगति है परन्तु इसमे उघोगपतियो की प्रगति अधिक होता है। किसानो के मामले मे ऐसा नही है। कृषक भी देश की प्रगति के लिए मेहनत करता है परन्तु उसका वास्तविक लाभ उसे न मिलकर व्यवसायिो, उद्योग पतियो आदि को मिलता है। कृषक एक महत्वपूर्ण इकाई है परन्तु नीति के अभाव के कारण उसे वह महत्व प्राप्त नही हो रहा है जिसका वह हकदार है, इसके पीछे कारण यह है कि खेत मे फसल तो कृषक पैदा करता है परन्तु लाभ समाज के अन्य वर्ग एवं व्यवसायी आदि उठाते है। और इस लाभ का कोई भी प्रतिशत किसान को प्राप्त नही होता है। यहां तक कि पूरे वर्ष मेहनत करने के बाद भी अनेक कृषको को लागत भी नही मिल पाती है तब वो विभिन्न माध्यमो से ऋण लेने के लिए आगे आते है।

यदि वास्तव मे कृषको के हितो पर विचार किया जाये तो औघोगिक नीति अत्यन्त आवश्यक है जिसके क्रियान्वयन द्वारा किसानो को इतना लाभ अवश्य मिल सके कि वे विभिन्न साधनो के माध्यम से आधुनिक खेती अपनाने के लिए प्रेरित हो सके साथ ही साथ उनके रहन-सहन व जीवन स्तर ऊचा हो सके। इसके द्वारा किसान को स्वलम्बी बनाया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. समाज शास्त्र, (साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा) एम0एल गुप्ता, डी0डी शर्मा प्र0स0 901।
2. समाज शास्त्र दिगदर्शन (राजेन्द्र पब्लिकेशन गोरखपुर) के राजेन्द्र, के0के0 मिश्र, आर0 के मुखर्जी।
3. विकास का समाज शास्त्र (विवेक प्रकाशन दिल्ली, 2001), जी0आर0 मदान।
4. ग्रामीण समाज शास्त्र (संजीव प्रकाशन मेरठ) आह0के0 रस्तोगी प्र0स0126, 154, 299।
5. भारतीय अर्थव्यवस्था (एस0 चन्द्र एण्ड क0लि0 नयी दिल्ली 110055) गौरव दत्त, अश्वनी महाजन।
6. सामाजिक शोध व सख्यिकी (विवेक प्रकाशन, दिल्ली 2009) आर0एन0 मुखर्जी,।

पत्रिकाएँ-

1. नीति मार्ग भोपाल 15 अक्टूबर 2012।
2. योजना (योजना भवन-दिल्ली) नवम्बर 2013।
3. योजना (योजना भवन-दिल्ली) जून 2013 प्र0स013।
4. कुरूक्षेत्र नवम्बर 2013।

भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर-भारतीय संगीत परम्परा

राय बहादुर सिंह

पीएच.डी. शोध-छात्र, एस.आर.एफ., संगीत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

किसी भी सभ्यता की समृद्धि का आंकलन उसकी संस्कृति के विशलेषण द्वारा किया जाता है और कलाएं संस्कृति की वाहक होती है। कलाओं में संगीत का स्थान निर्विवाद रूप से सर्वोपरि है। इतिहास के अवलोकन से पता चलता है कि विश्व की सभी सभ्यताओं में संगीत मौजूद रहा है। भारतीय संस्कृति का अध्ययन करते समय इसको संगीत से अलग करके नहीं देखा जा सकता। यहां ललित कलाओं में संगीत को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग, आधुनिक भारतीय संगीत परम्परा जो आज हमारे समक्ष एक सुदृंढ एवं परिष्कृत रूप में विद्यमान है, कः प्रांरम्भ एवं विकास को समझने के लिए हमें मानव सभ्यता के विकास के पथ पर से चलकर आना होगा क्योंकि हमारी संगीत परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितना कि मानव सभ्यता का उपलब्ध इतिहास।

समाज शास्त्र के विचाराकों का मत है कि मानव जब जीवन की स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति से आशवस्त हुआ तो उसने आन्तरिक चिन्तन करना प्रांरम्भ किया। उसने प्राकृतिक सौन्दर्य को समझना और आत्मसात करना सीखा और मन के अन्तरिक्ष पर लम्बी उड़ाने भरते हुए साहित्य, संगीत, नाट्य, शिल्प और ना जाने ऐसी कितनी कलाओं का निर्माण कर डाला दूसरी ओर मानव सभ्यता में भाषा के उद्भव एवं विकास पर चर्चा करने वाले विचारकों में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रोफेसर आयान क्रास का मानना है कि भाषा का विकास भी आदि मनुष्य की सांगीतिक क्षमता से ही हुआ। यह तथ्य हैरानीजनक लेकिन सम्भावना पूर्ण है।

वास्तव में अति प्राचीन काल का इतिहास या ऐतिहासिक काल से पूर्व का समय, जिसे हम प्रागैतिहासिक काल के नाम से जानते हैं, का कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस काल की सामाजिक व्यवस्था, रहन-सहन और कला संस्कृति के बारे में विद्वानों ने जो विचार दिए हैं वह या तो खुदाई से प्राप्त चिन्हों पर आधारित हैं, या विकास के विभिन्न सिद्धान्तों की परिकल्पना पर। इन्हीं सिद्धान्तों को आधार बनाकर भारतीय संगीत परम्परा के उद्भव एवं विकास का मार्ग भी ढूंढा जा सकता है।

विश्व के इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्वानों के अनुसार भारत भूमि विश्व की प्राचीनतम् सभ्यताओं की आश्रयदाता रही है। सिन्धु घाटी सभ्यता, जिसका आरम्भिक काल लगभग 7 हजार ई. पूर्व (पूर्व पाषाण काल) माना जाता है, की खुदाई से कुछ ऐसे चिन्ह मिले हैं जिनसे भारतीय भू-भाग के संगीत की परम्परा की जड़ें ढूंढी जा सकती हैं। यह चिन्ह हैं-नृत्य मुद्रा में लड़की की कांस्य की मूर्ति, कुछ तन्त्री वाद्य, ताल वाद्य और सात छिद्रों वाली वंशी इस काल की संगीत परम्परा एक समृद्ध रूप में विद्यमान रही होगी तभी इतने प्रकार के वाद्य यन्त्र अस्तित्व में आए, ऐसा मानना अनुचित न होगा। वहीं वंशी में सात छिद्रों की मौजूदगी इस बात कि ओर इंगित करती है की भारतीय संगीत के उद्भव के बारे में उपलब्ध इतिहास पर पुनः चिन्तन की आवश्यकता है। उपलब्ध इतिहास के अनुसार हम भारतीय संगीत का प्रारम्भिक काल वैदिक काल को मानते हैं वेदों में प्राप्त उल्लेखों में मन्त्रोच्चारण पहले एक स्वर युक्त, फिर दो और फिर तीन स्वर युक्त हुआ जिसे आर्चिक, गाथिक व सामिक कहा गया और स्वरों को उदात्त, अनुदात और स्वरित की संज्ञा दी गई। बाद में यह स्वरों की संख्या विकास के साथ सात हो गई। संगीत एवं स्वरों की उत्पत्ति जहां एक ओर एक से सात के विकास का संकेत देती है वहीं संगीत के उद्भव के सम्बन्ध में विभिन्न

धार्मिक मत भी प्रचलित हैं यथा दामोदर पंडित के अनुसार संगीत की उतपत्ति ब्रह्मा जी से हुई और उन्हीं के द्वारा भरत, शिव आदि से हस्तांतरित होता हुआ संगीत भूलोक तक पहुंचा। इन्हीं दामोदर पंडित ने सात स्वरों की उत्पत्ति विभिन्न पशु पक्षियों से मानी है इसी तरह और भी अनेक धारणाएं है जिनका वर्णन यहां करना उचित न होगा।

शोध के धर्मानुसार उपरोक्त धारणाओं, परिकल्पनाओं एवं व्यवहारिक विकास के सिद्धान्त; दोनों धाराओं का विश्लेषण जरूरी है। उपरोक्त वर्णनानुसार दार्शनिक मत धार्मिकता का पुट लिए हुए हैं वहीं व्यवहारिक विकास का सिद्धान्त इस बात को मानने के लिए वाध्य करता है कि भारतीय संगीत की परम्परा का जो उपलब्ध शास्त्र वेदों में मिलता है वह भी वर्षों पुरानी परम्परा का परिणाम रहा होगा। शास्त्रीय संगीत की विचारक प्रोफेसर (सुश्री) इन्द्राणी चक्रवर्ती के अनुसार 'प्रयोग के गहन अध्ययन का फल ही सिद्धान्त होता है'। यानि कला जब एक समृद्ध रूप को प्राप्त कर लेती है तो उसका शास्त्र बनता है जो कि भविष्य में उसको सीखने समझने में सहायक होता है। इन तथ्यों के वर्णन का उद्देश्य भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न करना नहीं बल्कि नवीन सम्भावनाओं पर प्रकाश डालना है। हां इस बात से कतई इनकार नहीं किया जा सकता कि वैदिक काल में संगीत विकास के पथ पर आग्रसर था। वैदिक काल के पशचात् भारतीय संगीत के विभिन्न पहलुओं पर भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र प्रकाश डालता है। भरत काल में भारतीय संगीत की परम्परा ने ग्राम, मूर्च्छना, जातिगान सहित एक विशाल परिपाटी का रूप ले लिया था। यहां प्रयोगात्मक पक्ष में भरत ने सारण जैसे वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा सूक्ष्म श्रुतियों को सिद्ध किया वहीं संगीत में रस, वर्ण, अलंकार, गीति और वाद्यों के प्रकार, बृन्द के वर्णन और गायकों के गुण दोष सहित संगीत के सिद्धान्त को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया।

भरत की संगीत परम्परा में समयानुसार परिवर्तन हुए। जाति गान ने राग का रूप ले लिया। क्रियात्मक और सैद्धान्तिक दोनों पक्षों में परिवर्तनों को अपनाते हुए संगीत परम्परा का प्रवाह चलता रहा। मध्य काल मे विदेशी संस्कृति और संगीत का भारत वर्ष में आगमन हुआ और संगीत के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों में परिवर्तन हुए। कुछ पुरानी धारणाओं का अप्रचलन हुआ और सुविधा अनुसार नई धारणाएं अस्तित्व में आई जिनमें मूर्च्छना प्रयोग द्वारा विभिन्न स्वरावलियों की प्राप्ति की जगह शुद्ध और विकृत स्वरों को एक ही सप्तक में मान्यता मिल गई। इसी के साथ उत्तर और दक्षिण में संगीत की दो अलग-अलग धाराओं का प्रवाह बहने लगा। गीतियों से प्रबन्ध गान, प्रबन्ध गान के बाद ध्रुपद और फिर ख्याल आदि शैलियों का प्रचलन हुआ। राग परम्परा का विकास हुआ तो इसको व्यवस्थित रूप में सीखने व समझने के लिए विभिन्न वर्गीकरण प्रणालियों का भी प्रचलन हुआ। मध्य कालीन राग-रागिनी वर्गीकरण में रागों को पुरूष, स्त्री, पुत्र, पुत्रवधु आदि श्रेणियों में बांटकर सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप वर्गीकृत किया गया । बेशक इतिहास के विश्लेषकों द्वारा इस वर्गीकरण को अवैज्ञानिक करार दिया गया हो फिर भी यह वर्गीकरण पद्धति तत्कालीन समाज और संगीत के घनिष्ठ सम्बन्ध की द्योतक है। संगीत परम्परा ने आगे चलकर इतना विशाल रूप ग्रहण कर लिया कि इसकी अलग-अलग धाराएं बहने लगी जो कभी बानी और कभी घराना कहलाई। सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तनों के चलते मध्य काल के अन्तिम भाग में भारतीय संगीत परम्परा को संकटमयी स्थितियों से होकर गुजरना पड़ा फिर भी घराना परम्परा ने इसको जीवित रखा और स्थितियां अनुकूल होते ही संगीत परम्परा का यह प्रवाह फिर कल-कल कर बहने लगा।

आधुनिक युग में भारतीय संगीत की परम्परा घरानों के साथ-साथ विद्यालयीन स्तर पर भी शामिल हुई और विष्णु द्वय (पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे और पंडित विष्णु दिगम्बर पलुसकर) के प्रयत्नों द्वारा सर्वजन सुलभ हुई। स्वतन्त्र भारत में स्नातक, स्नातकोत्तर और पीएच.डी. स्तर की उपाधियों सहित सर्वोच्च नागरिक सम्मान भी भारतीय संगीत की झोली में पड़े। आज यह परंपरा वैज्ञानिक तकनीक के लाभों को आतमसात् करते हुए वैज्ञानिक युग में विकास के पथ पर अग्रसर है।

जैसे कोई नदी एक विशाल झील से आरम्भ होकर विभिन्न पर्वत व मैदानों आदि से गुजरती हुई अन्तिम चरण में अनेक शाखाओं में बंटकर समुद्र में समा जाती है वैसे ही भारतीय संगीत की यह परम्परा भी सभ्यता के अनन्तकाल से प्रवाहित होकर कालक्रम में विभिन्न परिवर्तनों को अपनाते हुए आज भी जनसमूह के मन-मस्तिष्क में समा रही है।

18-Back Side K

इंटरनेट का संस्कृति और युवा पर पड़ रहा प्रभाव

अभिषेक मिश्र

शोध छात्र, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग,

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट, सतना, मध्य प्रदेश

परिचय :-

भारत की संस्कृति कई चीजों को मिला जुलाकर बनती है। जिसमें भारत का लम्बा इतिहास, विलक्षण भूगोल और सिन्धु घाटी की सभ्यता के दौरान बनी और आगे चलकर वैदिक युग में विकसित हुई, बौद्ध धर्म एवं स्वर्ण युग की शुरुआत और उसके अस्तगमन के साथ फली फूली अपनी खुद की प्राचीन विरासत शामिल हैं। इसके साथ ही पडोसी देशों के रिवाज, परम्पराओं और विचारों का भी इसमें समावेश है। पिछले पाँच सहस्राब्दियों से अधिक समय से भारत के रीति रिवाज, भाषाएं, प्रथाएं और परंपराएं इसकी एक दूसरे से परस्पर संबंधों में महान विविधताओं का एक अद्वितीय उदाहरण देती हैं। भारत कई धार्मिक प्रणाली जैसे की हिन्दू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म और सिख धर्म जैसे धर्मों की जननी है। इस मिश्रण से भारत में उत्पन्न हुए विभिन्न धर्म और परम्पराओं ने विश्व के अलग-अलग हिस्सों को भी काफी प्रभावित किया है और खुद भी प्रभावित हुआ है।

इंटरनेट : इंटरनेट जनसंचार का सबसे नया माध्यम है, जो तेजी से लोकप्रिय हो रहा माध्यम है। यह एक ऐसा माध्यम जिसमें प्रिंट मीडिया, रेडियो, टेलीविजन, किताब, सिनेमा यहाँ तक कि पुस्तकालय के भी सारे गुण मौजूद हैं, इसकी पहुँच दुनिया के कोने-कोने तक है और इसकी रफ्तार का कोई जवाब नहीं है यह सारे माध्यमों का समागम है।

यह एक अंतरक्रियात्मक माध्यम है अर्थात आप इसमें मूक दर्शक नहीं हैं। आप सवाल-जवाब, बहस में भाग लेते हैं, आप चैट कर सकते हैं और मन हो तो अपना ब्लाग या किसी सोशल साइट पर अपना एकाउन्ट बनाकर किसी से बहस के सूत्रधार बन सकते हैं। इंटरनेट ने हमें मीडिया समागम यानी कंवर्जेंस के युग में पहुंचा दिया है और संचार की नयी सम्भावनाएं जगा दी हैं।

इंटरनेट एक दूसरे से जुड़े संगणकों का एक विशाल विश्वव्यापी नेटर्वक या जाल है। इसमें कई संगठन, विश्वविद्यालयों, आदि के सरकारी और निजी कम्प्यूटर जुड़े हुए हैं। इंटरनेट से जुडे हुए कम्प्यूटर आपस मे इंटरनेट नियमावली (en:Internet Protocol) के जरिए सूचना का आदान-प्रदान करते हैं। इंटरनेट के जरिए मिलने वाली सूचना और सेवाओं में इंटरनेट पृष्ठ, मेल और बातचीत सेवा प्रमुख है। इनके साथ-साथ चलचित्र, संगीत, विडियो के इलेक्ट्रनिक स्वरूप का आदान-प्रदान भी इंटरनेट के जरिए होता है।

भारत में इंटरनेट 80 के दशक मे आया, जब ईनेट (Educational & Research Network) को सरकार, इलेक्ट्रानिक्स विभाग और संयुक्त राष्ट्र उन्नति कार्यक्रम (UNDP) की ओर से प्रोत्साहन मिला। सामान्य उपयोग के लिये जाल 15 अगस्त 1995 से उपलब्ध हुआ, जब विदेश सचांर निगम सीमित (VSNL) ने गेटवे सर्विस शुरू की। भारत मे इंटरनेट यूर्जस की संख्या में तेजी से इजाफा हुआ है। यहां 121 मिलियन लोगों तक इंटरनेट की पहुंच हो चुकी है, जो कि कुल जनसंख्या का करीब 10 फीसदी है। दुनिया के सभी इंटरनेट यूर्जस देश में

भारत कर हिस्सा 3 फीसदी है।

युवा : आक्सफोर्ड डिक्सनरी के अनुसार युवा का मतलब

- [in singular] the period between childhood and adult age:
- [mass noun] the qualities of vigor, freshness, or immaturity as associated with being young

विकीपीडिया के अनुसार Youth is generally the time of life between childhood and adulthood (maturity Definitions of the specific age range that constitutes youth vary. An individual™s actual maturity may not correspond to their chronological age, as immature individuals can exist at all ages. *Youth* is also defined as "the appearance, freshness, vigor, spirit, etc., characteristic of one who is young" *Youth* is a term used for people of both sexes, male and female, of a young age.

युवाओं का इंटरनेट से बहुत ही घनिष्ठ संबंध है। यह युवाओं के लाइफ स्टाइल तथा उनकी सोच में बदलाव और विकास में अहम भूमिका निभाता है। यह सूचनाओं के एक बहुत बड़े स्त्रोत के तौर पर काम करता है। वही यह बहुत बार बहुत सारी सूचनाओं को उपलब्ध करा कर युवओं को भ्रमित कर देता है, जिससे वह सही गलत का निर्णय नहीं ले पाते हैं।

इंटरनेट का बहुत ज्यादा सहारा लने वाले युवा अपने दिमाग की तर्क और याद करने की क्षमता को बहुत कम कर देते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इंटरनेट पर हर तरह की सूचनाएं उपलब्ध हैं, जिस कारण वह दिमाग पर जोर देने की बजाए सूचनाएं इंटरनेट से लेना अधिक ठीक समझते हैं। जिससे उनकी अपनी कोई सोच नहीं रह जाती है तथा क्रिएटिविटी भी खत्म हो जाती है।

इंटरनेट तमाम खतरों का स्त्रोत होने के बाद भी युवाओं के लिए फायदेमंद है। यह युवाओं को एक प्रकार का ऐसा प्लेटफार्म देता है, जिसकी मदद से आज का युवा अपनी सामजिक, आर्थिक, शैक्षिक और शारिरिक विकास कर सकता है। यह तमाम पारम्पिरिक तरीकों से अधिक प्रभावशाली है। इंटरनेट आज के समय में युवा के पास एक हथियार की तरह से है। चाहे तो वह इसे अपने विकास और सुरक्षा के लिए प्रयोग करे और चाहे तो वह इसकी मदद से सामाज में अराजकात फैलो दे और घर बैठे एक अपराधी बन जाए। आज सूचना के दौर में इंटरनेट कुछ मामलों में न्युक्लियर हथियारों से भी खतरनाक हथियार है, यू कहें कि इनफारमेशन डिवाइसेज आज के नए हथियार है और सेटेलाइट आर्टिलरी है। क्यों कि सारे न्युक्लियर हथियार भी इन्हीं माध्यमों से संचालित होते हैं।

अध्ययन प्रविधि :- प्रस्तुत अध्ययन के लिए शोधकर्ता ने बीबीसी हिन्दी के वेब संस्करण पर जारी किए गए इंटरनेट उसके खतरे और प्रभाव से संबधित 1 जनवरी से 31 दिसंबंर 2013 की खबरें, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित रिर्पोट भारत 2013, को मुख्य स्त्रोत के रूप में शामिल किया है। शोध कार्य के लिए सविचार निदर्शन अथवा उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि का प्रयोग किया गया है।

अध्ययन का उद्देश्य : -इंटरनेट पर प्रतिबंध रहित सूचनाओं के प्रवाह के कारण युवा और संस्कृति पर पड़ रहे प्रभावों का अध्ययन।

परिणाम और विश्लेषण :-इंटरनेट का भारतीय युवा के जीवन शैली उसके रहन-सहन उसके सोचने के तरीके, उसके काम करने के तरीके, विवाह के तरीके, दोस्त बनाने के तरीके, भोजन करने के तरीके, जीवन साथी के चयन करने के तरीके सभी पर प्रभाव पड़ा है।

अपराध और इंटरनेट : भारत में 17 करोड़ से ज्यादा इंटरनेट यूजर हैं और प्रतिदिन ये आंकड़ा बढ़ रहा है। कंप्यूटर और मोबाइल के जरिए इंटरनेट तेजी से हमारे घरों में घुस रहा है, लेकिन तेजी से पैर पसारते इंटरनेट ने एक गंभीर खतरे को भी जन्म दिया है। इसमें पोर्नोग्राफी का निर्माण और प्रसार एक बडी समस्या है।

हर पांचवां बच्चा दुर्व्यवहार का शिकार : बच्चों के लिए काम करने वाली ब्रिटेन की संस्था नेशनल सोसायटी फार द प्रिवेंशन आफ क्रूएल्टी टू चिल्ड्रन के अनुसार बच्चों को इंटरनेट पर सबसे

18-Front Side K

ज्यादा बुलिंग, अवांछित यौन संदेशों का सामना करना पड़ता है। फेसबुक और ट्विटर जैसी सोशल नेटवर्किंग वेबसाइटों का इस्तेमाल करने वाले पांच में से एक बच्चे को पिछले साल इंटरनेट पर दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ा है।

मनोवैज्ञानिक प्रभाव : बीबीसी की एक रिपोर्ट के अनुसार अगर बच्चों को कच्ची उम्र में ही इंटरनेट पर हिंसक पोर्नोग्राफी देखने को मिले तो इससे सेक्स को लेकर उनके मन में एक वि त नजरिया उभरने लगता है।

सकारात्मक पहल : भारत तीसरा सबसे बड़ा इंटरनेट यूजर है और संस्था का मानना है कि इस तेज प्रसार का सीधा असर बाल यौन शोषण और पोर्नोग्राफी के प्रयोग और प्रसार पर पड़ता है। डीआईएससी और सीएमएआई जैसी संस्थाओं का मानना है कि नए आईटी कानून में ऐसे अपराध के खिलाफ कड़े प्रावधान हैं, लेकिन इनको सुचारू ढंग से लागू किए जाने की जरूरत है। प्रमुख सर्च इंजन गूगल और माइक्रोसाफ्ट इंटरनेट पर बच्चों की अश्लील तस्वीरों की खोज को और कठिन बनाने के उपाय करने पर सहमत हो गया है। इंटरनेट पर अश्लील तस्वीरों की खोज के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले एक लाख से अधिक शब्दों पर अब कोई परिणाम नहीं आएगा। इसके साथ ही बच्चों की अश्लील तस्वीरों को गैर कानूनी बताने वाला एक संदेश भी दिखाई देगा।

निष्कर्ष

- शोध अवधि में बीबीसी के वेब पेज पर प्रकाशित खबरों तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इंटरनेट के कारण आज हमारे संस्कृतिक ढाचे में बहुत ज्यादा बदलाव, बहुत तेजी से आया है। आज युवा के सामने बहुत सारी सूचनाएं तो हैं पर वह भ्रमित है कि कौन सी सही हैं और कौन सी गलत है। जब कि पहले हमारे पास भले ही कम सूचनाएं रही हो पर सही गलत का पता आसानी से लगाया जा सकता था।
- आज के समय युवा के पास बिना किसी फिल्टर के हर तरह की सूचना प्राप्त हो रही है, जिसका उसके मन पर बहुत ही बुरा असर पड रहा है।
- हमारी संस्कृति में इतना बदलाव कभी नहीं आया था, जितना पिछले कुछ सालों में इंटरनेट के करण आया है। यह धनात्मक और ऋणात्मक दोनों ही है।
- बीबीसी की खबरों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि इंटरनेट पर सेक्स से संबंधित चित्र और फिल्में बहुत आसानी से उपलब्ध है। जो युवा के बाल मन पर बहुत ही बुरा असर डाल रही हैं। तथा अनेक मनोवैज्ञानिक विकितियां पैदा कर रही हैं। इससे लड़ने के लिए आज हर एक माता-पिता को तैयार रहने की जरूरत है।
- बीबीसी की खबरों के आधार पर हम कह सकते हैं कि आज के समय इंटरनेट के बिना आधुनिक समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।
- शोध के दौरान प्राप्त डाटा को देख के यह कहा जा सकता है कि इंटरनेट से हमारी संस्कृति पर कुछ आघात तो पहुंचे हैं पर इसकी मदद से संस्कृति का प्रसार भी खूब हुआ है।

संदर्भ -

01. Rice, B.L. (2001) [1897]. *Mysore Gazatteer Compiled for Government-vol 1*. New Delhi, Madras: Asian Educational Services. आई एस बी एन 81-206-0977-8।
02. पवन के. वर्माबीइंग इंडियनरू इनसाइड द रियल इंडिया.(आई एस बी एन 0-434-01391-9)
03. मार्क टल्ली, भारत में पूर्ण रोक नहीं है (आई एस बी एन 0-14-101080-1)
04. मंजरी उईल , भारतीय संस्कृति पर विदेशी प्रभाव (ब.600 ई.पू. 320 ईस्वी तक), (आई एस बी एन 81-88629-60-एक्स)
05. http://www.bbc.co.uk/hindi/india/
06. http://hi.wikipedia.org/wiki/Special:Search?search=&go=Go

समाज एवं संस्कृति का दर्पण 'संगीत'

गरिमा गुप्ता

शोध छात्र

वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संगीत समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध है। साधारण अर्थ में समाज शब्द का प्रयोग व्यक्ति समूह के लिए किया जाता है। 'मैकायिवर' तथा 'पेज' की परिभाषा समाज की व्याख्या के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टिकोण रखती है। उनके अनुसार समाज प्रथाओं तथा कार्य प्रणालियों, अनेक समूहों एवं विभाजनों की अधिकार सभा और पारस्परिक सहायता तथा मानव व्यवहार के नियंत्रणों और स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है। इस निरंतर जटिल एवं परिवर्तनशील व्यवस्था को हम 'समाज' कहते हैं। समाजिक संबंधों का यह एक जाल है और सदा बदलता रहता है। हर विद्वान् ने अपने-अपने अनुसार समाज को परिभाषित किया है। कुछ के अनुसार व्यक्तियों के समूह को समाज कहते है, कुछ व्यक्तियों के आपसी संबंधी की व्यवस्था को समाज कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि "समाज से तात्पर्य व्यक्तियों के उस समूह से है जो किसी निश्चित देश में रहता हो तथा जिसकी अपनी निश्चित संस्कृति हो।" परन्तु निष्कर्ष यही निकलता है कि समाज एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत मनुष्यों के व्यवहार, गतियों, कार्यों तथा प्रवृत्तियों आदि का अनेक प्रकार से मार्गदर्शन एवं नियंत्रण किया जाता है तथा साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है। समाज द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है तथा समाज के बिना व्यक्ति पशु ही रहता है। समाज के माध्यम से ही व्यक्ति की सभ्यता एवं संस्कृति झलकती है।

नाद संगीत का आधार है तथा नाद इतना सूक्ष्म एवं व्यापक है कि इस सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है तो फिर समाज संगीत से अछूता कैसे रह सकता है। संगीत तो मानव के जन्म के साथ ही उसका साथी तथा अभिन्न अंग रहा है। इसका प्रमाण प्राचीन साहित्य, कला-कृतियों आदि से स्पष्ट मिलता है। संगीत का समाज में व्यक्ति के साथ स्वतः ही प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के साथ-साथ संगीत का भी समाज के साथ घनिष्ठ एवं अटूट सम्बन्ध है।

"किसी भी देश या भू-खण्ड पर रहने वाली मानव जाति द्वारा प्रयोग में लाई गई दर्शन, धर्म, संस्कार, सभ्यता कला, भाषा, वस्त्र व जीवन दर्शन ही उसकी संस्कृति कहलाती है।" 'संस्कृति' शब्द मूल रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है। 'संस्कृति' में दो शब्द है- 'सम' 'कृति'। इस शब्द का मूल 'क' धातु में है- जिसका अर्थ क्रिया है। इस दृष्टिकोण से संस्कृति का शाब्दिक अर्थ- सम प्रकार अथवा भली प्रकार किया जाने वाला व्यवहार या क्रिया है। यह परिष्कृत अथवा पारिमार्जित करने के भाव का सूचक है। संस्कृति शब्द एक अर्थ 'संस्कार' से जोड़ा जाता है।

भारतीय संस्कृति में प्राचीन समय से ही धर्म को एक ऊँचा तथा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अतः मानव जीवन में भी धार्मिकता का प्राधान्य रहा है। यही कारण है कि संगीत का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। संगीत की उत्पत्ति सरस्वती, नारद आदि

देवी-देवताओं के द्वारा मानी जाने के कारण प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान संगीत द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। इसलिए भारत के प्रत्येक धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रयोजनों में प्रयोग किया जाने वाला संगीत शास्त्रीय संगीत से जुड़ा हुआ है।

हमारी संस्कृति में आर्यो से लेकर अंग्रेजों तक भारत में आने वाली अनेक जातियों के सम्मिश्रण की झलक दिखाई पड़ती है। इस सभी विभिन्न जातियों का प्रभाव भारत के धर्म, विचारों, रीति-रिवाजों, पोशाकों एवं कलाओं पर पड़ा। इस प्रभाव का मुख्य कारण हमारी संस्कृति में कट्टरता का न होना तथा विभिन्नताओं को आत्मसात् करने के गुण की महानता का होना है। भारतीय संगीत भी संस्कृति के इन्हीं के आदर्शों का प्रतिरूप है। विभिन्न जातियों, रीति-रिवाजों, प्रथाओं तथा समय के प्रभाव का समन्वय भारतीय संगीत में स्पष्ट रूप से दिखाई देता हैं।

भारतीय संस्कृति धर्म के क्षेत्र में कभी कभार नहीं रही। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार धर्म तथा आस्थाओं को मानने की स्वतन्त्रता रही है। हर व्यक्ति को विचार-स्वातन्त्र्य भी मिलता रहा है। इसी प्रकार संगीत भी किसी एक जाति व धर्म की धरोहर नहीं रहा। संगीत के महान् गायक व वादक मुसलमान भी हैं और हिन्दू भी तथा हर जाति व धर्म का संगीत में बराबर का स्थान रहा है। शरीर की नश्वरता तथा आत्मा के अमर होने का विश्वास हिन्दू धर्म में मान्य है। इसलिए हिन्दू संस्कृति में मोक्ष प्राप्ति का साधन धर्म है। संगीत में भी नादब्रह्म की उपासना ईश्वरीय उपासना का माध्यम है। भारतीय संस्कृति में विश्वबन्धुत्व की भावना को मान्यता दी गई है। भारतीय संगीत का उद्देश्य भी मानव को कल्याण के मार्ग पर ले जाना है। लोक कलाएं किसी भी संस्कृति के रूप को प्रकट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। संगीत कला विभिन्न देशों की संस्कृति का आदान-प्रदान करने का प्रभावपूर्ण माध्यम है।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि वह धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक तथा सैद्धान्तिक विभिन्नताओं को समेटते हुए मूल रूप से एकरूप होकर संस्कृति का निर्माण करती रही है। भारतीय संस्कृति की तरह भारतीय संगीत में भी अनेकता में एकता के दर्शन होते रहे हैं। संस्कृति के उत्थान व पतन के परिणामस्वरूप संगीत के स्वरूप में भी उतार-चढ़ाव होता रहता है।

अतः यह स्पष्ट है कि संस्कृति में निहित सभी विशेषताओं व आदर्शों का संगीत में भी पालन होता हैं। भारत की संस्कृति की आधारशिला हमारे देश का साहित्य एवं कला है। वैसे तो कलाएं अनेक हैं परन्तु नृत्य एवं संगीत का रूप जो मोहनजोदड़ो की गुफाओं पर अंकित मुद्राओं में देखने को मिलता है उससे भारतीय संस्कृति का आदर्श व रूप परिलक्षित होता है।

संगीत के प्राचीन काल से लेकर अब तक के विकास से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संगीत में दूसरी कलाओं के गुणों को अपनाने की एक प्रबल शक्ति है, क्योंकि वह समाज कल्याण की भूमिका का निर्वाह पूर्ण रूप से करती है। वर्तमान समय में संगीत के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। आज संगीत मनोरंजन के साथ-साथ प्रसिद्धी पाने, धन अर्जित करने तथा समाज कल्याण का सरल और सरस माध्यम है। प्रारम्भ से ही संगीत हमारे समाज के विकास व उन्नति का एक सम्बल रहा है। यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि संगीत के साथ ही हमारे दिन का आरम्भ होता है। विभिन्न प्रकार से की गयी ईश् वन्दना में अनेक रागों की धुनों का समावेश होता है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की थकान दूर करने में, विभिन्न उत्सवों तथा त्योहारों पर, विभिन्न संस्कारों पर, युद्ध के समय, अवकाश के समय, सुख-दुःख आदि, प्रत्येक अवसर पर संगीत प्रत्येक क्षण हर प्रकार से हमारे समाज में विद्यमान रहता है। समाज को नयी दिशा देने के सन्दर्भ में संगीत व जीवन का अटूट सम्बन्ध है। संगीत का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश है। कोई भी काल, कोई भी समय, स्थान, कोई भी क्षेत्र, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय, इलेक्ट्रिनिक मीडिया, यहाँ तक कि कम्प्यूटर विज्ञान तक में संगीत की सार्वभौमिक, सर्वव्यापी भूमिका उल्लेखनीय है।

संस्कृति समाज का दर्पण होती है तथा समस्त कलाएं संस्कृति का दर्पण है। संगीत की गणना

ललित कलाओं में की जाती है। अतः उसमें संस्कृति की झांकी, एकरूपता, सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं और परम्पराओं तथा आध्यात्मिक आदर्शों का निहित रहना स्वाभाविक ही है। भारतीय संस्कृति विभिन्न जातियों के संघर्ष तथा समय-समय पर होने वाले अनेक राजनैतिक एवं सामाजिक संघर्षों के बावजूद अपने में कुछ ऐसे मूलभूत आदर्श समेटे हुए हैं जिसमें आज तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इन्हीं विशेषताओं, धारणाओं और आदर्शों का पालन संगीत कला में भी होता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि संगीत हमारे समाज के लिए एक ज्योति स्वरूप है। संगीत समाज में उदात्त गुणों को विकसित करता है। स्पष्ट है कि समाज के स्वस्थ विकास में संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। संगीत राष्ट्र की अमूल्य धरोहर सभ्यता एवं संस्कृति को स्थिर रखती है। संगीत सभ्यता और संस्कृति को संरक्षण प्रदान करता है। अनेक वर्षों से पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही परम्पराओं के रूप में प्राप्त संगीत हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं की अमूल्य धरोहर है क्योंकि इसी के माध्यम से ही अपनी-अपनी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान होता है और इसी के माध्यम से हम अपनी इस अमूल्य धरोहर को आगे आने वाली पीढ़ियों को उपलब्ध करवाते है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति की विश्व में एक विशिष्ट पहचान बनाने वाला घटक भारतीय संगीत ही है जो विविधता व प्राचीन गौरवशाली परम्परा को संजोये रखने के कारण आज तक समृद्ध है और समृद्ध होता जा रहा है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं संगीत- अंजलि मित्तल
2. भारतीय संगीत का इतिहास- ठाकुर जयदेव सिंह
3. शास्त्रीय संगीत का विकास- अमिता शर्मा
4. भारतीय कला का अध्ययन- निहार रंजन
5. संगीत लेख माला- संतोष कुमार

K